भारत के
महान साधक
प्रमथनाथ भट्टाचार्य

भारत के
महान साधक

भारत के महान साधक

सप्तम खंड

प्रमथनाथ भट्टाचार्य्य

नव भारत प्रकाशन

प्रथम प्रकाशन :
दिसम्बर, 1983

अनुवादक :
प्रो० डॉ० रमाकान्त पाठक
श्री जगदीश्वर प्रसाद सिंह

प्रकाशक :
निर्भय राघव मिश्र
नव भारत प्रकाशन
पो०-लहेरियासराय
दरभंगा (बिहार)

मुद्रक :
ल० ना० मिथिला विश्वविद्यालय प्रेस,
कामेश्वरनगर, दरभंगा ।

मूल्य :
पचीस रुपये मात्र

समर्पण

जीवन के शेष काल में—क्या पाया है इसका अंक जोड़ने लगता हूँ तो हाथ में कुछ मित्रों का निःस्वार्थ प्रेम ही रह जाता है। इनमें भगवत दयाल का विशिष्ट स्थान है। प्रेम लगाना सहज है परन्तु, जीवन के चढ़ाव-उतराव में इसका निर्वाह करना अत्यन्त कठिन है। आज से चालिस वर्ष पहले हिन्दू विश्वविद्यालय से क्रान्ति की आग लेकर भगवत दयाल मेरे जीवन में आये और आज भी उनका स्नेह प्रथम मिलन के जैसा ही उन्मादकारी है।

मैं जगन्नियंता जगन्नाथ देव के विश्व में प्रकाश फैलने की व्याकुल हृदय से प्रतीक्षा कर रहा हूँ। मानव उद्दाम भोग-लालसा से व्याकुल होकर अपने सर्वनाश का पथ तैयार कर रहा है। व्याकुल अन्तर प्रभु-अवतरण की प्रतीक्षा में जीवन का सहारा ढूढ़ रहा है। भगवत दयाल का अकारण, सीमा विहीन उन्मत्त प्रेम की ज्वाला इस अन्धकार में खड़े रहने का सहारा देती है।

भगवत दयाल का प्रेम प्रभु का आशीर्वाद है। वे मुझसे वयस में छोटे हैं, परन्तु, प्रेम की दैवी ज्योति इतनी महान है कि इस प्रेम-रस से अन्तर को भरकर प्रेम स्वरूप जगन्नाथ देव की वन्दना कर साधकों के जीवन संग्रह का सप्तम खण्ड उसे स्नेह-सिंचित हृदयसे अर्पित कर रहा हूँ।

प्रेम-मूर्त्ति महात्मा ईसा के जन्म-दिवस पर मेरा यह समर्पण विश्व के लिए कल्याणकारी हो।

लहेरियासराय,
25 दिसम्बर, 1983

रामनन्दन

श्री भगवत दयाल शर्मा

राज्यपाल, मध्यप्रदेश

भूमिका

नव भारत प्रकाशन बहुत समय से सुन्दर साहित्य का प्रकाशन पूज्य श्रीरामनन्दन मिश्रजी की देख-रेख में कर रहा है। श्रीरामनन्दन मिश्रजी स्वयं महान क्रांतिकारी, चिंतक और साधक हैं। मुख्यतः इन्हीं की रचनाएँ या अनुवाद नव भारत प्रकाशन द्वारा प्रकाशित होती रही हैं।

भारत के महान साधक के ७वें खण्ड की भूमिका लिखने का श्रीमिश्रजी का आदेश मुझे हुआ है। इस खंड में श्री मध्वाचार्य, समर्थ गुरु रामदास, सनातन गोस्वामी, स्वामी एकनाथ, तिब्बती बाबा तथा श्री विजय कृष्ण गोस्वामी की जीवनियाँ संकलित हैं।

संसार में जितने धार्मिक संप्रदाय हैं, सबके मूल प्रवर्तक एक ही हैं। देश, काल तथा अधिकारी-भेद से भिन्न मार्ग प्रवृत्त हुए हैं। भारतवर्ष एक ऐसा देश है जिसकी अपनी स्वतंत्र संस्कृति है। भारतीय दर्शन परम्परा का इतिहास पूर्णरूप से आज भी प्राप्त नहीं हो रहा। इसलिए भारत के दार्शनिक और धार्मिक इतिहास का सही चित्र सामने नहीं आता। आधुनिक शिक्षा फैलती जा रही है। संस्कृति और धार्मिक संस्कार लुप्त होते जा रहे हैं। प्राचीन शिक्षा में आत्मविद्या, आचरण, विनयशीलता और कर्त्तव्य मुख्य अंग होते थे। इन्हीं मुद्दों को धर्म-गुरुओं, साधकों और महात्माओं ने अपने-अपने ढंग से जनसाधारण तक पहुँचाया। भारतीय संतों और साधकों के सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यों का पूरा विवेचन नहीं हुआ है। बाहरी आक्रमणकारियों के विरुद्ध साधकों और संतों ने उस समय के समाज में प्रचंड शक्ति का निर्माण किया। इन साधकों की कृपा से ही समाज में धार्मिकता जीवित रही। वेदान्तवादी, वैष्णव और शैव अखाड़े, नाथपंथ, कालमुख कापालिक, अघोर, सिख

गुरु, सूफी संत और भक्त तथा अन्य साधक भारत की धार्मिक तथा सांस्कृतिक एकता को बनाए रखने में सफल हुए हैं।

७वें खण्ड में जिन महान साधकों की जीवनियाँ संकलित हैं उनकी साधना के मार्ग चाहे भिन्न-भिन्न रहे हों, किन्तु ध्येय एक ही था। ऐसे महात्माओं की जीवनियाँ प्रकाशित करके 'नव भारत प्रकाशन' भारतीय संस्कृति की बहुत बड़ी सेवा कर रहा है। आज का युवक-समाज मार्ग से भटक गया है। उनके लिए ऐसी जीवनियाँ आकाश-दीप का कार्य करेंगी। ये सिद्ध पुरुष अत्यंत तेजोमय अध्यात्म जगत के सितारे हैं। इन्होंने हरिनाम का प्रचार करके जन मानस को धर्म से विमुख होने नहीं दिया। इस कलि-काल में हरि-कीर्तन की बड़ी महिमा है। खाली नाम के सहारे ही भवसागर पार हो सकता है, बशर्ते उस पर विश्वास हो।

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥"

जन्माष्टमी,
३१ अगस्त, १९८३
राज भवन, भोपाल

भगवत दयाल शर्मा
(राज्यपाल, मध्यप्रदेश)

प्रकाशकीय

भारत के महान साधक के सातवें खंड को प्रकाशित करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है।

भारत के महान साधक के मूल लेखक स्व० श्री प्रमथनाथ भट्टाचार्य लेखक, साधक तथा अन्वेषक–तीनों एक साथ थे। उन्होंने लगातार १५ वर्षों का बहुमूल्य समय महापुरुषों की जीवनियों के संग्रह में लगाया। बंगला भाषा में इस ग्रन्थ का अपूर्व स्वागत हुआ है। बंगला भाषा में इस ग्रन्थ के लेखक स्व० प्रमथनाथ भट्टाचार्य अपने उपनाम शंकरनाथ राय के नाम से विख्यात हैं।

सारे देश के सभी क्षेत्रों के महानुभावों से हमें हर तरह की सहायता मिली है। उनकी सहायता के बिना इसका प्रकाशन कभी सम्भव नहीं होता। इस अवसर पर उन सब महानुभावों के प्रति हम अपना आभार प्रकट करते हैं। हिन्दी में अनुवाद करने का कठिन कार्य आदरणीय प्रो० डॉ० रमाकान्त पाठक एवं श्री जगदीश्वर प्रसाद सिंह ने किया। इस कार्य के लिए हम उनके प्रति कृतज्ञ हैं।

अंत में हिन्दी जगत के सुधी, सत्यान्वेषी एवं अध्यात्म में रुचि रखने वाले पाठकों के समक्ष यह ग्रन्थ प्रस्तुत है जिन्हें ही इस ग्रंथ की महत्ता एवं उपादेयता के सम्बन्ध में निर्णय लेना है।

—निर्भय राघव मिश्र

विषय-सूची

आचार्य मध्व

आचार्य मध्व

भारत की आध्यात्मिक साधना एवं धर्म संस्कृति के इतिहास में दाक्षिणात्य का अवदान जितना ही विपुल है, उतना ही परम्परागत। ज्ञान, वर्ण एवं प्रेम-भक्ति की नाना प्रकार की साधना एवं दार्शनिक धाराएँ इस प्राचीन भूखण्ड से निकल कर सारे देश के दिग्दिगन्त में फैल गयी हैं।

दाक्षिणात्य में जहाँ अपने योगैश्वर्य संपन्न शैवसाधक तथा प्रेमभक्ति सिद्ध आडवार गोष्ठी प्रदान की है, वहीं शंकर जैसे अद्वैतवाद के श्रेष्ठ आचार्यों को भी प्रदान किया है। रामानुज, मध्व, विष्णु स्वामी, निम्बार्क विधारण्य, ज्ञानदेव, तुकाराम इत्यादि, सिद्धसाधक एवं धार्मिक नेताओं का यहाँ एक के बाद एक अभ्युदय घटित हुआ है।

तेरहवीं सदी में आचार्य मध्व का आविर्भाव मात्र दक्षिण भारत ही नहीं वरन् समग्र देश के लिए एक अविस्मरणीय घटना है। ब्रह्म-सूत्र की भक्तिबादी व्याख्या के माध्यम से उन्होंने एक नवीन द्वैतवादी दर्शन का प्रचार किया है। उनकी नैष्ठिक वैष्णवीय साधना, भावमय प्रेरणा एवं संगठन शक्ति ने भक्ति आन्दोलन को एक नवीन प्राण स्पन्दन से परिपूर्ण कर डाला है। भारतीय जन-जीवन में आचार्य मध्व भक्तिवादी चतुःसम्प्रदाय में श्रेष्ठतम ब्रह्मसम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में परिचित हो गये हैं। उनके द्वारा प्रचारित तत्त्व एवं धर्मादर्श ने गौड़ीय वैष्णव एवं वल्लभाचारियों के मतवाद को काफ़ी हद तक प्रभावित किया है, इस बात को भी स्वीकार करना ही पड़ेगा।

मध्व का आविर्भाव ११९९ ई० में हुआ था ।[१] भारत के दक्षिण-पश्चिमी तट के पास बेले ग्राम के पाजका क्षेत्र उनकी जन्मभूमि है । उन दिनों यह अंचल तुलुब देश के अन्तर्गत था । आज के धारवाड़ जिला, उत्तर एवं दक्षिण कनारा तथा महीशुर राज्य के पश्चिमी अंश को मिलाकर त्रयोदश शतक के तुलुब राज्य का गठन हुआ था । आज भी इसका एक अंश तुलुब नाम से हो संबोधित होता है । शंकर का जन्मस्थान शृंगेरी तथा मंगलोर की दूरी, मध्व के जन्मस्थान से चालीस मील से अधिक नहीं होगी ।

पाजका से तीन कोस की दूरी पर, सागर द्वारा प्रक्षालित पवित्र तीर्थ उडुपी स्थित है ।[२] यहाँ शेषशायी अनंतेश्वर विष्णु एवं चंद्रमौलीश्वर शिव, इन दोनों जाग्रत विग्रहों के मंदिर अवस्थित हैं । देश के विभिन्न क्षेत्रों से नर-नारी यहाँ एकत्रित होते हैं तथा स्नान, तर्पण एवं पूजा शेष करके अपने स्थान को वापस चले जाते हैं । विष्णु एवं शिव भक्तों का यह मिलन स्थल उत्तर-काल में आचार्य मध्व के साधन-पीठ एवं लीला-केन्द्र के रूप में परिचित हो गया । भक्ति-साधना की एक नूतन धारा उनके माध्यम से, इसी स्थान से फूट पड़ी थी । उनके उत्तराधिकारी एवं भक्त शिष्यों की स्मृति भी इस पवित्र तीर्थ के साथ अनेक प्रकार से जुड़ी हुई है ।

मध्व के पिता का नाम था मध्यगेह नारायण भट्ट । प्रतिभाधर आचार्य के रूप में भट्ट इस क्षेत्र में विख्यात थे । वेद-वेदान्त के वे प्रकांड विद्वान थे, तथा अपने साधन जीवन में वे निष्ठावान विष्णु-भक्त थे । स्त्री वेदवती रूपसी एवं परम भक्तिनिष्ठ थीं । गृह के अंदर नारायण शिला प्रतिष्ठित थी । इन्हीं

---

१. मतान्तर से १२३८ ई० । द्रष्टव्य; Subba Rao : Bhagavat Geeta., R.G. Bhandarkar : Vaishnavism, Saivism and Minor Religious Systems pp. 59– । स्वरचित ग्रन्थ 'भारत तात्पर्य निर्णय' में मध्व ने अपने जन्म के जिस शकाब्द का उल्लेख किया है वह ११९९ ई० की ओर ही इंगित करता है । मध्व के प्रशिष्य स्वामी नरहरि तीर्थ का एक अनुशासन भी आविष्कृत हुआ है जो कि मध्व के काल-निर्णय में सहायक है ।

२. उडु का अर्थ है 'नक्षत्र' और 'प' का तात्पर्य है पति । नक्षत्रपति, अर्थात् चन्द्रमा का नाम ही उडुप है । चन्द्र की तपस्या से प्रसन्न होकर शिव स्वयं इस स्थान में अवस्थित हैं । इसी कारण, चन्द्रमौलीश्वर शिव के नाम पर ही इस तीर्थ का नाम उडुपी पड़ा है । प्राचीनकाल में उडुपी रजतपीठ पुर के नाम से भी विख्यात था ।

शिलामय देवविग्रह की सेवा, भोग-राग तथा ध्यान-जप में उनका अधिकांश समय व्यतीत हो जाता। विशेष पर्वों पर दोनों भक्तिपूर्वक उडुपी में जाकर उपस्थित होते तथा कुल देवता, अनंतेश्वर नारायण की अर्चना में विभोर हो उठते।

मध्यगेह भट्ट का परिवार धनवान नहीं था। पैत्रिक निवास और एक बगीचा मात्र परिवार का संबल था। इसी बगीचे की फसल तथा अध्यापन द्वारा सामान्य आय से ही किसी तरह उनके परिवार का निर्वाह हो जाता।

भट्ट वंश अत्यन्त प्राचीन था। कर्मकाण्ड के विख्यात आचार्य कुमारिल भट्ट के ये लोग अनुगामी ब्राह्मण थे। पाँचवीं या छठी शताब्दी के आसपास बनवासी कदम्बराज, मयूर वर्मन ने इन नैष्ठिक ब्राह्मणों के कई दलों को आमंत्रित किया। क्रमशः इन आगंतुक ब्राह्मणों ने यज्ञक्रिया, शास्त्रनिष्ठा एवं शुद्धतर जीवनचर्या के माध्यम से सामाजिक नेता के रूप में अपना स्थान सुरक्षित कर लिया।

इन प्रवासी ब्राह्मणों में अनेक एक-दो पीढ़ी में ही शंकर के अद्वैतवाद के अनुगामी हो गये। साधारण रूप से उनमें शिवभक्ति का ही प्रावल्य दृष्टि-गोचर होने लगा।

क्रमशः इन ब्राह्मणों में से थोड़े लोगों का झुकाव विष्णु-उपासना की ओर भी हो गया। आचार्य मध्व के पिता, मध्यगेह भट्ट, इन्हीं भक्तिपरायण वैष्णव ब्राह्मणों में से एक थे।

मध्यगेह भट्ट के दो पुत्र एवं एक कन्या थी। किन्तु, भाग्य की कैसी विडम्बना, दोनों पुत्र, तरुण वयस में ही एक-एक कर काल कवलित हुए। भट्ट दम्पति शोक के आघात से टूट-से गये।

उसके बाद कई वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। परन्तु पुत्रशोक की दहन ज्वाला को मध्यगेह के लिए विस्मृत करना संभव नहीं हो पा रहा है। इसके अलावा, मन में एक नई दुश्चिंता का उदय होता जा रहा है। वे नैष्ठिक ब्राह्मण हैं और बार-बार इसी चिंता से व्याकुल हैं कि अपुत्रक, इस शरीर का त्याग करने से कोई पिण्डदान करने वाला भी नहीं रहेगा। इसी कारण वे बीच-बीच में उडुपी वे अनन्तेश्वर मंदिर में जाकर इष्ट के चरणों में अपने अंतर की व्याकुलता निवेदित करते हैं।

उस दिन दशहरा का अंतिम दिन– नवमी था। मध्यगेह भट्ट उडुपी के नारायण मंदिर में बैठे एकाग्र हो जप-ध्यान कर रहे हैं। भावतन्मय अवस्था में प्रहर पर प्रहर किस तरह बीतते चले जा रहे हैं, इसका उन्हें होश नहीं। क्रमशः रात गंभीर होती गयी। भक्त-दर्शनार्थीगण, एक-एक करके अपने

घरों को वापस चले गये हैं। ठाकुर को शयन कराकर तथा दीप बुझा कर पुजारीगण भी अपने-अपने कक्षों में विश्राम कर रहे हैं। मात्र भक्तप्रवर मध्यगेह भट्ट श्रीमूर्ति के सम्मुख ध्यानस्थ बैठे हुए हैं।

अकस्मात् मंदिर का गर्भगृह एक शुभ्र-स्निग्ध, स्वर्गीय ज्योति से उद्भासित हो उठा। भट्ट का ध्यान टूट गया। विस्मय तथा आनन्द से वे अभिभूत हो उठे। इसी समय उनके कानों में एक दैवी कण्ठस्वर सुनाई पड़ा। करुणा-विगलित स्वर में ठाकुर ने कहा, "मेरे प्रिय भट्ट, तुमने तरुण वयस के दो पुत्रों को गंवा कर बहुत अधिक दुःख पाया है। परन्तु तुम्हारा इसमें क्या वश था? प्रारब्ध के खंडित हो जाने के बाद उसका रुक पाना संभव भी तो नहीं था। उन्हें मर्त्यलोक से विदा लेना ही था। तुम दुःखी न हो, भट्ट, शोक जिस तरह आघात देता है, उसी तरह परम कल्याण का भी जनक होता है। शोक ही मनुष्य को आत्मस्थ तथा पवित्रतर बना देता है।"

प्रभु के दिव्य कण्ठ से यह मधुर दिव्य वाणी निकली। परन्तु भट्ट के हृदय को वह क्या शीतल कर पायी? एक के बाद एक, दो पुत्रों को खोकर उनका हृदय मरुभूमि सदृश हो चुका था। वह क्या शीतल एवं शांत हो सका?

प्रभु स्नेहार्द्र कण्ठ से कहते ही रहे "यह, समझ लो, मनुष्य शून्य होकर पूर्ण होना चाहता है तथा रिक्त होकर सिक्त। शोक-विषाद की कालिमा को निकाल फेंको। दुःख मत करो। ईश्वरीय विधान के फलस्वरूप एक शुद्धात्मा, कुल पवित्रकारी पुत्र का तुम्हारे गृह में आगमन होगा। वह नवीन भक्ति आन्दोलन का मार्गद्रष्टा होगा। आज दशहरा का अंतिम दिन—नवमी है। एक वर्ष बाद, इसी पवित्र तिथि पर तुम्हारे घर एक शिशु पुत्र जन्म ग्रहण करेगा।"

दैवी वाणी का स्वर धीरे-धीरे कम होता गया, परन्तु मध्यगेह भट्ट के हृदय में इस वाणी ने एक विचित्र भावोच्छ्वास की तरंग का आलोड़न कर डाला। अपार आनन्द तथा तृप्ति से परिपूर्ण, भट्ट, उसी समय पाजका स्थित अपने घर की ओर रवाना हो गये। गद्-गद् स्वर में उन्होंने गृहिणी वेदवती के सम्मुख मंदिर की आश्चर्यजनक घटनाओं का वर्णन किया तथा दोनों नयनों से पुलकाश्रु झरते रहे।

उडुपी के अनन्तेश्वर मंदिर की देववाणी फलित हुई। ठीक एक वर्ष के अंतराल के बाद ११९९ ई० की नवमी तिथि के एक शुभ लग्न में भट्ट-गृहिणी की गोद में एक शिशु-पुत्र का आविर्भाव हुआ। उत्तर-काल में यही बालक महासाधक मध्वाचार्य के नाम से विख्यात हो गया।

यह शिशु जितना ही रूपवान था, वैसे ही सारे सुलक्षणों से युक्त था। भक्त भट्ट दम्पति के तो आनन्द की सीमा ही नहीं थी। ठाकुर के कृपा प्रसाद के रूप में उन्होंने इस पुत्र को प्राप्त किया है—इसलिए उन्हीं की दया को स्मरण कर उन्होंने उसका नामकरण किया—वासुदेव।

वासुदेव के बाल्यजीवन की नाना आश्चर्यजनक एवं अलौकिक कहानियाँ प्रचलित हैं ।[१] एक दिन साथियों के साथ वे खेल में मस्त हो रहे थे । सहसा दिखाई पड़ा कि एक भीमकाय सांढ़ नजदीक के रास्ते से हिलता-डुलता चला आ रहा है । बालक वासुदेव को एक विचित्र झक सवार हो गयी और बिजली की गति से वह सांढ़ की पूँछ पकड़ कर लटक गया । ऐसा करते ही सांढ़ उत्तेजित हो उठा और द्रुतवेग से सामने के निविड़ वन की ओर भाग खड़ा हुआ । सभी संगी-साथी भयभीत हो उठे और आर्त स्वर में चिल्लाने लगे । साथ ही भट्ट गृह के आसपास कोलाहल होने लगा । सभी उसका पीछा करने के लिए दौड़-भाग करने लगे ।

उस दिन वासुदेव मानो इस खेल में मतवाला हो उठा है । सांढ़ की पूँछ वह किसी तरह भी छोड़ने को तैयार नहीं है तथा सांड प्रवर भी हार मानने को राज़ी नहीं हैं । वन क्षेत्र तथा कंटकमय मार्ग पर कई प्रहर की दौड़-भाग के पश्चात् अंततः क्लांत-देह सांढ़, मध्यगेह के आवास के सम्मुख जमीन पर आकर लोट पड़ा । उस समय बालक वासुदेव के मुख पर तृप्ति की हँसी फूट पड़ी है । सभी के उद्वेगपूर्ण प्रश्नों के उत्तर में वह गर्वपूर्वक अपने अद्‌भुत वन-भ्रमण की कहानी का वर्णन करने लगा ।

एक दूसरे दिन की बात । एक विशेष पर्व के अवसर पर संध्या के बाद भट्ट दम्पति वासुदेव को लेकर उडुपी के अनन्तेश्वर मंदिर में गये हुए हैं । स्नान, तर्पण एवं पूजा समाप्त करते-करते काफी समय बीत गया । उसके बाद संध्या

१. मध्व शिष्य पंडित त्रिविक्रम आचार्य के पुत्र नारायण आचार्य ने मध्व-विजय एवं मणिमंजरी नाम से नाना कहानियाँ संकलित करके काव्यग्रन्थ की रचना की है । पौराणिक कथाओं के रूप में रचित इन दोनों ग्रन्थों में मध्व के संबन्ध में अनेक अलौकिक घटनाओं का उल्लेख है । मध्व के जीवन प्रसंगों को जानने में नारायण आचार्य की रचना सहायक सिद्ध होते हुए भी वह उग्र सांप्रदायिकता एवं अयौक्तिक शंकर विरोधिता से ग्रस्त है, जिसके कारण पुस्तकों का विशेष मूल्य नहीं है । आचार्य त्रिविक्रम, नारायण इत्यादि शिष्यगण मध्व को वायु का अवतार मानते हैं । मध्व बैष्णवों के मतानुसार पृथ्वी पर जब भी नारायण अवतरित हुए हैं, उसी समय उनके सहायक के रूप में वायु का अवतरण हुआ है । राम एवं कृष्णावतारों के सहायक हनुमान एवं भीम दोनों ही वायुपुत्र थे । उनके मतानुसार अंतिम अवतार मध्वाचार्य थे ।

—प्रज्ञानानंद : वेदान्त दर्शन, पृष्ठ ५१८

के समय सभी जंगल के मार्ग से गांव वापस चले आ रहे हैं। सहसा एक दुष्ट अशरीरी प्रेत, उनका रास्ता रोक कर खड़ा हो गया। मध्यगेह तथा वेदवती भय से जड़वत् हो गये, परन्तु बालक वासुदेव में अद्‌भुत प्रतिक्रिया दृष्टिगोचर हुई। क्षण भर में ही उसके चेहरे का भाव एकाएक परिवर्त्तित हो गया। संमुन्नत ग्रीवा तथा दोनों नेत्र क्रोध से रक्ताभ हो उठे हैं। एक पूर्ण वयस्क के सदृश, प्रेत को संबोधित करते हुए, बड़-बड़ करते, पता नहीं वे मौन-से मारण-मंत्र का उच्चारण कर रहा है। प्रेत, उसी क्षण भयभीत होकर उनके सामने से अर्न्तध्यान हो गया। इसके साथ ही साथ वासुदेव फिर पूर्ववत् हो गये। भट्ट दम्पति इष्टनाम का जाप करते हुए बालक को सीने से चिपकाए घर वापस आ गये।

किशोर-अवस्था में वासुदेव का उपनयन-संस्कार संपन्न हुआ तथा उसके बाद शास्त्रों के अध्ययन हेतु उन्हें ग्राम की ही पाठशाला में भेजा गया। वासुदेव की असाधारण मेधा एवं प्रतिभा देख कर अध्यापकगण विस्मित हो गये। उन्होंने कुछेक वर्षों के अन्दर ही विभिन्न शास्त्रों के ज्ञान का लाभ कर लिया। तत्वों के निर्णय एवं विचार-विश्लेषण में भी उनका असामान्य अधिकार हो गया।

क्रीड़ा के क्षेत्र में भी वासुदेव की ख्याति कम नहीं है। किसी भी प्रतियोगिता में अपने अमित साहस, व्रजतुल्य देह और दुर्जेय संकल्प के कारण, शीर्ष स्थान अर्जित कर लेना साधारण-सी बात थी। दक्षिण कनारा के ब्राह्मण-समुदाय में कुश्ती का प्रचलन काफी अधिक था। इस खेल में वासुदेव अद्वितीय थे। इसी कारण साथियों ने उनको भीम कह कर पुकारना शुरू कर दिया था।[1]

यौवन में पदार्पण करते-करते यह स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हुआ कि वासुदेव एक पूर्णांग मानव के रूप में परिणत हो चुके हैं। व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक तथ्यों का अपूर्व सम्मिश्रण उनके जीवन में लक्षित होने लगा। जिस तरह वे यथासम्भव दैहिक एवं मानसिक उत्कर्ष के अधिकारी हो चुके थे उसी तरह उन्हें ज्ञान तथा ध्यान-मनन की शक्ति पर भी पूर्ण अधिकार था। विचार-शक्ति में भी उनकी क्षमता अद्वितीय थी।

---

१. अनेक लोगों की धारणा है कि जीवन के प्रथम चरण के इन दैहिक पराक्रमों की बात का स्मरण करके ही उत्तर-काल में मध्व के अनुगामियों ने उन्हें वायुपुत्र किंवा वायु का अवतार कह कर प्रचार करना शुरू कर दिया। नारायण भट्ट रचित मध्वविजय एवं मणिमंजरी में इस वायु वाली बात का बार-बार उल्लेख हुआ है।

कई सौ वर्ष पहले, वासुदेव के पूर्वज कर्मकाण्ड के अनुगामी तथा याग-यज्ञों में भी विश्वास रखने वाले थे। ग्यारहवीं सदी के लगभग इनमें एक आमूल परिवर्त्तन दृष्टिगोचर होने लगा था। इसी समय आचार्य रामानुज का अभ्युदय हुआ था तथा उन्हीं के अभ्युदय के फलस्वरुप, प्रेम-भक्ति सिद्ध आडवारों की साधना एवं मतवाद की परिणति हुई। रामानुजी भक्तिवाद ने सारे दाक्षिणात्य में प्रबल भाव-वन्या प्रवाहित की तथा शंकर-विरोधी द्वैतवाद का प्रभाव नाना स्थानों में अनुभव किया जाने लगा। अनन्त शायी विष्णु तथा मुरलीधर कृष्ण की महिमा अनेक मठ-मंदिर तथा संप्रदायों को केन्द्र बना कर धीरे-धीरे प्रसारित होने लगी। वासुदेव के पिता, मध्यगेह भट्ट इसी भक्ति-रसाश्रित साधन-धारा के धारक तथा वाहकों में से एक थे। उनके इष्ट थे, अनन्तेश्वर नारायण, तथा गृह में शालग्राम शिला की अर्चना होती थी। पुत्र के वासुदेव नामकरण से भी सहज ही अनुमान हो जाता है कि मध्यगेह भट्ट वेदान्ती अथवा कर्मकाण्डी साधक नहीं थे, तथा साधन जीवन में वे भक्ति मार्ग का ही अनुसरण करते।

पिता की परम्परा एवं व्यक्तित्व तथा स्वगृह के भजन-पूजनमय परिवेश ने वासुदेव के धार्मिक आदर्श एवं साधन जीवन को काफी हद तक प्रभावित किया था। अत्यन्त अल्प तरुण वयस में ही यह प्रतिभाधर पण्डित एवं शुद्धाचारी भक्तिपरायण साधक के रूप में परिणत हो गये थे।

उडुपी में शास्त्रविद् आचार्य एवं साधु-संन्यासियों की संख्या कम नहीं थी। इन सभी के मध्य विद्वत्ता एवं साधना, दोनों ही दृष्टि से विशिष्टतम थे, आचार्य अच्युत प्रकाश। वासुदेव ने मन ही मन यह स्थिर किया—अब इन्हीं महात्मा से वेद-वेदान्त एवं दर्शनों का उच्चतम पाठ वे ग्रहण करेंगे।

एक दिन प्रातःकाल, उडुपी में अच्युतप्रकाश के मठ में जाकर वे उपस्थित हुए। श्रद्धापूर्वक प्रणाम निवेदित करने के पश्चात्, उन्होंने अपना परिचय देते हुए कहा—"आचार्यवर, काफी आशा के साथ आपके चरणों में आश्रय लेने के लिए आया हूँ। आप मेरे ऊपर कृपा करें तथा शास्त्र-तत्त्वों का उपदेश देकर मुझे कृतार्थ करें।"

"वत्स, तुम्हारे पिता मध्यगेह नारायण भट्ट को मैं जानता हूँ। वे अच्छे पण्डित तथा विष्णु के उपासक हैं। उनके पुत्र होकर तुम क्यों मेरे-जैसे अद्वैत वेदान्ती के पास शास्त्रों का पाठ पढ़ने आये हो? इसका रहस्य मुझसे स्पष्ट रूप से कहो?" कहते हुए अच्युतप्रकाश सप्रश्न दृष्टि से देखते रहे।

"प्रभु, मैंने अपने पिता से ही सुना है कि आप अद्वैत वेदान्ती होते हुए भी भक्तिमार्ग के कट्टर विरोधी नहीं हैं। चन्द्रमौलीश्वर शिव मंदिर तथा शेषशायी-विष्णु, अनन्तेश्वर मंदिर, इन दोनों ही पवित्र पीठों में आप स्वतंत्रतापूर्वक जाते हैं। इसके अलावा मैंने यह भी सुना है कि आपके गुरु, प्राज्ञतीर्थ महाराज दशनामी संन्यासी होते हुए भी भक्तिमार्ग के प्रति गंभीर रूप से आकृष्ट थे। इसीलिए काफी सोच विचार-कर मैं आपके आश्रय में आया हूँ।"

सुन्दर दिव्य शरीर, इस तरुण शिक्षार्थी की ओर अच्युतप्रकाश, प्रशंसा भरी दृष्टि से देखते ही रह गये। वासुदेव के दोनों नेत्र प्रतिभा की दीप्ति से उज्वल थे। शरीर पर निष्ठा एवं संकल्प की दृढ़ता थी। अच्युतप्रकाश का अंतर अत्यन्त प्रसन्न एवं गद्‌गद् हो उठा था। वासुदेव के साथ कुछ देर तक शास्त्रालाप के उपरान्त उन्होंने स्नेहपूर्ण स्वर में कहा—"वत्स, मैं समझ रहा हूँ कि परमात्मा की कृपा से तुमने दिव्य प्रतिभा लेकर ही जन्म ग्रहण किया है। मुझे विश्वास है कि एक दिन तुम्हारी मनीषा एवं साधना से देश एवं धर्म का महान उपकार साधित होगा। मैं आनन्दपूर्वक तुम्हें यह अनुमति देता हूँ कि मेरे आश्रम से उच्चतर शास्त्रपाठ तुम ग्रहण कर सकते हो।"

उस दिन उडुपी मठ मे आचार्य अच्युतप्रकाश के पास आश्रय ग्रहण करने के उपरान्त, वासुदेव के जीवन में एक नवीन अध्याय का सूत्रपात हुआ।

वासुदेव, अपूर्व निष्ठा से न्याय, सांख्य, वेद-वेदान्त के अध्ययन की ओर अग्रसर हुए तथा एक के बाद एक, सभी में पारंगत होते गये। परन्तु बराबर यही दृष्टिगोचर होता कि गुरु के अद्वैत वेदान्त का पाठ शुरू करते ही वासुदेव उसके विरुद्ध भक्तिवादी व्याख्या देने लगते तथा अपनी तीक्ष्ण बुद्धि एवं अमानुषी मेधा की सहायता से विस्मयजनक शास्त्र-प्रमाण तथा युक्तितर्क का प्रयोग करते। क्रमशः उडुपी के विभिन्न मठ-मंदिरों तथा सन्निहित क्षेत्रों में आचार्य अच्युतप्रकाश के इस प्रतिभाधर छात्र की ख्याति फैलने लगी।

पुत्र वासुदेव अब शास्त्र-पारंगत है तथा विद्वत्ता एवं चरित्रनिष्ठा में बहुत लोगों की दृष्टि आकर्षित कर रहे हैं। भट्ट दम्पति का अंतर गर्व एवं तृप्ति से परिपूर्ण हो चुका है।

एक दिन अवसर पाकर मध्यगेह भट्ट ने पुत्र को निकट बुलाया। प्रसन्न स्वर में उन्होंने कहा, "वासुदेव, तुम्हारे-जैसे होनहार पुत्र को पाकर मैं तथा तुम्हारी जननी परम सुखी हैं। परन्तु अब तुम्हें हमलोगों का एक अनुरोध स्वीकार करना ही होगा। अब तुम गार्हस्थ्य आश्रम में प्रवेश करो। एक

सुलक्षणा पात्री का भी हमलोगों ने चयन कर लिया है। उससे तुम विवाह करो तथा घर पर ही अध्यापन का कार्य आरंभ कर डालो। तुम्हारे सांसारिक जीवन के स्थिर हो जाने के बाद हमलोग बिलकुल निश्चित हो सकेंगे।"

नत-शिर, कुछ देर तक चुप रहने के पश्चात् वासुदेव ने उत्तर दिया "पिता, कृपया मुझे आप क्षमा करें। गार्हस्थ्य आश्रम मेरे लिए नहीं है। मैंने दृढ़ संकल्प कर लिया है कि शीघ्र ही एक शुभ दिन देखकर मैं संन्यास ग्रहण करूंगा तथा आचार्य अच्युतप्रकाश से ही दीक्षा एवं संन्यास लूंगा।"

भट्ट चौंक पड़े। उनके पुत्र का यह कैसा अद्भुत एवं अप्रत्याशित संकल्प ? यह तो बिना मेघ के वज्रपात् तुल्य है। आर्त स्वर में उन्होंने कहा, "वत्स, ऐसी मर्मवेधी बात क्यों कह रहे हो ? सोचा था, तुम अच्छे पंडित तथा धर्मनिष्ठ आचार्य होगे तथा यश-धर्म एवं मान के अधिकारी होगे तथा तुम्हारे हाथों में गृहस्थी का भार देकर हमलोग ध्यान-भजन में अपना समय व्यतीत कर सकेंगे, निश्चितता पूर्वक। तुम्हारे संसार-त्याग का संकल्प तो नहीं टिक सकेगा वत्स !"

"पिता, मैं संसार को अनित्य तथा माया विभ्रम समझकर नहीं छोड़ रहा हूँ। वरन् इसे प्रभु श्री नारायण की सेवा में लगाने के लिए छोड़ रहा हूँ। वे ही आपकी तथा जननी की रक्षा करेंगे। मेरे जीवन का लक्ष्य सर्वदा के लिए स्थिर हो चुका है। मैंने संकल्प कर लिया है कि इस भक्ति-साधन भ्रष्ट पृथिवी पर भक्तिवाद का नये सिरे से प्रचार करना होगा तथा यह प्रचार होगा शास्त्रीय भित्ति पर। मेरे अंतर को शक्ति मिली है तथा मुझे इस बात का ज्ञान हो गया है कि इस दुरूह भगवत्-कर्म में मेरी एक निर्दिष्ट भूमिका है।"

आत्मविश्वास तथा संकल्प की दृढ़ता, तरुण वासुदेव के नेत्रों को प्लावित कर रही थी।

पिता ने व्याकुल स्वर में कहा, "बेटा वासुदेव, तुम्हें हमलोगों ने अनन्तेश्वर नारायण की कृपा से ही प्राप्त किया है। लम्बी अवधि तक व्रत-उपवास के पश्चात् हमलोगों ने प्रभु के चरणों में आवेदन किया था। प्रसन्न होकर उन्होंने तुम्हें हमलोगों के घर भेज दिया था।"

"प्रभु के वर से मेरा जन्म हुआ है ! इसीलिए मेरा दृढ़ विश्वास है कि प्रभु के आदिष्ट कर्मयज्ञ में ही मेरे जीवन का उत्सर्ग होगा।"

"सारी बातें तो मैंने सुनी। परन्तु बेटा, तुम हमलोगों के एकमात्र पुत्र हो। तुम्हारे संन्यास ग्रहण कर लेने से तुम्हारे पिण्डदान से भी हमलोग वंचित हो जावेंगे। इतने अधर्म का कार्य तुम न करो बेटा !"

वासुदेव कुछ देर तक नीरव विचार करते रहे। उसके बाद धीर, शांत स्वर में उन्होंने कहा, "पिता, मेरे द्वारा आपके पारलौकिक कल्याण में कोई क्षति न हो, इसका मैं ध्यान रखूँगा। ठीक है, आचार्य अच्युतप्रकाश के आश्रम में रहते हुए भी मैं संन्यास ग्रहण का कार्यक्रम फिलहाल स्थगित रखूँगा। मेरा अंतर कह रहा है कि निकट भविष्य में ही मेरा एक अनुज जन्म ग्रहण करेगा। उसके बाद आपलोगों को पिण्डदान के लिए कोई चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं होगी। उसके जन्म ग्रहण करने के बाद ही मैं संन्यास-आश्रम में प्रवेश करूँगा।"

पितृभक्त वासुदेव ने अपनी यह प्रतिज्ञा भंग नहीं की। उत्तरकाल में अपने कनिष्ठ भ्राता के जन्म ग्रहण के पश्चात् ही संसार से संन्यास ग्रहण किया था।

सन्यास न लेकर भी वासुदेव ने अच्युतप्रकाश से दीक्षा लेने में विलम्ब नहीं किया। आचार्य के मठ में ही रहकर, उनके द्वारा निर्देशित मार्ग पर, उन्होंने अनन्य निष्ठा के साथ अपनी साधना तथा स्वाध्याय को जारी रखा। शीघ्र ही संपूर्ण कनारा क्षेत्र में वे एक असामान्य पंडित एवं साधक के रूप में परिचित हो गये।

इस तरह बारह वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद मध्यगेह नारायण भट्ट के गृह में एक और पुत्र संतान का आविर्भाव हुआ।[1]

अब वासुदेव की अभीष्ट सिद्धि के मार्ग में कोई बाधा नहीं रह गयी। पिता तथा माता की सम्मति लेकर उन्होंने सर्वदा के लिए गृह त्याग कर दिया। पच्चीस वर्षों के साधननिष्ठ, प्रतिभादीप्त जीवन में आरंभ हुआ, संन्यास जीवन का अत्यन्त कठोर व्रत।

गुरु ने इस नवीन शिष्य का संन्यास नाम पूर्णप्रज्ञ-तीर्थ दिया। पूर्वाश्रम में वासुदेव, आचार्य मध्यगेह के पुत्र थे। इसी कारण उस क्षेत्र में वे आचार्य मध्व के नाम से भी परिचित हो उठे।

आचार्य अच्युतप्रकाश के मठ में छात्र एवं संन्यासी शिष्यों की भीड़ लगी ही रहती। दैनिक साधन-भजन के साथ-साथ, शिक्षार्थी एवं साधुगण शास्त्र-पाठ एवं विचार-विमर्श में सदा तत्पर रहते तथा इस गोष्ठी के केन्द्रविन्दु होते, आचार्य मध्व। विशेषरूप से वेदान्त की भक्तिवादी व्याख्या तथा भागवत एवं महाभारत पुराणों की व्याख्या में उनका समकक्ष कोई नहीं था। न्याय-

१. उत्तरकाल में यह शिशु विष्णुतीर्थ के नाम से परिचित हुआ। पिता तथा माता के देहान्त के पश्चात् इन्होंने भी ज्येष्ठ भ्राता का अनुसरण करते हुए संन्यास ग्रहण किया।

शास्त्र में भी मध्व की अबाध गति थी। अवसर मिलने पर वे अपने श्रद्धेय गुरु से भी वेदान्त के भाष्य पर तर्क-वितर्क आरंभ कर देते तथा गंभीर शास्त्रज्ञान एवं तर्क-शक्ति की सहायता से वे आचार्य शंकर के अद्वैतवाद की त्रुटियों का उल्लेख करते हुए इस मतवाद के ऊपर प्रचंड आघात करते।

गुरु अच्युतप्रकाश केवलाद्वैत संन्यासी होते हुए भी अंतर से भक्तिरस के रसिक थे। उडुपी के शेषशायी नारायण विग्रह अनन्तेश्वर को केन्द्र करके, भक्ति आन्दोलन की एक नूतन स्रोतधारा विस्तारित हो इस आशा को वे अपने अंतर में इतने दिनों तक संजोए हुए थे। अब प्रतिभाधर नवीन शिष्य मध्व को देखकर तथा उनकी विराट् प्रतिश्रुति को लक्ष्य करके, उनके उल्लास का पारावार नहीं था। उनका अंतर आश्वस्त था कि उडुपी मठ में जिस स्रोत की वे रचना कर रहे हैं, उसकी लोकपावनी कल्याणधारा निकट भविष्य में ही भारतभूमि में सर्वत्र फैल जायगी।

कुछेक वर्षों के अन्दर ही मठ के नेतृत्व का भार मध्व के कंधों पर आ पड़ा। गुरु ने उन्हें एक दिन बुलाकर कहा, "वत्स, मेरा यह शरीर पुराना हो चला है, धीरे-धीरे और अकर्मण्य होता जायगा। इसीलिए मेरी इच्छा है कि तुम यहाँ के संन्यासियों के नेता बन कर रहो और मठ की परिचालना का दायित्व अपने हाथों में ले लो।"

एक शुभदिन को अच्युतप्रकाश ने स्थानीय साधु-संन्यासी एवं सज्जनों का आवाहन किया तथा सबके समक्ष उन्होंने मध्व के हाथों उडुपी मठ के अपने सारे अधिकार सौंप दिए। स्नेहपूर्वक उन्होंने कहा, "वत्स, आज से इस मठ के समस्त कार्यों के संपादन का भार तुम्हारे ऊपर ही रहा तथा यहाँ के मठाधीश के रूप में तुम्हारा नूतन नाम होगा—आनंद तीर्थ।"

उत्तर जीवन में मध्व को, उनके समस्त शास्त्र ग्रन्थ एवं भाष्यों में, गुरुदत्त इस मठाधीश नाम का ही व्यवहार करते देखा गया है।

मध्व के समकालीन भारत में, विशेषत: दक्षिणी भारत में, दार्शनिकता तथा धार्मिक मतवादों के द्वन्द-संघर्ष की कमी नहीं थी। सारा देश, उस समय बहुत-से खण्ड राज्यों में विभक्त था। इन सभी राजसभाओं में तर्कदक्ष पण्डितों का प्रचुर आदर था। छोटे-बड़े सभी राजा युद्ध अथवा वाद-विवाद में लिप्त रहते। रास्ते-घाट की भी दशा निरापद नहीं थी। किन्तु इस अशांतिमय परिवेश में भी तर्कशूर अथवा विचार मल्लगण परमानन्द पूर्वक देश

में सर्वत्र घूमते रहते। उनकी संवर्धना तथा विचार सभा के अनुष्ठान में राजा-प्रजा, धनी-निर्धन सभी के उत्साह एवं उल्लास की सीमा नहीं रहती।

वाक् युद्ध में पटु होने के कारण इन सभी शास्त्रविद पण्डितों को नाना उपाधियों से विभूषित किया जाता। इनमें कोई थे तर्क-पंचानन, कोई वादी-सिंह तथा कोई प्रतिवादी-भयंकर के नाम से प्रख्यात थे। राज-सभाओं तथा मठ-मंदिरों में अथवा धर्म अधिवेशनों में इन सब तर्कदक्ष दुर्धर्ष पण्डितों की मर्यादा अपरिसीम थी।

उडुपी मठ में भी बीच-बीच में देश-विदेश में विख्यात भ्रमणकारी पण्डितों का आगमन होता। इनके साथ संघर्ष के लिए आचार्य मध्व, लम्बी अवधि तक अपने को ही प्रस्तुत करते रहे। इसके द्वारा साधु-संन्यासी एवं पण्डितों के मध्य उनके शास्त्रज्ञान तथा विचारनिपुणता की बात काफी हद तक फैल गयी। बाहर के पण्डितों के उडुपी आगमन पर, आचार्य उनके साथ तर्कयुद्ध करते तथा भक्तिवादी व्याख्या एवं विचारों के माध्यम से उन्हें पराजित करते।

तर्क-युद्ध में जयी होने पर पाण्डित्य की ख्याति बढ़ती है तथा विपक्ष को धराशायी करने से एक आत्मतृप्ति का बोध होता है, यह बात तो सत्य है, परन्तु मध्व एक अन्य कारण से इन द्वन्द संघर्षों के प्रति उत्साहित होते। उनका जीवन एक संगठनात्मक ईश्वरीय कर्म के प्रति उत्सर्गित था। भक्ति आंदोलन की एक नवीन धारा का प्रवर्तन करने की उनकी कामना थी। इस कार्य का संपादन करने हेतु प्रथमतः शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन आवश्यक था तथा दूसरी ओर रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद से पृथक् एक नवीन भक्तिवाद की धारा को जन्म देना था। इसको करने के लिए प्रथमतः शास्त्र-पारंगत एवं विचार-दक्ष पण्डितों को पराभूत करना और अपने मत की ओर खींच लाना आवश्यक था। ऐसा नहीं करने से जन-साधारण, उसे किस तरह ग्रहण कर सकेगा? इन दिनों उडुपी आकर जो भी तर्कयुद्ध में अवतीर्ण होते वे मध्व के तर्क-वाणों से धाराशायी हो जाते।

प्रिय शिष्य के कार्यों से वृद्ध आचार्य अच्युतप्रकाश आनन्द एवं गर्व से भर उठे। एक दिन उन्हें निकट बुलाकर कहा, "वत्स मध्व, जिस संकल्प को तुमने ग्रहण किया है, वह उडुपी मठ में बैठे-बैठे ही तो सिद्ध नहीं होगा। दुर्ग प्राचीरों से घिरे रहकर कितने प्रतिपक्षियों को तुम परास्त कर सकोगे? अब दुर्ग से बाहर निकलो। आत्मरक्षा की भावना का त्याग करके आक्रमण के लिए अग्रसर होओ। पहले दाक्षिणात्य के राजसभा एवं मठ-मंदिरों में उपस्थित

होकर, विचार युद्ध का आवाहन करो। उसके बाद उत्तर भारत के धर्म-नेताओं के प्रतिद्वन्दी होकर निकल पड़ो।" [1]

गुरु का निर्देश मध्व ने सानन्द मान लिया। सदल-बल, उनका दक्षिण भारत के पर्यटन तथा शास्त्र-विचार के अनुष्ठान का श्रीगणेश हुआ। इन दिनों वे विभिन्न क्षेत्रों के साधक एवं दार्शनिकों को तर्कयुद्ध में परास्त करने में समर्थ हुए। अंततः घूमते-घूमते वे विष्णुमंगल तीर्थ में उपस्थित हुए। गुरु अच्युतप्रकाश का भी इस स्थान पर आकर उनसे मिलन हुआ।

मध्वविजय तथा मणिमंजरी में कहा गया है कि ऋद्धि-सिद्धि संपन्न मध्व ने इस समय अपने साथियों के समक्ष कुछ योगैश्वर्य भी प्रकटित किए थे। रास्ता चलते-चलते सभी एक घोर वन के बीच से निकल रहे थे। आस-पास कोई बस्ती नहीं है तथा आश्रम वा खाद्य संग्रह की भी कोई संभावना नहीं दिखाई पड़ रही है। सभी साथी क्षुधा तथा तृष्णा से कातर हो उठे हैं। इस तरह रास्ता तय करते-करते कई लोगों को जान से हाथ धोना पड़ेगा इसमें संदेह नहीं है।

इस संकट की घड़ी में क्या किया जाय? व्यग्र एवं व्याकुल मध्व ने सहयात्रियों के साथ एक वृक्ष के नीचे आश्रय ग्रहण किया। सहसा उनके शरीर में एक दिव्य भाव का आवेश दृष्टिगोचर हुआ। एक साथी की झोली से रोटी का एक अवशिष्ट टुकड़ा मिल गया। भावाविष्ट मध्व इस रोटी के टुकड़े को हाथ में दबाए, अस्फुट स्वर में न जाने क्या-क्या बड़बड़ाने लगे। क्षण भर बाद सभी ने विस्मयपूर्वक देखा कि सभी साथियों की उदरपूर्ति लायक रोटियाँ न जाने कहाँ से झोली के अन्दर आ गयी हैं।

भक्त पण्डित नारायणाचार्य द्वारा लिखित ग्रन्थ में योग विभूति सम्पन्न मध्व के अमानुषी भोजन सामर्थ्य की एक रोचक कहानी लिखी हुई है। अनेक लोगों

---

१. उन दिनों भारत के सभी दार्शनिक क्षेत्रों में तार्किकता काफी हद तक फैल गयी थी। एकादश शताब्दी से चतुर्दश शताब्दी तक न्याय और वेदान्त के क्षेत्र में विचार युद्ध की प्रथा विशेष रूप से फैल गयी थी। इन्हीं दिनों तार्किकशिरोमणि श्री हर्ष मिश्र, गंगेश उपाध्याय, चित् सुखाचार्य, आनंदबोध भट्टारकाचार्य, लीलावती के रचयिता वल्लभाचार्य, वेदान्ते देक्षिकाचार्य एवं विदारण्य मुनीश्वर का आविर्भाव हुआ था। ये सभी तार्किक थे। इन कई शताब्दियों को तार्किकता का युग कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

—प्रज्ञानानन्द : वेदान्त दर्शनेर इतिहास, पृ० ५२०

की धारणा है कि महाभारत में वायुपुत्र भीम के सम्बन्ध में जो कहा गया है, इस कहानी की, उसी का अनुकरण करते हुए रचना की गयी है।

नाना अंचलों की विचार सभाओं में जयी होकर मध्व शिष्यों के साथ त्रिवेन्द्रम् आ गए हैं। यहाँ के राजा की ख्याति भक्त एवं विद्याव्यसनी दोनों ही रूपों में है। मध्व ने उनके साथ साक्षात्कार किया। आगंतुक संन्यासी की वयस कम है तथा चेहरे पर प्रतिभा एवं पाण्डित्य की दीप्ति फैली हुई है। राजा, प्रथम दर्शन में ही उनके प्रति आकृष्ट हो गए। सादर अभ्यर्थना के बाद उन्होंने कहा, "संन्यासीवर, आदेश करें, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?"

"महाराज, मैं सर्वत्यागी संन्यासी हूँ, अपनी व्यक्तिगत सेवा के लिए कोई आवश्यकता नहीं है। इस भक्तिहीन भ्रष्टाचार के युग में, मैं भक्तिवाद के प्रचार के लिए कृतसंकल्प हूँ। आप शीघ्रातिशीघ्र एक विचार-सभा का आयोजन करें। उसी सभा में मैं भक्तिहीन अद्वैतवाद पर निर्मम प्रहार करूँगा" —आचार्य मध्व ने धीर-गंभीर स्वर में कहा।

"आप क्या रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद के अनुगामी हैं?"

"नहीं महाराज, मेरा भक्तिवाद उससे बिलकुल पृथक् है। मेरे मतानुसार ब्रह्म एवं जीव नित्य पृथक् हैं—अर्थात् दो पृथक् वस्तु हैं। कारण, ब्रह्म स्वतंत्र है तथा जीव अस्वतंत्र। इसीलिए इस द्वैतवाद को स्वतंत्र–अस्वतंत्रवाद के नाम से संबोधित करना संगत होगा। इसमें शंकर एवं रामानुज, दोनों से ही चरम विरोधता है।"

"आपके तत्त्व के प्रणेता कौन हैं? उनका नाम तो मैंने सुना नहीं!"

"महाराज सनत् कुमार इस तत्त्व के आदि गुरु हैं। ईश्वर की कृपा से, मेरे माध्यम से इसका पुनः प्रचार होने जा रहा है।"

"परन्तु यतिवर, आपने क्या अपने इस मतवाद के समर्थन में ब्रह्मसूत्र के किसी भाष्य की रचना की है? ऐसा न होने से देश के साधु-संन्यासी एवं पण्डित समाज इस मतवाद को ग्रहण किस तरह करेगा?"

"महाराज, मेरा सूत्रभाष्य मेरे कण्ठ में ही विराजमान है। आप शीघ्र विचार-सभा की व्यवस्था करें, और प्रतिपक्षी के रूप में किसी अद्वैतवादी तर्क-योद्धा को आमंत्रित करें।"

"यतिवर, निकट ही, शृंगेरी में मेरे गुरु विद्याशंकर महाराज निवास करते हैं। वे मात्र शृंगेरी मठ के ही अधीश्वर नहीं हैं, वरन् सारे दाक्षिणात्य में

शांकर अद्वैतवाद के एक श्रेष्ठ स्तंभ हैं। ठीक है, उन्हीं को मैं आपके प्रतिपक्षी के रूप में आमंत्रित करता हूँ।"

दोनों आचार्यों की विचार-सभा ने एक महान कौतूहल की सृष्टि कर डाली। प्रसिद्ध पंडित, साधक एवं उत्साही जनसमुदाय के सम्मुख शास्त्रीय युक्तितर्क का यह भीषण युद्ध प्रारंभ हुआ। परन्तु इस विचार-सभा में नवीन संन्यासी मध्व को वैसी सुविधा नहीं मिल पायी। अमानुषी प्रतिभा के अधिकारी, मूर्धन्य पण्डित एवं साधकशिरोमणि विद्याशंकर के श्रुतिसिद्ध युक्तिजाल को विच्छिन्न करने में वे समर्थ नहीं हो सके। अंततः इन शक्तिधर प्रतिपक्षी के सम्मुख, उन्हें पराजय स्वीकार करनी पड़ी।

इस पराजय की ग्लानि में आचार्य मध्व के जीवन में एक स्पष्ट प्रतिक्रिया हुई। इसी समय से मात्र अद्वैतवाद से ही उनकी शत्रुता नहीं हुई, वरन् आचार्य विद्याशंकर एवं श्रृंगेरी मठ को वे अपना प्रधान वैरी समझने लगे।[1] त्रिवेन्द्रम् सभा की उस दिन की करुण पराजय ने मध्व के विरोध को और तीव्र बना डाला। साथ ही इससे उनके द्वैतवाद की स्थापना का संकल्प दृढ़तर होता गया।

तथ्यों से प्रमाणित होता है कि १२२८ ई० के आस-पास, किसी समय आचार्य ने अपना दक्षिण भारत का पर्यटन शेष किया और पर्यटन के अंतिम चरण में ही श्रृंगेरी के मठाधीश विद्याशंकर के साथ उनका विचार-वितर्क हुआ था।[2] नवीन संन्यासी मध्व की अवस्था, उस समय, लगभग तीस वर्ष थी।

त्रिवेन्द्रम् से मध्व सीधा रामेश्वर धाम चले आये और वहाँ उन्होंने चार मास का समय एकान्त तपस्या में व्यतीत किया। यहाँ भी अद्वैतवादी पण्डित एवं संन्यासीगण, दल के दल आकर उन्हें शास्त्रार्थ के लिए ललकारते रहे।

---

१. श्रृंगेरी मठ तथा उडुपी के मध्व मठ का द्वन्द, वादानुवाद एवं शत्रुता काफी दिनों तक चली। इसके फलस्वरूप मध्व तथा उनके अनुगामीगण जगह-जगह प्रताड़ित होते रहे। लगभग एक शताब्दी बाद, मध्व-मत के व्यापक जन-समर्थन लाभ करने के उपरान्त उभय मठाधीशों के मध्य मैत्री एवं सौजन्यमूलक सम्बन्ध स्थापित हो पाया।

२. श्रृंगेरी मठ की अध्यक्ष पंजिका में देखा जाता है कि स्वामी विद्याशंकर ने गद्दी पर १२२८ ई० में आरोहण किया था। अनुमान किया जाता है कि इसके कुछ ही दिनों बाद उनका मध्व से साक्षात्कार हुआ तथा उसी समय यह शास्त्रार्थ भी हुआ था।

परन्तु तपस्यापरायण मध्व को इन दिनों तर्क-सभा में ले आना संभव नहीं हो सका था। स्वतः इष्टध्यान में निमग्न रहकर उन्होंने अपना चातुर्मास्य व्रत समाप्त किया।

इसके बाद वे सदल-बल, श्रीरंगम् चले आये। परम प्रभु, नारायण की सेवा-अर्चना में कुछ समय व्यतीत करने के पश्चात् उन्होंने पाला नदी का किनारा पकड़ कर विष्णुकाञ्ची में प्रवेश किया और वहाँ से वे उडुपी वापस आ गये।

विष्णुकाञ्ची में रहते समय एक आश्चर्यजनक घटना घटी। नारायण आचार्य ने इसका विवरण दिया है। इस घटना के माध्यम से मध्व की अलौकिक प्रतिमा का प्रकाश दृष्टिगोचर होता है। उनके आगमन की बात सुन कर अद्वैती एवं शैव संन्यासियों के एक दल ने उन्हें घेर लिया तथा उन्हें नाना प्रकार से उत्तेजित करके शास्त्रार्थ में खींच लाये। इन दिनों मध्व के अंदर एक दिव्य भाव का आवेश दृष्टिगोचर हो रहा था। शास्त्र के एक-एक शब्द के बहुत-से अर्थ एवं व्युत्पत्ति वे तड़ित्वेग तथा धाराप्रवाह रूप से करने लगे। मानों, स्वयं सरस्वती का इन नवीन संन्यासी के कण्ठ में आविर्भाव हो गया हो। विचार-कामी पंडितगण उनकी यह अमानुषी प्रतिभा एवं अलौकिक प्रज्ञा देखकर विस्मय से हतवाक् हो गये। विष्णुकाञ्ची एवं शिवकाञ्ची, दोनों ही स्थानों पर मध्व का जयजयकार ध्वनित हो उठा।

उडुपी मठ में वापस आकर मध्व ने, गुरुदेव, अच्युतप्रकाश की पदवंदना की, तथा नाना तीर्थों की अनेक विचार-सभाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया।

मध्व के मनोभाव को समझने में गुरु को विलम्ब नहीं हुआ। उन्होंने प्रश्न किया, "वत्स, पर्यटन की समाप्ति पर तुम्हारा मन इस तरह भाराक्रान्त क्यों हो उठा है, यह तो बताओ ?"

मृदु स्वर में मध्व ने निवेदन किया, "प्रभु, परिव्राजन करते हुए, बहुत-सी विचार-सभाओं में उपस्थित हुआ हूँ। जय एवं पराजय दोनों ही मुझे मिले हैं तथा पराजय से अधिक जय-लाभ ही हुआ है। मेरा आत्मविश्वास बढ़ा है तथा भक्ति साम्राज्य की स्थापना के संकल्प में और भी दृढ़ता आयी है। परंतु प्रभु, त्रिवेन्द्रम् की सभा में शृंगेरी के अध्यक्ष के समीप जिस तरह मैं परास्त हुआ हूँ, उसकी ग्लानि अभी भी नहीं भूल पा रहा हूँ।"

"यह अच्छा ही हुआ है, वत्स! शक्तिमान प्रतिपक्षी के हाथों, इस तरह का आघात तुम्हारे लिए प्रयोजनीय था। इस आघात से तुम निश्चितरूप से

समझ सके हो कि कहीं कोई त्रुटि-विच्युति तुम्हारे अन्दर छिपी पड़ी है। अपने मतवाद की भित्ति एवं दुर्ग-प्राकार और अधिक सतर्कता से अब गढ़ डालो।"

"हाँ प्रभु, मैंने यह समझ लिया है कि मैं एक नूतन भक्तिपन्थी द्वैतवाद भारत में स्थापित करना चाहता हूँ और इसके लिए मुझे आवश्यकता होगी मेरे स्वपक्ष तथा मतवाद के समर्थन में व्यासदेव के वेदान्तसूत्र के किसी नवीन भाष्य की।"

"ठीक हो कह रहे हो। सूत्रभाष्य को छोड़कर देश के साधक एवं दार्शनिकगण तुम्हारे नूतन मतवाद को ग्रहण कैसे करेंगे ? इसीलिए मेरा आदेश है कि तुम शीघ्र अपने मतवाद के समर्थन में एक गीताभाष्य की रचना कर डालो। उसके बाद कुछेक वर्षों तक उडुपी में ही निवास करते हुए व्याससूत्रों का भाष्य भी समाप्त कर डालो।"

"उसके बाद ?"

"उसके बाद तुम हिमालय जाओ तथा महर्षि व्यासदेव के कृपा लाभ की चेष्टा करो। नूतन सूत्र-भाष्य हाथ में लेकर अपने नवीन भक्तिवाद की दृढ़-स्वर में घोषणा करो और उसके बाद उत्तर भारत में तुम्हारे विजय-अभियान का शुभारम्भ हो। वत्स, इसको स्मरण रखना कि श्रृंगेरी मठ ही भारतवर्ष नहीं है तथा मात्र शंकर मत ही तुम्हारा प्रतिपक्षी नहीं है। शंकर अद्वैतवाद के अलावा तुम्हें भास्कर, रामानुज इत्यादि मतवादों के विरुद्ध भी जूझना होगा। अबसे अपने मतवाद की प्रस्तुति को और अधिक दुर्भेद्य तथा स्पष्ट कर डालो।"

गुरु का यह निर्देश मानकर मध्व अपने मत के समर्थक भाष्य की रचना में रत हुए। कुछेक वर्षों में यह कार्य समाप्त हुआ। अब उनकी दृष्टि उत्तर भारत के आध्यात्मिक प्राणकेन्द्र वाराणसी एवं हरिद्वार पर पड़ी।

मध्व ने यह स्थिर किया कि सर्वप्रथम वे स्वरचित सूत्र-भाष्य लेकर वाराणसी जाँयगे। वहाँ के संन्यासी, दार्शनिक एवं पण्डित-समाज उसकी जैसी समालोचना करेंगे, उसी के अनुरूप भाष्य में परिवर्तन करना होगा। उसके बाद वे हिमालय जाकर व्यासदेव से आशीर्वाद की याचना करेंगे। इस आशीर्वाद का बल पाकर वे हरिद्वार उतर आवेंगे, और वहीं अपने नूतन भक्तिवाद की घोषणा करेंगे।

मूल्यवान पोथी-पत्रों को झोली में भरकर, मध्व, पदयात्रा करते हुए ही उत्तर भारत की ओर अग्रसर हुए। उनके साथ थोड़े अंतरंग शिष्य तथा तीर्थयात्रियों का एक दल था।

उन दिनों तीर्थयात्रा में विपत्तियों का अन्त नहीं था। मार्ग में प्रायः बड़े-बड़े वनों को पार करना होता था। इन सभी वनों में हिंस्र अशुओं तथा सर्प का भी भय था और इससे भी अधिक विपत्ति दस्युओं से थी। पथचारी धनी हैं या निर्धन; गृहस्थ है या संन्यासी, इसका उनके लिए कोई विचार नहीं था। अवसर मिलते ही वे बिना किसी बाधा के टूट पड़ते और पथिकों का सर्वस्व हरण कर लेते।

मार्ग में साथियों के साथ आचार्य मध्व को भी बार-बार विपत्तियों का सामना करना पड़ा। परन्तु कभी ईश्वर-अनुकम्पा अथवा कभी उनकी निजी योगशक्ति के बल से आचार्य तथा उनके साथियों को चरम-विपत्ति तथा लाञ्छना से रिहाई मिलती गयी। नारायण आचार्य ने अपने मध्वविजय में इस तरह की नाना आश्चर्यजनक कहानियों का विबरण दिया है :—

महाराष्ट्र के खण्ड राज्य देवगिरि में एक कौतुकपूर्ण घटना घटी। यहाँ के तरुण राजा, महादेव, ने कुछ ही दिन पूर्व सिंहासन पर आरोहण किया था। जवानी के जोश में उनके हृदय में उत्साह की कमी नहीं थी। जनसाधारण के कल्याण के लिए उन्होंने एक सुदीर्घ तालाब (खाल) खोदने का आदेश दिया था। कार्य बहुत वृहत् था तथा उसे बहुत थोड़ी अवधि में ही पूर्ण करना था। इसीलिए राजा महादेव काफी देर तक स्वयं खड़े रहकर खनन के कार्य का स्वयं निर्देशन करते।

डुग्गी पिटवा कर राजा ने एलान करवाया था कि जो भी यात्री इस खाल के निकटवर्ती क्षेत्र से यात्रा करेगा, उसे खनन हेतु एक दिन के शारीरिक परिश्रम का दान करना होगा। कोई टालमटोल कर निकल न जांय, इसके लिए राजा की कड़ी व्यवस्था थी।

मध्व, उनके शिष्य तथा उनके सहयात्रीगण, उस दिन खाल के निकट से ही यात्रा कर रहे थे। प्रहरी उन्हें पकड़ लाये। राजा का आदेश सुनाते हुए उन्होंने कहा, "तुम लोग अपनी झोला-झोली रखकर, कुदाल हाथ में लेकर, खुदाई के लिए प्रस्तुत हो जाओ।"

मध्व के शिष्य एवं साथियों ने उन्हें समझाया "भाई, हमलोग साधु-संन्यासी हैं। गंगा-तट पर तीर्थ-दर्शन हेतु जा रहे हैं। राजा ने जो कानून बनाया है, वह उनकी गृहस्थ-प्रजा मानकर चलेगी। भिन्नदेशी मनुष्यों तथा परिव्राजक-साधु संन्यासियों पर तो यह कानून लागू नहीं होता।"

किन्तु कौन किसकी बात सुनता है? राज्य के सिपाहियों ने जोर-जोर से चीखना-चिल्लाना तथा गाली-गुप्ता करना शुरू कर दिया।

मित्रों के साथ देवगिरि के राजा उस दिन खनन के कार्य की व्यवस्था देखने के लिए आये हुए थे। रक्षकों तथा साधुदल के शोरगुल को सुनकर वे उस तरफ बढ़ आये। गम्भीर स्वर में उन्होंने प्रश्न किया, "यह कैसा व्यापार है? काम-धाम बन्द करके इतना शोर-गुल क्यों किया जा रहा है?"

रक्षकों की ओर से सारी बातें कही जाने के पश्चात् मध्व ने राजा को संबोधित करते हुए कहा, "महाराज, साधारण प्रजा की मंगल-कामना से आपने इस खाल के खनन का आदेश दिया है, यह तो बड़ी अच्छी बात है। परन्तु इसके लिए साधु-संन्यासियों की धर-पकड़ क्यों?"

"राजा का विधान, साधु और असाधु सबके ऊपर ही प्रयोजनीय है।"

"कार्य का दायित्व प्रधानतः राजा तथा उसके गृहस्थ प्रजा-जनों का है। साधु-संन्यासी क्यों इसके लिए कायिक परिश्रम करने जाएँगे?"

"क्यों, साधु-संन्यासी क्या समाज से कुछ पाते नहीं? इनके भोजन-वस्त्र की व्यवस्था कहाँ से चलती है? जनसाधारण ही उनके भोजन की व्यवस्था करता है। इसके प्रतिदान में, जनकल्याण के कार्य में, उनका अंशदान क्या नहीं होना चाहिये?"

"महाराज, आप भूल कर रहे हैं। साधु-संन्यासियों के कार्य को आप स्थूल दृष्टि से क्यों देख रहे हैं! वास्तविकरूप में उनका कार्य सूक्ष्म धरातल पर संपन्न होता है। इनकी त्याग, तितिक्षा, प्रेरणा तथा आशीर्वाद ही वास्तविक कल्याण ला देता है।"

विरक्त स्वर में राजा महोदय बोल उठे, "आपकी इतनी सारी तत्व की बातों को सुनने का मेरे पास समय नहीं है। राज-सरकार से जो आदेश प्रचारित हुआ है, सभी को बिना विचार के उसे मानना ही होगा। अब क्षणभर भी देरी न करके आप सभी खनन के कार्य में उतर पड़ें।"

"ठीक है, महाराज के आदेशानुसार ही कार्य होगा, परन्तु उससे पहले एक क्षुद्र निवेदन है।"—आचार्य मध्व ने विनीत स्वर में कहा।

"क्या है, आपका निवेदन?"

"महाराज, आप इस राज्य के अधीश्वर हैं, प्रजा के पिता तथा रक्षाकर्ता हैं। प्रजा के मंगल हेतु जो आपने पवित्र अनुष्ठान शुरू किया है, उसमें आपके मंगल-हस्त का स्पर्श रहना उचित है। इतना बड़ा कार्य हो रहा है, परन्तु उसमें आपका स्पर्श पड़ रहा है क्या?"

"नहीं, वह तो नहीं पड़ रहा है।"—नरम होकर देवगिरि-राज ने स्वीकार किया।

"उस मूल का आज ही तथा अभी मार्जन करें महाराज ! आनुष्ठानिक रूप से थोड़ी मिट्टी काटकर उसे माथे पर उठाकर आप दूर फेंक आइये। इतने से ही आपके कर्त्तव्य की पूर्त्ति भी हो जायगी तथा प्रजागण को भी उत्साह तथा प्रेरणा मिलेगी।

"संन्यासीवर, आप ठीक ही कह रहे हैं। मैं आनन्द पूर्बक, अभी खनन के कार्य में हाथ लगाता हूँ।"—कहते हुए कुदाल और टोकरी लेकर राजा खाल के भीतर उतर पड़े।

खुदाई शुरू करते-करते राजा मानो भूताविष्ठ हो गये। दोनों नेत्र रक्तवर्ण हो उठे तथा नासिका से जोर-जोर की सांस निकलने लगी। यन्त्रचालित मानव-जैसे वे केवल टोकरी पर टोकरी मिट्टी काटते जा रहे हैं तथा इस कार्य में जैसे उनकी शान्ति तथा क्लांति सदा के लिए चली गयी है। पहर पर पहर बीतते जा रहे हैं, परन्तु काफी चेष्टा करने पर भी राजा को कोई इस कार्य से विरत नहीं कर पा रहा है। फिर क्या वे पागल हो गये हैं ? या किसी अशरीरी प्रेत का उनके ऊपर प्रभाव पड़ गया है ? मंत्री तथा राज-परिषद् के सदस्य, सभी, किंकर्तव्यविमूढ़ हो दौड़-भाग कर रहे हैं। प्रासाद में भी खबर दी गयी। रानी तथा पुरनारियाँ भीत एवं संत्रस्त्र हो रोने लगीं।

इतनी देर में सभी को यह अनुमान लग चुका है कि राजा की इस अस्वाभाबिक अवस्था के लिए संन्यासी मध्व ही जिम्मेदार हैं। मध्व के ही एक शिष्य ने इस अवधि में रहस्य का भेदन कर दिया। मुस्कराते हुए उसने कह दिया, "राजा का यह दुर्भाग्य ही है कि हमारे आचार्य कितने बड़े महापुरुष हैं, इसे वे समझ नहीं पाये। मध्व हैं वायु के अवतार तथा प्रभु नारायण की लीला के प्रधान सहायक। राज्य के ऊपर वे क्रुद्ध हो गये हैं, इसीलिए उनपर वायु का प्रकोप हो गया है। आचार्य को प्रसन्न न करने पर राजा की रक्षा संभव नहीं है। इसी तरह उन्हें दिन-रात, वर्ष पर वर्ष उन्हें मिट्टी खोदते ही रहना होगा।"

इसके बाद सभी मिलकर मध्व के चरणों में बार-बार क्षमा-प्रार्थना करने लगे। आचार्य के क्रोध प्रशमन के साथ-ही-साथ देवगिरि के राजा का भूताविष्ट भाव समाप्त हो गया। वे पूर्णरूप से स्वस्थ तथा स्वाभाविक हो उठे।

अब स्वजनों के साथ राजा, मध्व के चरणों में, प्रणत हुए तथा उनसे कृपा की भिक्षा मांगने लगे। प्रसन्न-मन से राजा को आशीर्वाद देते हुए मध्व ने कहा, "महाराज, एक बात सर्वदा स्मरण रखिएगा—साधु-संन्यासीगण, कर्म एबं ध्यान मनन के माध्यम से ही समाज का प्रकृत कल्याणसाधन करते जा रहे हैं।

भगवान श्री नारायण का दर्शन कितने लोग पाते हैं ? परन्तु नारायण के चिह्नित सेवक, साधु-संन्यासियों के दर्शन सभी अनायास पा जाते हैं। इन्हीं के माध्यम से पृथिवी और वैकुण्ठ में योग-सूत्र की रचना होती है। इसीलिए इस बात का ध्यान रखेंगे कि आपके राज्य में साधुओं की अमर्यादा न हो। आशीर्वाद देता हूँ, आपका यह खाल खनन का कार्यअ त्यन्त अल्प समय में ही समाप्त हो जायगा।"

अनुतप्त देवगिरि-राज को मध्व से क्षमा-भिक्षा प्राप्त हो गयी, परन्तु इस राज में कुछ दिन तक निवास करने के उनके सानुनय अनुरोध को मध्व ने स्वीकार नहीं किया।

आचार्य मध्व का आशीर्वाद शीघ्र ही फलित हो गया। राजा महोदय, अपने हाथों में कुदाल लेकर सारा दिन खाल खोदते रहे हैं, यह बात विद्युत गति से सर्वत्र फैल गयी। प्रजा, सहस्रों की संख्या में मत्त हो उठी तथा खनन के कार्य में लग गयी; राजा की मनोकामना इस तरह पूर्ण हो गयी।

पण्डित नारायण आचार्य, मणिमंजरी में परमगुरु मध्व के योग-विभूति प्रदर्शन की कई घटनाओं का उल्लेख करते हैं :

परिव्राजन करते-करते मध्व एवं उनके शिष्यगण, उत्तर-पश्चिम भारत के एक तुर्की-मुसलमान राजा के सीमा-क्षेत्र में आ गये। राज्य में प्रवेश करते समय रक्षकों की सेना ने उन्हें रोका। परन्तु आचार्य मध्व पीछे हटने वाले व्यक्ति नहीं थे। सेना-दल के सम्मुख खड़े होकर उन्होंने कई विशेष मुद्राओं का प्रदर्शन किया और साथही-साथ यह सेना-दल मंत्रमुग्ध सर्प की भांति उनके वशीभूत हो गया।

जनश्रुति है कि इसके बाद मध्व सीधा इस मुसलमान राजा के समक्ष जाकर उपस्थित हुए। आचार्य ने तुर्की भाषा कभी सीखी भी नहीं थी ; किन्तु सभी ने विस्मयपूर्वक देखा कि विदेशी, भिन्नधर्मी राजा के साथ, विदेशी भाषा में ही उन्होंने अनायास बातचीत प्रारंभ कर दी।

मध्व के गौर, सुगठित शरीर, दिव्यकांति एवं प्रखर व्यक्तित्व से मुसलमान राजा एकदम मुग्ध हो उठा। वह बार-बार अनुरोध करने लगा कि आचार्य कुछ दिन और अपने शिष्यों के साथ उसके राज्य में निवास करें। उनकी सेवा-परिचर्या में जो भी अर्थ-व्यय होगा, वह राज्यकोष से होगा। किन्तु मध्व के लिए वहाँ अधिक विलम्ब करना संभव नहीं था। तुर्की राजा को आंतरिक शुभेच्छा तथा आशीर्वाद देते हुए वे वहाँ से विदा हुए।

मध्व के प्रिय शिष्य तथा एकनिष्ठ सेवक सत्यतीर्थ एक बार महान विपत्ति में पड़े। रास्ता चलते-चलते साधुगण एक घने जंगल में आकर उपस्थित हुए। संध्या होने में अधिक विलम्ब नहीं था, थोड़ी ही देर में घना अंधकार हो जायगा। ऐसे समय में इस घने जंगल में रास्ता चलना कठिन हो जायगा। इसीलिए सोच-विचार कर सभी ने स्थिर किया कि आज यहीं विश्राम किया जाय तथा कल प्रातः डेरा-डण्डा उठाया जायगा।

सत्यतीर्थ अपना सामान उतार कर जल्दी-जल्दी इस वन की ओर चले गये। गुरु महाराज के रात्रि-आहार के लिए कुछ फल-मूल का संग्रह कर लेना आवश्यक है।

थोड़ी ही देर बाद, वन में एक हिंस्र व्याघ्र का गर्जन सुनाई पड़ा। सभी चिन्ता में पड़ गये। बेचारा सत्यतीर्थ बाघ की चपेट में तो नहीं आ गया? दल-बल के साथ आचार्य मध्व उस ओर दौड़ पड़े।

वन में प्रवेश करते ही जो दृश्य दिखलाई पड़ा, उससे सभी हत्वाक् हो गये।

सत्यतीर्थ, फल-संग्रह करने हेतु एक वृक्ष पर चढ़े हुए थे उनसे थोड़ी ही दूर पर एक हिंस्र बाघ आक्रामक मुद्रा में बैठा हुआ था। वृक्ष की ओर बार-बार वह अपने शिकार को देख रहा है तथा बीच-बीच में भयानक गर्जन कर रहा है।

इस यमदूत को देखकर सभी साधुगण भीत तथा संत्रस्त हो उठे। इस समय आचार्य मध्व के शरीर में एक दिव्य भाव का आवेश दृष्टिगोचर हुआ। भाव-कम्पित शरीर से धीरे-धीरे इस बाघ की ओर अग्रसर हुए। बाघ सम्मोहित-सा स्थिर बैठा हुआ एकटक देख रहा है तथा उसका गर्जन-तर्जन बन्द हो चुका है। उसके सामने खड़े होकर मध्व ने नीरव कई बार हस्त-संचालन किया। साथही-साथ हिंस्र बाघ सिर नीचा करके उस स्थान से धीरे-धीरे जंगल की ओर चला गया।

सभी को सांस आयी तथा सत्यतीर्थ को वृक्ष से उतार कर वे लोग वापस आये।

सत्यतीर्थ ने हाथ जोड़कर निवेदन किया, "आपके प्रति कृतज्ञता प्रकाश की चेष्टा मैं नहीं करूँगा, कारण आपके चरणों में ही अपने को मैंने समर्पित कर दिया है; परन्तु एक प्रश्न मेरे मन में बार-बार उठ रहा है। मेरे-जैसा नगण्य मनुष्य को बचाने के लिए आप अपने अमूल्य जीवन को क्यों संकट में डालने गये थे?"

शांत-स्वर में गुरु ने कहा, "वत्स, तुम्हारा जीवन तो विष्णु भगवान के काम में उत्सर्गित है। ईश्वरीय कर्म के संपादन हेतु तुम्हारा बचे रहना प्रयोजनीय था। तुमने मेरे गीता-भाष्य एवं सूत्र-भाष्य की अनुलिपि लिखी है। सेवा तथा कर्म में मेरी नाना प्रकार से सहायता की है। इसके अलावा ईश्वर द्वारा आदिष्ट अनेक कार्यों में तुमने मेरी सहायता की है। इसी बात को तो मैंने हिंस्र बाघ को इशारे द्वारा समझा कर बतलाया। इसीसे तो वह कोई प्रतिवाद न कर तुम्हें छोड़कर चला गया।"

अपने योगविभूति तथा इस अलौकिक घटना की बात मध्व ने कितने सहज भाव से कह डाली। शिष्य तथा साथी लोग विस्मयपूर्वक एक-दूसरे का मुँह देखते ही रह गये।

दीर्घ परिव्राजन की समाप्ति पर मध्व वाराणसी आकर उपस्थित हुए। यहाँ की प्रधान मठ-मण्डलियों के साथ उनकी घनिष्ठता हुई। गीता-भाष्य एवं ब्रह्मसूत्र-भाष्य की जिस नूतन द्वैतवादी भक्ति-धर्म की उन्होंने व्याख्या की थी, उस सम्बन्ध में स्थानीय साधक एवं पण्डितों के साथ उनके विचार-विनिमय का सुयोग हुआ। इसके बाद अपने मतवाद की शास्त्रभित्ति को और दृढ़ करके मध्व ने पवित्र साधन-धाम हरिद्वार में प्रवेश किया।

मध्व के अनेक दिनों की व्यास-गुहा में बैठकर तपस्या करने की लालसा-इस उद्देश्य से कि श्रीनारायण के अवतार, व्यासदेव का पुण्यदर्शन करेंगे और उसके बाद उनके चरणों मे स्वरचित वेदान्त-सूत्रों के भाष्य को समर्पित करेंगे, फलीभूत हुई। सुदीर्घ ध्यान तथा मनन के पश्चात्, महामुनि व्यास उनके चक्षुओं के समक्ष ज्योतिर्मय मूर्त्ति में आविर्भूत हुए। मधुर हँसी हँसते हुए उन्होंने अपने हाथों से सूत्र का भाष्य उठाकर उन्हें कृतार्थ किया।

इसके बाद महामुनि ने कहा, "मध्व, मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ। तुम्हारे मतवाद ने भारतीय दर्शन को पुष्ट किया है तथा इस युग में भक्तिधर्म के विस्तार-साधन का हेतु हुआ है। भक्ति प्रचार की ओर दृष्टि रखते हुए अब तुम महाभारत के भाव निर्णयकारी एक ग्रन्थ की रचना करो। इससे तुम्हारा पुण्यकर्म सहजतर होता जायगा।"

मध्व के हाथों में एक संपुट देते हुए उन्होंने स्नेहपूर्वक आगे कहा, "वत्स, इसमें तीन, परम पवित्र शालग्राम शिलाएँ हैं। वापस जाकर इन शिलाओं को जिन-जिन स्थानों पर तुम स्थापित करोगे, वे स्थान जाग्रत पीठों के रूप में प्रसिद्ध हो जाएँगे।[1]

---

१. इस परम पवित्र शिलात्रयों को मध्वाचार्य ने समारोहपूर्वक सुब्रमण्य, उडुपी एवं मध्यतल, इन तीन मठों में स्थापित किया था।

इस अयाचित करुणा से मध्व आविर्भूत हो उठे। दोनों नेत्रों से आनन्दाश्रु झड़ने लगे। महामुनि के चरणों में साष्टांग प्रणाम करके वे गुहा से बाहर आ गये।

हिमालय की गोद में स्थित तीर्थों के परिव्राजन के पश्चात् मध्व ने समतल भूमि पर अवतरण किया। अब से वे आध्यात्मिक भारत के वृहत्तर रंगमंच पर आकर उपस्थित हुए तथा आरम्भ हुई भक्तिसिद्ध महासाधक, अद्वैतवादी महादार्शनिक, मध्वाचार्य की अविस्मरणीय भूमिका।

नाना सम्प्रदायों के वैष्णवों के भीतर भी मध्व अनुगामी कट्टर द्वैतवादी होते हैं।

सारा जीवन मध्व शंकर के केवलाद्वैतवाद के विरुद्ध संग्राम करते रहे। उन्होंने अपने ग्रन्थों में प्रचुर शास्त्रीय उद्धृति, युक्तितर्क एवं तथ्य प्रमाण प्रस्तुत किया है। परन्तु इस बात को भी स्वीकार करना होगा कि शंकर के मत का खण्डन करते समय श्रुति की अपेक्षा स्मृति पर ही निर्भर रहे हैं, तथा वेद-उपनिषत् की अपेक्षा पुराण-शास्त्रों की ही उन्होंने अधिक सहायता ली है।

रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद, वैष्णव आन्दोलन की एक बहुत बड़ी भित्ति है। परन्तु मध्व अपने सर्वजन श्रद्धेय पूर्ववर्त्ती के मतवाद के ऊपर भी आघात करने में पीछे नहीं रहे हैं।

मध्व-मत की प्रधान भित्ति है भेदवाद। ईश्वर एवं जीव, सेव्य वस्तु तथा सेवक नित्य पृथक तथा नित्य भेदयुक्त हैं। मात्र इतना ही नहीं, ईश्वर स्वतन्त्र है तथा और सभी परतन्त्र अथवा ईश्वर पर निर्भर। उनका यह द्वैतवाद दार्शनिक क्षेत्रों में स्वतन्त्र—अस्वतन्त्रवाद नाम से परिचित है। मध्व-पन्थीगण, अपने सम्प्रदाय को सद्-वैष्णव कहते हैं।

मध्वाचार्य ने ब्रह्म अथवा परमात्मा के स्थान पर विष्णु अथवा नारायण को स्थापित किया है। उनका कथन है कि सृष्टि के आदि से एक एवं अद्वितीय आनन्दस्वरूप भगवान नारायण विराजित थे। उस समय ब्रह्मा अथवा शिव कोई भी नहीं थे। [१]

---

१. एको नारायण आसीत् न ब्रह्मा न च शंकरः,
आनन्द एक एवाग्र आसीन्नारायणः प्रभु ॥

इन विष्णु के शरीर से ही यह विश्वचराचर[1] सृष्ट हुआ है एवं ये विष्णु वा नारायण ही एकमात्र सत् वस्तु है। अशेष सद्गुण के आधार भी वे ही हैं। वे निर्दोष एवं स्वतन्त्र हैं। वे व्यतीत हैं, और सारा कुछ अस्वतन्त्र अर्थात् ईश्वर के आधीन हैं।[2]

जीव और ईश्वर के इस केवल-भेद के अलावा आचार्य ने और पाँच प्रकार के भेदों के अस्तित्व का समर्थन किया है। जीव और ईश्वर का भेद, जड़ और ईश्वर में भेद, जड़ एवं जीव में भेद तथा जीव-समूह एवं जड़पदार्थ-समूह में अभ्यन्तरीण एवं परस्पर भेद—इन्हीं पांच भेदों को उन्होंने प्रपंच की संज्ञा दी है।[3]

आचार्य के मत से, जीव को मोक्ष अथवा मुक्ति तभी मिलती है जब उसके जन्म-मृत्यु का यातायात या पुनर्जन्म का अवसान घटित होता है तथा वह तभी संभव होता है जब वह वैकुण्ठ में नारायण के पास स्थिति लाभ करता है।

उन्होंने और भी कहा है कि मुख्य प्राणवायु की ही उपासना श्रेष्ठ है—एवं नारायण के पुत्र, वायु की कृपा के अलावा, मोक्ष-लाभ की और कोई संभावना नहीं है। मध्व के अनुगामी वैष्णवों का विश्वास है कि इस युग में मध्व ही वायु के अवतार हैं। इसी कारण, वे ही मनुष्य के त्राणकर्त्ता हैं। पुण्य-कर्म के लिए मध्व ने अक्षय स्वर्गवास की व्यवस्था दी है, तथा माध्व वैष्णववाद के विरोधियों के लिए उन्होंने अनन्त नरकवास की व्यवस्था दी है।[4]

---

१. विष्णोर्देहाज्जगत् सर्वमाविरासीत्।
२. महोपोनिषद् का—"यथा पक्षी च सूत्रंच नाना वृक्ष रसा यथा'—इत्यादि श्लोकों में आचार्य मध्व के द्वैतवाद का काफी आभास मिलता है।
३. विश्वकोष, पृ० १०२।
४. मध्व के अलावा अन्य किसी प्रथम श्रेणी के भारतीय दार्शनिक अथवा साधक ने अनन्त नरकवास के बात का प्रचार नहीं किया है। इसीलिए अनेक लोगों की धारणा है कि ईसाई धर्म के मतवाद से प्रभावित होकर ही मध्व ने यह बात कही है। दक्षिण भारत का कल्याणपुर ईसाइयों के प्राचीन उपनिवेश के रूप में विख्यात है। ६ठीं सदी में पर्यटक कसमस इनडिको प्लायस्टस, कल्याणपुर में एक ऐसे धर्मप्रचारक से मिले थे जो फ़ारस होकर इस देश में आये थे। यह कल्याणपुर, मध्व के जन्मस्थान पाचका के समीप ही समुद्र के किनारे था। इसी कारण निकटवर्त्ती ईसाई-समाज की दो-एक बातों का मध्व के मतवाद के साथ मिल जाना, बहुत आश्चर्यजनक नहीं है—
द्रष्टव्य : हेस्टिंग्स इनसाइक्लोपीडिया आफ़ रिलिजन एण्ड एथिक्स, भोल्यूम : ६।

मध्व के मतवाद के अनुसार जीवात्मा स्वाभाविकरूप से ही अविद्या द्वारा आवृत्त है। भगवान के स्वरूप के सम्बन्ध में ज्ञान-लाभ होने पर ही यह आवरण हटता है तथा मोक्ष-लाभ सम्भव हो पाता है। उन्नत श्रेणी के जीवात्मा ही यह ज्ञान-लाभ कर पाते हैं और इसके लिए उन्होंने अठारह अनुशासनों की व्यवस्था दी है। इनमें से प्रधान हैं—वैराग्य, शम, गुरुसेवा, भगवत् चरणों में भक्ति, उपासना, पूर्वमीमांसा के अनुसार शास्त्रीय अनुष्ठान तथा असत्य मतवादों का विरोध इत्यादि।

उनके मतानुसार विष्णु-सेवा के तीन उपाय हैं : प्रथम—अंकन अथवा साधक के विभिन्न अंगों पर विष्णु के शंख-चक्र इत्यादिक चिह्नों का धारण। द्वितीय—नामकरण, अर्थात् विष्णु के विभिन्न नामों के ही अनुरूप पुत्रादिकों का नाम रखना। तृतीय—कायिक, वाचिक एवं मानसिक, त्रिविध भजन।

जीवन के अंतिम चरण में आचार्य मध्व ने उडुपी तथा अन्यान्य स्थानों में कृष्ण-मन्दिरों की स्थापना की थी। परन्तु, अखिल रसामृत-मूर्त्ति श्रीकृष्ण को उन्होंने इष्टरूप से ग्रहण किया था, अथवा मधुर-भजन के मार्ग का अनुसरण किया था, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता।

कुछ लोगों की ऐसी भी धारणा है कि मध्व-मतवाद से ही गौड़ीय वैष्णव आन्दोलन का उद्भव हुआ है, एवं गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय मध्व सम्प्रदाय का ही एक अंग है। वास्तविक रूप में इस धारणा की कोई भित्ति नहीं है।[1]

---

१. महाप्रभु श्री चैतन्य ने स्वयं अथवा उनके विशिष्ट शिष्य या अनुगामियों ने भी, कभी भी मध्व को आदिगुरु के रूप में सम्बोधित नहीं किया है, अथवा अपने को मध्व सम्प्रदाय की एक शाखा नहीं बताया है। वरन् इसके प्रतिकूल नाना स्थानों पर माध्व या तत्ववादियों की समालोचना ही की है। गौड़ीय गणोद्देश्य दीपिका में उद्धृत मध्वमठ की एक गुरुपरम्परा एवं बलदेव विद्याभूषण की उक्ति से ही इस भ्रान्त धारणा का जन्म हुआ है। आधुनिक गवेषकों द्वारा गौड़ीय गणोद्देश दीपिका का वह श्लोक प्रक्षिप्त प्रमाणित हुआ है। बलदेव आरम्भ में माध्व सम्प्रदाय के अधीन थे। बाद में वे गौड़ीय वैष्णव साधक राधादामोदर दास का शिष्यत्व ग्रहण करके गौड़ीय गोष्ठी में सम्मिलित हो गये। उस समय भी बलदेव मध्व-सम्प्रदाय के प्रभाव तथा आकर्षण का त्याग नहीं कर पाये थे। इसके अलावा, जयपुर में रहते हुए वे अपर सम्प्रदाय के वैष्णवों की तीव्र विरोधिता के लिए भी प्रस्तुत हुए थे। गौड़ीय वैष्णवगण श्रुति की परन्यता

(शेष पृष्ठ २७ के नीचे)

व्यास-गुहा, बद्रीनारायण इत्यादि हिमालय के जाग्रत तीर्थसमूहों में कुछ दिनों तक निवास करने के बाद मध्वाचार्य समतल भूमि पर आ गये। इन्ही दिनों, उन्होंने भारत के प्रधान-प्रधान तीर्थ-नगरों का परिभ्रमण किया तथा अपनी व्याख्या के भक्तिवाद का प्रचार किया।

उसके बाद आचार्य दाक्षिणात्य की ओर वापस लौट आये। गोदावरी तीर्थ तथा जनपद में बहुत-से नर-नारियों ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। इस क्षेत्र में शोभन भट्ट तथा स्वामी शास्त्री नामक दो पंडितों का खूब प्रभाव तथा मान्यता थी। इन दोनों शास्त्रविद् ब्राह्मणों ने मध्व के साथ शास्त्रार्थ में परास्त होकर तथा उनके व्यक्तित्व तथा साधन-ऐश्वर्य से आकृष्ट होकर उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। शोभन भट्ट का संन्यास नाम पड़ा— पद्मनाभ तीर्थ। मध्व के बाद वे ही उडुपी के अध्यक्ष हुए।

मध्व के गुरु आचार्य अच्युतप्रकाश के अद्वैतवादी संन्यासी होने पर भी भक्तिवाद के ऊपर उनका सहजात आकर्षण था। प्रतिभाधर प्रिय शिष्य का

(पृष्ठ २६ का शेषाँस)

तथा उनके अपने वेदान्त भाष्य क्यों नहीं हैं, इन सब प्रश्नों के उत्तर देते हुए भी उन्हें निवृत होना पड़ा। इन सभी कारणों से बलदेव गौड़ीय सम्प्रदाय को मध्व सम्प्रदाय के अधीन घोषणा करने के लिए प्रेरित हुए।

साध्य-साधन के विषय में चैतन्य-मत तथा मध्व-मत में मूलगत पार्थक्य है।चैतन्य का धर्म, श्रीमद्भागवत के अनुकूल है तथा मध्व का धर्म, महाभारत के द्वारा प्रभावित है। चैतन्य ने गोपी प्रेम तथा गोपीयजन को ही उच्चतम स्थान दिया है। मध्व ने इसके विपरीत बात कही है। उनके मतानुसार महाभारत ही श्रेष्ठ शास्त्र है। उन्होंने और भी कहा है कि कृष्णभक्ति से ब्रह्मा ही श्रेष्ठ हैं तथा गोपिकाएँ काफी निम्नस्तर पर अवस्थित हैं (द्रष्टव्य : मध्वाचार्य : भागवत तात्पर्यम् ११/१२/२२)। इसके अलावा, "मध्वाचार्य ने ब्रजवधुओं की स्वर्वेश्याओं के साथ तुलना करके श्रीमद्भागवत् एवं श्री मद्भागवतानुगामी गौड़ीय संप्रदाय के पारकीय सिद्धान्त को हेय प्रतिपादित किया है"—(द्रष्टव्य : सुन्दरानन्द विद्योविनोद : अचिन्त्यभेदाभेदवाद, श्री बलदेव विद्याभूषण, पृ०–१९९)। सुतरां महाप्रभु के महान् गौड़ीय सम्प्रदाय को मध्व मतावलम्बी कहना तर्कसंगत नहीं है। वास्तविकरूप में चैतन्य महाप्रभु स्वतंत्र पुरुष हैं—उन्होंने स्वयं ही अपने धर्म-साम्राज्य की स्थापना की है।

साहचर्य एवं आकर्षण तथा उनकी भक्तिपरक शास्त्र-व्याख्या एवं द्वैतवादी नवीन संप्रदाय का प्रवर्त्तन ने अच्युतप्रकाश को नवीन रूप से उद्दीपित किया। अंततः मध्व के दार्शनिक मतवाद एवं साधन-प्रणाली को उन्होंने ग्रहण किया।

उपर्युक्त पण्डितों के आगमन के बाद मध्व का वैष्णव-आन्दोलन पहले की अपेक्षा, बहुत अधिक शक्तिशाली हो उठा। सैकड़ों की तायदाद में नर-नारी उडुपी आकर उनका परमाश्रय ग्रहण करने लगे।

मध्व-मत का यह प्रसार एवं भक्तिवादियों की बढ़ती हुई संख्या से शृंगेरी मठ के व्यवस्थापकगण चिन्तित हो उठे। नवीन वैष्णव संप्रदाय का भक्तिवाद, भजन-पूजन का सहज मार्ग, जनसाधारण के लिए अधिक सहजबोध्य था। इसके साथ ही संयुक्त हो गया था, नवदीक्षित पण्डित एवं संन्यासियों की त्याग-तितिक्षा एवं उद्यम। फलस्वरूप, दिन पर दिन, आचार्य मध्व के शिष्य, भक्त एवं अनुगामियों की संख्या बढ़ती ही रही।

उन दिनों धर्मतीर्थ शृंगेरी मठ के अध्यक्ष थे। मठ के संन्यासियों को बुलाकर उन्होंने एक गुप्त सभा का आयोजन किया। मध्वाचार्य के प्रभाव को किस तरह समाप्त किया जाय तथा उडुपी मठ को किस तरह बल-हीन किया जाय, यही सबसे बड़ी समस्या थी। काफी परामर्श के बाद यही स्थिर हुआ कि मध्व के भक्ति-आंदोलन पर एक साथ विविध प्रकार से प्रहार करना होगा, तथा उसके बाद चरम आघात करके उसे विध्वस्त करना होगा। शृंगेरी के सभी संन्यासियों को इस लड़ाई में जूझना होगा। मठ के अनुगत राजवाड़े तथा धनी व्यक्ति, जो मठ के शिष्य तथा समर्थक हैं उनसे अर्थ तथा लोक-बल संग्रहित करना होगा। हरेक जनपद, विद्याकेन्द्र तथा मठ-मंदिरों में प्रतिपक्ष के मतवाद का खण्डन करना होगा। उडुपी-मठ में मध्वाचार्य ने भक्तिशास्त्र की एक विशाल ग्रन्थशाला खड़ी कर दी थी। इस ग्रन्थागार को ध्वस्त करने का षडयन्त्र इस सभा में हुआ।

प्रचण्ड उत्साह के साथ, शृंगेरी के संन्यासीगण, इस लड़ाई में कूद पड़े। उनका मठ अत्यन्त प्राचीन था, तथा दल में भी लोगों की संख्या अधिक थी। इस क्षेत्र के धनी तथा प्रभावशाली व्यक्तियों में भी अधिकांश उनके समर्थक थे। मध्व तथा उनके शिष्यों के लांछना तथा उत्पीड़न की सीमा नहीं रही। उनकी प्राणप्रिय ग्रन्थशाला का भी कौशलपूर्वक विनाश कर डाला गया। निविड़ रात्रि में अनायास ही यह एक दिन लूट लिया गया। जिन सभी दुष्प्राप्य शास्त्र-ग्रन्थों के ऊपर निर्भरशील होकर मध्व ने अपने नूतन मतवाद की स्थापना की थी, तथा भक्त एवं शिष्यों की इतनी बड़ी जमात खड़ी कर डाली थी, वे

इस दुश्चक्र में न जाने कहाँ विलीन हो गये। आचार्य एवं उनके अनुगामीगण इस चरम आघात से प्रायः संज्ञाहीन हो पड़े।

परन्तु, मध्व, हार मानने वाले नहीं थे। जिस ईश्वरीय-कार्य का भार उन्होंने ग्रहण किया था, उस पर चरम आघात पड़ने पर भी वे विरत नहीं होंगे। विष्णुमंगल के राजा जयसिंह का शृंगेरी मठ में आना-जाना था, तथा इनकी मध्व के ऊपर भी श्रद्धा थी। सोच-विचार कर, एक दिन मध्व राजा जयसिंह के समक्ष उपस्थित हुए। कहा, "महाराज, प्राचीन पोथी-पत्रों का यह अपहरण मात्र वैष्णवों की ही क्षति नहीं है, वरन् यह सारे शास्त्रविदों की तथा देश की क्षति है। धर्म तथा संस्कृति के भावी गवेषक के स्वार्थ की इससे हानि होती है। आप थोड़ी चेष्टा करें तथा शृंगेरी के मठाधीश को समझाकर कहें, और अमूल्य शास्त्रग्रन्थों के पुनरुद्धार में सहायक हों।"

राजा जयसिंह मध्यस्थता करने के लिए राजी हो गये। शृंगेरी जाकर, उन्होंने मठाधीश को काफी समझाया तथा अपने प्रभाव एवं मर्यादा का भी प्रयोग किया। उनका यह दौत्य-कार्य सफल हुआ एवं शास्त्रग्रन्थों को वे उडुपी ग्रन्थागार में वापस भिजवाने में सफल हो गये।

इस घटना के बाद भी काफी दिनों तक उभय मठों की मतविरोधिता एवं वैर चलता रहा। उत्तरकाल में अवश्य इस मतविरोध का अवसान हुआ और माध्व-वैष्णव एवं शृंगेरी के अद्वैतवादी सन्यासियों के मध्य शान्ति स्थापित हुई तथा दोनों पक्ष एक दूसरे की सम्मान-रक्षा के लिए यत्नवान हुए। इन दिनों उडुपी एवं शृंगेरी मठ में तीर्थकामी वैष्णव तथा अद्वैतवादीगण यातायात करते थे, इसका प्रमाण उपलब्ध है।

जो सब वैष्णव-विरोधी प्रभावशाली पण्डित आचार्यों ने मध्व की शरण लेकर वैष्णवधर्म ग्रहण किया था, उनमें विशिष्टतम थे त्रिविक्रम आचार्य। ये एक विख्यात शैव थे। मात्र मध्व के युक्ति-तर्क तथा शास्त्रार्थ-दक्षता देखकर ही नहीं वरन् उनके त्याग तथा तितिक्षामय जीवन एवं अपूर्व साधन-निष्ठता से मुग्ध होकर ही त्रिविक्रम ने आत्मसमर्पण किया था। उनके द्वारा मध्व-मत-ग्रहण ने बहुत-से शैवों को मध्व-मत का अनुरागी बना डाला। इन नवदीक्षित पण्डित के पुत्र, नारायण आचार्य ही उत्तरकाल में मध्व की जीवनी के रचयिता हुए। दीक्षादान के समय मध्व ने त्रिविक्रम आचार्य को एक नयन-मन-लोभन कृष्णमूर्त्ति उपहार में दी। आज भी कोचीन राज्य में (दक्षिण कनारा में) भक्त वैष्णवगण तीर्थयात्रियों को इस अनुपम विग्रह का साग्रह दर्शन कराते हैं।

१२७५ ई० में मध्व के पिता का देहावसान हुआ। इसके थोड़े दिनों के बाद ही मध्व के कनिष्ठ भ्राता ने, पूर्व परिकल्पना के अनुसार, संन्यास ग्रहण किया। दीक्षा के पश्चात्, उनका नवीन नामकरण हुआ, विष्णुतीर्थ। आचार्य मध्व के वैष्णव आन्दोलन में विख्यात पण्डित विष्णुतीर्थ का अवदान प्रचुर है।

जीवन के अंतिम चरण में मध्व की भक्तिसाधना में रूपान्तर घटित हुआ। नैष्ठिक भक्तिवाद धीरे-धीरे भावमयता और रस की ओर झुकता गया। इतने दिनों तक हृदयासन पर शेषशायी विष्णु अधिष्ठित थे, परन्तु अब उस पर अधिकार किया अखिलरसामृत सिंधु श्रीकृष्ण की बाल-गोपाल मूर्ति ने।

ध्यान-समाहित मध्व के नयनों के समक्ष, प्रभु, बालगोपाल रूप में आविर्भूत हुए। उलाहना देते हुए उन्होंने कहा, "आचार्य, इतने मठ-मंदिर तो आपने बनवाए, परन्तु मेरे लिए एक भी स्थान नहीं रखा। यह तुम्हारा कैसा प्रेम तथा भक्ति? मैं शीघ्र ही आ रहा हूँ। मेरी मूर्त्ति तुम पाओगे। सागर से वापस आती हुई नौका के अंदर में मैं रहूँगा। मुझे निकालकर तुम अपने मंदिर में स्थापित करना।"

प्रभु अंतर्ध्यान हो गये, परन्तु मध्व के हृदय में उनकी मधुसिक्त वाणी झंकृत होती रही। दिव्य आनंद से आचार्य मध्व की संपूर्ण काया प्लावित हो गयी। दैवी आश्वासन की प्रेरणा पाकर वे नवीन चेतना से उद्बुद्ध हो उठे।

कई दिन बाद की घटना है। शिष्य एवं भक्तों के आमंत्रण पर, मध्व सागर-तट पर मालपी बन्दर गये हुए थे। प्रातःकाल ध्यान-जप की समाप्ति पर आचार्य बन्दर के किनारे एकाकी टहल रहे थे। सहसा, दूर एक समुद्रगामी नौका दृष्टिगोचर हुई। समुद्र के मुहाने पर एक तरफ, कुछ दिनों से सागर-तल ऊँचा हो गया था। नदी के ऊपरी भाग से अनायास यह दृष्टिगोचर नहीं होता था। समुद्रगामी नौका के नाविक इस अदृश्य टीले से बड़ी विपत्ति में पड़ गये थे। जिधर भी वे नाव बढ़ाने की चेष्टा करते, नौका उससे लग जाती। बाहर निकलने का कोई रास्ता ही नहीं मिल रहा था।

दूर से ही आचार्य मध्व को देखकर, मांझी ने पुकार कर रहा, "साधु बाबा, मैं महान विपत्ति में पड़ गया हूँ। इस रेती से मेरे लिए नौका निकाल पाना संभव नहीं हो पा रहा है, कृपया गहरे पानी की ओर निकलने का रास्ता बतला दें।"

मध्व ने चिल्ला कर कहा, "नाविक, भय न करो। अपना यह उत्तरीय मैं जिस ओर हिला रहा हूँ, उसी को लक्ष्य करके तुम नौका चलाओ, रास्ता तुम्हें मिल जायगा।"

सिद्ध पुरुष मध्व को अपनी अलौकिक विभूतियों के बल से नदी तल की अवस्था का ज्ञान हो गया था। ठीक किस मार्ग से चलने से नौका रेती से मुक्ति पा सकेगी तथा गंभीर जल में निकल जायगी, मांझी को इतने ही निर्देश की आवश्यकता थी। तट पर ही खड़े होकर बार-बार वे अपना उत्तरीय हिला रहे हैं, और मांझी उसी के अनुसार नौका का चालन कर रहा है। अन्ततः दुःसह परिस्थिति समाप्त हुई और रेती से मुक्त होकर नौका, बन्दर में एक तरफ आकर लगी।

नाविक का हृदय कृतज्ञता से भर उठा था। भक्तिपूर्वक मध्व को प्रणाम करते हुए उसने कहा, "प्रभु, आपकी कृपा से आज मैं नौका को बचाने में समर्थ हो सका। ऐसा न होने पर, धन तथा जीवन दोनों से ही हाथ धो बैठता। मेरा घर दक्षिण में ही आदमा ग्राम में है। माल-पत्र बेचने के लिए द्वारका गया था। वापस आने पर यह विपत्ति पड़ी। भाग्य से ही इस समय यहाँ आपका दर्शन मिला। प्रभु, मेरी उत्कट इच्छा है कि आपको कुछ अर्थ-दान करूँ, जिसे आप प्रभुकी सेवा में लगावें।"

"बाबा, तुम्हारे अर्थ के लोभ के कारण मैं प्रातःकाल से ही बन्दर पर आकर खड़ा नहीं हुआ। तुम यहाँ आओगे तथा नौका विपत्ति में फंस जायगी, यह मुझे पहले से ही पता था। नौका के गर्भ में क्या है यह तो बताओ?"

मांझी ने सोचा, 'साधुबाबा निश्चय ही जान गये हैं कि नौका के भीतर बहुत कीमती सामान है। उसमें से वे कुछ चुनकर लेना चाहते हैं।' उसने हंस कर कहा, "प्रभु, नौका के पेंदे में कीमती सामान कुछ भी नहीं है। मात्र मिट्टी के ढेलों का एक ढेर है। द्वारका में सभी माल बिक गया। वापस आते समय खाली नौका हिलने-डुलने लगी। मैंने सोचा कोई भारी वस्तु अंदर डाल लिया जाय। गोपी-सरोवर पास ही था। वहाँ की मिट्टी जिसे गोपीचंदन कहा जाता है, काफी पवित्र है; उसी के कई बड़े-बड़े खण्ड मैंने नौका में डाल लिया। सोचा, नौका को भारी करने का कार्य इससे सिद्ध हो जायगा तथा यह गोपीचन्दन यहाँ के भक्त मनुष्यों में बेच भी दूँगा। इसके अलावा कोई कीमती सामान मेरे पास नहीं है।"

"भाई, यही वस्तु ही मेरे लिए अत्यन्त कीमती और महापवित्र है।"—आचार्य मध्व ने प्रसन्न-स्वर में उत्तर दिया। "तुम उसी में से चुन कर सबसे बड़ा खण्ड मुझे दे दो। तुम्हारे मिट्टी के ढेले में कोई परम वस्तु छिपी हुई है, यह तुम नहीं जानते, भाई।"

"ठीक है, आपकी जैसी अभिरुचि है, वैसा ही होगा ।"—आनन्द पूर्वक यह बात कहते हुए मांझी ने एक वृहत् गोपीचन्दन का खण्ड नौका के तले से बाहर निकाला और आचार्य मध्व के पास रख दिया ।

साथही-साथ एक अद्भुत काण्ड घट गया । इसके भीतर से शिलामय, एक अनिन्द्य सुन्दर, बालगोपाल की मूर्त्ति बाहर निकल आयी । गोपाल के दक्षिण हस्त में था दही मथने का दण्डा और बाएँ हाथ में मन्थन-दण्ड की रस्सी ।

सद्यःप्रकटित इस श्रीमूर्त्ति को लेकर मध्व तथा उनके भक्त शिष्यगण, समारोहपूर्वक उडुपी वापस आये । गोपीचन्दन-लिप्त बालगोपाल को यहाँ के सबसे बड़े सरोवर [1] के तीर पर लाकर उनका स्नान-अभिषेक किया गया, तथा पूजा-अर्चना की समाप्ति पर एक नवनिर्मित मठ में स्थापित किया गया ।

आठ प्रधान संन्यासी-शिष्यों के ऊपर मध्व ने अपने परम प्रिय बालगोपाल की अर्चना, भोग-राग एवं सर्वविध सेवाकार्य का भार न्यस्त किया । [2]

मध्व का दीर्घ-जीवन त्याग-तितिक्षा एवं तपस्या से भरा हुआ था । दार्शनिक मतवाद का विस्तार, भक्ति-धर्म का आन्दोलन एवं वैष्णव [3] ग्रन्थों की रचना तथा प्रचार के माध्यम से वे भारत के धर्म एवं संस्कृति के ऊपर एक अमीट छाप छोड़ गये हैं । उनके उत्तर साधकों ने भी उनके द्वैत मतवाद एवं वैष्णव-आन्दोलन को परिपुष्ट करने के कार्य में कम ख्याति नहीं अर्जित की है । [4]

---

१. यह सरोवर आज भी स्थानीय जन-समाज में मध्व-सरोवर के नाम से परिचित है ।

२. परवर्तीकाल में इन आठ संन्यासी-शिष्यों ने विभिन्न क्षेत्रों में आठ कृष्ण-मंदिरों की प्रतिष्ठा की । ये ही आठ मठ फिर दो-दो करके द्वन्द्व मठ के नाम से परिचित हुए । उडुपी के मूल मध्व-मठ को उत्तरादि मठ के नाम से संबोधित किया जाता है । आचार्य मध्व के बाद मूलमठ के अध्यक्ष हुए, उनके मंत्र-शिष्य, पद्मनाभं तीर्थ ।

३. मध्व के प्रधान ग्रन्थत्रयों के नाम हैं—गीता भाष्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, महाभारत तात्पर्य निर्णय । इनके अलावा वे और भी ३५ धर्मग्रन्थों की रचना कर गये हैं ।

४. मध्वमतावलम्बी दार्शनिक व्यासराज द्वारा रचित 'न्यायामृत'—अद्वैतवाद-विरोधी एक प्रधान ग्रन्थ है । उत्तरकाल में भारतप्रसिद्ध मनीषी, मधुसूदन सरस्वती को, इस ग्रन्थ के युक्ति खण्डन में कठिन परिश्रम करना पड़ा था ।

निर्दिष्ट ईश्वरीय कर्म का एक विराट् अध्याय का समापन करके आचार्य ने एक दिन अपने अंतरंग भक्त-शिष्यों के समीप अपनी मर्त्य लीला छेदन का अभिप्राय व्यक्त किया। १३०३ ई. में शुक्लानवमी तिथि। इन दिनों सरिदन्तर नामक स्थान पर आचार्य प्रधान शिष्यों को ऐतरेय उपनिषद् की भक्तिमूलक व्याख्या प्रदान करने में रत थे। इसी समय लीला अवसान का परम मुहूर्त अग्रसर हुआ। इष्टध्यान समाहित होकर आचार्य मध्व ने अंतिम निःश्वास त्याग किया तथा इष्टधाम की नित्यलीला में प्रविष्ट हो गये।

मात्र दाक्षिणात्य में ही नहीं, सारे भारत के आध्यात्मिक आकाश में ही एक वज्रपात घटित हुआ।

सनातन गोस्वामी

नीलाचल से श्रीचैतन्य नवद्वीप आये हुए हैं। उद्देश्य, जननी के चरण-दर्शन और कुछ दिनों तक पवित्र गंगातीर पर वास। ये दोनों कार्य पूरे हो चुके हैं। अब हृदय वृन्दावन के लिए व्याकुल हो उठा है। प्राण गोविन्द की लीलाभूमि के दर्शन को मन उद्वेलित हो उठा है, तथा जमुना स्नान लाभ करने की इच्छा भी दुर्निवार हो उठी है। इसीलिए प्रभु अपनी जमात के साथ जल्दी-जल्दी व्रज की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

किन्तु यह कैसा विचित्र काण्ड? झारखण्ड के मार्ग से न जाकर वे सहसा उत्तर की ओर बादशाह हुसेन शाह की राजधानी गौड़ की ओर क्यों चल पड़े हैं? क्या वे रास्ता भूल गये है? अथवा, उनके मन में क्या है, कौन जाने?

कृष्ण-प्रेम में प्रभु नितान्त मत्त हैं, तथा साथियों के अंतर में भी यह प्रेम की लहर पहुँच चुकी है। नृत्य तथा कीर्त्तन से सारा मार्ग मुखर हो उठा है। और, इस देव-प्रतिम संन्यासी के पीछे-पीछे, भावाकुल अपार जन-समूह चल पड़ा है। चलते-चलते, उस दिन प्रभु का यह दल गौड़ से सन्निकट रामकेली के समीप आकर उपस्थित हुआ।

रात में प्रभु विश्राम कर रहे हैं। ऐसे समय में नितान्त दीन-वेष में दो स्थानीय सम्मानित पुरुष, उनसे साक्षात् करने हेतु आये। दोनों सहोदर भ्राता हैं। उन दोनों के जीवन में धर्मनिष्ठा एवं शास्त्र-ज्ञान के साथ-साथ, भक्ति तथा प्रेम का भी अपरुप मिलन घटित हुआ है।

हाथ जोड़ कर दोनों प्रभु के चरणों में लोट पड़े। भक्तों ने उनका परिचय भी करा दिया, "प्रभु, ये दोनों भाई गौड़ के बादशाह, हुसैन शाह के प्रधान ग्रमात्य हैं। बड़े भाई हैं, ग्रमरदेव तथा इनकी राजकीय उपाधि है—दबीर ख़ास। छोटे भाई है, संतोषदेव; ये सरकारी क्षेत्र में साकर मल्लिक के नाम से विख्यात हैं। जिस तरह इनकी शास्त्र-विद्या, धर्माचरण तथा दान-ध्यान में ख्याति है, उसी तरह ग्रर्थ, प्रतिष्ठा एवं मान-मर्यादा भी प्रचुर है। किन्तु सर्वोपरि है इनकी ग्रटूट कृष्ण-भक्ति।

प्रभु के चेहरे पर प्रसन्नता की दीप्ति फैल गयी। प्रवीण भक्त ग्रमरदेव को उन्होंने सस्नेह खींच लिया, तथा प्रगाढ़ ग्रालिगन में ग्राबद्ध कर डाला। मृदु, मधुर स्वर में उन्होंने कहा, "तुम्हारे द्वारा प्रेषित पत्र मुझे यथासमय मिल गया था, तथा मैंने उसका उत्तर भी दिया था। तुम दोनों भाई कृष्ण-कृपा के महान ग्रधिकारी हो! इसीलिए तो तुमलोगों के दर्शनार्थ दौड़ ग्राया। देखो, मेरे कृपामय कृष्ण की क्या ग्रपूर्व लीला है! व्रजधाम जाने के लिए निकला हूँ, परन्तु सीधा उस ग्रोर न जाकर, ग्रज्ञात ग्राकर्षण से इस क्षेत्र में दौड़ ग्राया। गौड़ ग्राने का मेरा कोई प्रयोजन ही नहीं है। मात्र तुमलोगों के लिए ही इधर ग्रा गया हूँ।"

वृन्दावन-यात्री, प्रभु के पथभ्रांति का मर्म ग्रब समझ में ग्राया। भक्तगण नीरव खड़े, एक दूसरे का मुँह देखने लगे।

प्रभु का यह कैसा ग्रपार ग्रनुग्रह, यह कैसी ग्रहैतुकी कृपा! ग्रमरदेव एवं संतोषदेव के नयनों से पुलकाश्रुग्रों की धारा झड़ने लगी। परित्राता ग्राज स्वयं ग्रयाचित ही द्वार पर उपस्थित हैं! यह तो उनकी कल्पना से भी परे है। रुदन तथा ग्रार्ति से दोनों फूट पड़े।

चरणों में गिरकर दीन-भाव से उन्होंने निवेदन किया, "प्रभु, यदि कृपा करके ग्रा ही गए हो तो ग्रब इन ग्रधमों के उद्धार का साधन करो। ग्रपने श्रीचरणों का सेवक बना डालो। विषय-विष से यह जीवन दुःसह हो उठा है।"

दोनों भाइयों को ग्राशीष देते हुए, श्री चैतन्य ने कहा, "तुम्हें भय करने की ग्रावश्यकता नहीं है। शीघ्र ही कृष्ण तुम लोगों पर कृपा करेंगे, तथा ग्रपने व्यक्तिगत कार्य में लगा लेंगे। तुमलोगों को मैं कृष्ण के चिह्नित सेवक के रूप में देख रहा हूँ। ग्राज से तुमलोगों का मैंने नवीन नामकरण किया। ग्रमर तथा संतोष ग्राज से परिचित होंगे—सनातन तथा रूप नाम से।"

प्रभु के उस दिन के दर्शन तथा स्पशण ने सनातन तथा रूप के जीवन में विप्लव-सा खड़ा कर डाला। उनका आंतरिक आशीर्वाद, अमोघ हो उठा। उत्तरकाल में दोनों भाइयों ने प्रभु के निकटतम पार्षदों के रूप में प्रसिद्धि लाभ की। सनातन गोस्वामी ने गौड़ीय वैष्णव धर्म की सुदृढ़ शास्त्रीय भित्ति का निर्माण किया तथा भक्तिमय तपस्या के बलिष्ठ आदर्श की स्थापना की, साथ ही उनके अनुज रूप गोस्वामी के माध्यम से राधाकृष्ण लीला-रसकी परिपुष्टि एवं विस्तार का साधन हुआ, तथा गोपी-भजन की निगूढ़ पद्धति का उद्घाटन हुआ।

सनातन के पूर्वजों की जन्मभूमि दाक्षिणात्य में थी। चौदहवीं सदी के मध्य भाग में कर्नाटक देश के पराक्रमी नृपति सर्वज्ञ जगद्गुरु थे। इनके वंशधर रूपेश्वर देव एकबार राज्यच्युत होकर गौड़ देश में आश्रय लेने को वाध्य हुए। इस अभिजात वंश की शास्त्र-विद्या एवं राज-कार्य दोनों में ही समान क्षमता दृष्टिगोचर होती। इसके अलावा, दाक्षिणात्य की वैष्णवीय साधना की धारा भी इनके जीवन में कुछ हद तक थी।

इसी वंश के कुमार देव के घर में तीन पुत्रों का जन्म हुआ— अमर, संतोष एवं वल्लभदेव। ज्येष्ठ पुत्र अमर ने १४६५ ई० में जन्म ग्रहण किया। ये ही उत्तर काल में महान वैष्णव साधक सनातन गोस्वामी हुए। वृन्दावन में धर्मजीवन के नियन्ता रूप में एवं महाप्रतिभाधर भक्तिशास्त्रविद् के रूप में उनकी ख्याति सारे भारत में प्रचारित हुई तथा गौड़ीय साधक समाज में वे प्रभु श्री चैतन्य के जीवन-दर्शन के विशिष्ठ एवं श्रेष्ठ भाष्यकार के रूप में गण्य हुए।

सनातन के पिता का नाम था, मुकुन्द देव। गौड़ राज्य सरकार के एक उच्च पद से वे सम्बद्ध थे। उनका निवास स्थान गौड़ के पार्श्वस्थित रामकेली में था। यह स्थान उन दिनों कन्हाई नाट्यशाला के नाम से भी परिचित था। मुकुन्द देव स्वयं एक भक्तिवान साधक थे। पूजा-पार्णव कृष्ण-कीर्त्तन एवं रामलीला उत्सवों के अनुष्ठान से उनका प्रासाद सदा मुखरित रहता।

बालक पौत्रों के लिखने-पढ़ने की व्यवस्था सुचारु रूप से करने में मुकुन्द देव ने त्रुटि नहीं की। सनातन तथा रूप की शिक्षा का भार पड़ा रामभद्र वाणी-विलास नामक एक पंडित के ऊपर। प्राथमिक शिक्षा समाप्त होने पर दोनों भ्राताओं को उस समय के श्रेष्ठ विद्याकेन्द्र नवद्वीप भेजा गया। वहाँ कुछेक वर्षों में ही वे दोनों नाना शास्त्रों में पारंगत हो गये।

प्रथम शिक्षागुरु के पद पर आसीन हुए प्रख्यात पंडित, वासुदेव सार्वभौम। बाद में उनके कनिष्ठ भ्राता रत्नाकर विद्यावाचस्पति की शाला में रहकर सनातन तथा रूप ने शास्त्रों के दुरूह तत्वादि का अध्ययन किया। दोनों ही असाधारण मेधा एवं प्रतिभा के अधिकारी थे। इसी कारण नवद्वीप में रहते हुए ही उन्होंने साहित्य, व्याकरण एवं विविध धर्मशास्त्रों पर असामान्य अधिकार अर्जन कर डाला।

परन्तु उस युग में संस्कृत-साहित्य एवं शास्त्रों का ही ज्ञान हस्तगत करने ही से वैषयिक जीवन में उन्नति कर लेना सम्भव नहीं था। बादशाह के दरबार की भाषा फारसी थी। फारसी पर भली-भांति अधिकार न कर लेने पर किसी दायित्वपूर्ण कार्य में नियुक्ति की सम्भावना नहीं थी। इसीलिए परिवार के कर्ता ने सनातन तथा रूप के फारसी शिक्षा की अच्छी व्यवस्था की। उन्हें सप्तग्राम भेज दिया गया। वहां के मुसलमान शासनकर्त्ता फकरुद्दीन मुकुन्ददेव के बन्धु थे। उन्हीं के अभिभावकत्व में रह कर दोनों भ्राता फारसी तथा अरबी के विशेषज्ञ मुल्लाओं से पाठ ग्रहण करने लगे। शीघ्र ही उन्होंने इन दोनों भाषाओं पर अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया।

फिर भी फारसी तथा अरबी साहित्य की व्युत्पत्ति कभी भी सनातन तथा रूप की व्यक्तिगत दृष्टि एवं धर्माचरण को प्रभावित नहीं कर पायी। राज-अमात्य का पद उन्होंने ग्रहण किया तथा मुसलमान बादशाह एवं अमीर उमराओं के साथ भी कम घनिष्टता नहीं की, फिर भी अपने व्यक्तिगत धार्मिक आचार-आचरण एवं भाव-धारा की सतर्कतापूर्वक रक्षा की।

उनके रामकेली स्थित भवन बराबर विशिष्ट साहित्यिक, शास्त्रविद् तथा धर्माचार्यों का मिलन-स्थल था। विशेषकर शिक्षक विद्यावाचस्पति महाशय के साथ सनातन की घनिष्ठता अधिक थी। इन धर्मनिष्ठ आचार्य को वे गुरु-जैसी ही श्रद्धा देते। अत्यन्त आदरपूर्वक उन्हें प्रायः ही रामकेली में आमन्त्रित किया जाता। उनके साथ शास्त्रपाठ तथा धर्मालोचना में सनातन काफी समय व्यतीत करते। उत्तरकाल में चैतन्य-चरणों में आश्रय लेने के पश्चात् सनातन के शास्त्रपाठ का आग्रह भक्ति-शास्त्रों की ओर ही केन्द्रीभूत हो गया।

वृन्दावन वास के प्रथम चरण में, परमानन्द भट्टाचार्य नामक एक विशिष्ट भक्तिसिद्ध आचार्य के पास भी उन्होंने शिक्षा ग्रहण की एवं भागवत् तथा अन्यान्य भक्तिशास्त्रों के निगूढ़ तत्त्वों को उन्होंने अधिगत किया।

पितामह मुकुन्द देव के स्वर्गवास के बाद, सनातन उन्हीं के पद पर राज्य सरकार द्वारा नियुक्त हुए । उस समय उनकी अवस्था लगभग अठारह वर्ष की थी । उसके बाद धीरे-धीरे वे अपने प्रखर व्यक्तित्व, विचक्षणता एवं कर्त्तव्य-निष्ठा के बल से पठान राज्य के विशिष्ठ प्रधान अमात्य के पद पर उन्नीत हुए ।

राज्य की प्रतिरक्षा, शासन इत्यादि समस्त गुरुत्वपूर्ण कार्यों में सुलतान हुसेन शाह को सनातन से परामर्श लेते देखा जाता । क्रमश: सनातन बादशाह के दक्षिण हस्तस्वरूप हो उठे । उनके अनुज रूप एवं अनुपम भी उन्हीं के प्रभाव से उच्च राजपदों पर नियुक्त हुए ।

उन दिनों रामकेली के इन देव भ्राताओं की पदमर्यादा, प्रभाव एवं वित्त-वैभव की असाधारण ख्याति थी । उनके प्रासाद के चारों ओर बहुत-से मंदिर, मण्डप एवं नाट्यशालाएँ बनी हुई थीं । विख्यात हिन्दू विद्वज्जन, आचार्य एवं साधु-सन्यासी, सनातन के रामकेली स्थित सभाकक्ष में पदार्पण करते तथा उनकी सेवा एवं सहायता ग्रहण करते । सनातन तथा उनके भ्राताओं के औदार्य से देश के दूरस्थ शास्त्र-व्यवसायी बहुत-से ब्राह्मण तथा दीन-दरिद्र प्रतिपालित होते । इन्हीं सब कारणों से रामकेली की ख्याति एवं सनातन की प्रभाव-मर्यादा सारे गौड़ देश में फैल गयी ।

सनातन थे हुसेन शाह के दबीर खास – व्यक्तिगत सचिव । तत्कालीन किसी संभ्रान्त मुसलमान की तरह वे फारसी तथा अरबी धाराप्रवाह बोल लेते थे । विधर्मी सुलतान एवं उमराओं के सामाजिक जीवन तथा राजनीति में काफी हद तक उन्हें उन लोगों का अनुकरण करना पड़ता । गौड़ दरबार अथवा सुलतान के शिविर में निवास करते समय, उनकी वेशभूषा तथा चाल-चलन देखकर साधारण मनुष्य उन्हें मुसलमान ही समझता । परन्तु दिन के समाप्त होते ही कार्य शेष करके रामकेली जाते ही उनका एक अलग रूप प्रकटित हो उठता । बादशाही दरबार के वाह्य आचार-विचार, हाव-भाव का वे सर्वथा त्याग कर देते । स्नान-तर्पण के पश्चात् आरम्भ होता दान-ध्यान, पूजा-अर्चना, शास्त्र पाठ तथा धार्मिक परिचर्चा ।

परन्तु इतने दान-ध्यान, धर्मनिष्ठा एवं दरबारी पद-मर्यादा के बावजूद लोग परिवार के सामाजिक कौलीन्य की मान्यता नहीं देते थे । परंपरा-वादी हिन्दू-समाज की दृष्टि में यह परिवार पतित था—मुसलमान से घनिष्ठता तथा स्पर्शदोष के कारण । इसीलिए वंगीय कायस्थों की वंशावली में इन लोगों का कोई उल्लेख नहीं मिलता ।

विधर्मी आचार-आचरण द्वारा भ्रष्ट ने भी प्रभु श्री चैतन्य का दुर्लभ दर्शन पा लिया है। उनके मन-प्राण तथा सारी सत्ता में दिव्य आनन्द का ज्वार फूट पड़ा है। प्रभु के इस दर्शन के बाद उनका नवीन रूपान्तरण ही हो गया है।

सनातन के जीवन का यह परिवर्तन लम्बी अवधि से शुरू हुआ है तथा प्रच्छन्न धारा की तरह अग्रसर होता रहा है। अर्थ, विषय तथा दरबारी मर्यादा का जो बोझ इतने दिनों से जीवन पर पड़ा था, आकुल होकर इतने दिनों से वे इससे मुक्ति की प्रार्थना कर रहे थे। अब वह मुक्ति समागत है।

बाह्य जीवन में सनानत प्रभावशाली राज-अमात्य थे, परन्तु उनका अंतर दैन्यमय, त्यागव्रती महावैष्णव का था। इसी कारण इतने दिनों तक उनके अंतर्जीवन में धीरे-धीरे अध्यात्म-साधना का परम संचय जमता जा रहा था और वे एकान्त भाव से भक्ति एवं प्रेम-धर्म का आदर्श ग्रहण करते जा रहे थे। उनके इस गोपन प्रस्तुति ने ही उस दिन चैतन्यदेव को आकर्षित कर डाला था। सुदूर रामकेली में प्रभु भागते हुए चले आये। भविष्यत् जीवन के चिह्नित पार्षद एवं लीला परिकर सनातन एवं रूप, इन दोनों भाइयों को उन्होंने अनायास आत्मसात् कर लिया।

सनातन का जीवन सर्वदा वैष्णवीय साधना के लिए उन्मुख था तथा उसका भक्ति का आधार था। उनके लिए यह कोई आकस्मिक बात नहीं थी। यह मनोबृत्ति एवं साधनधारा उनके पूर्वजों में भी विद्यमान थी। वंशगत वैशिष्ठ्य ही अनायास साधननिष्ठ सनातन के जीवन में फूट पड़ा था। तथा प्रभु श्री चैतन्य की कृपा से उत्तर-काल में उन्होंने चरम सार्थकता का लाभ किया था।

सनातन हुसेन शाह के बड़े प्रिय पात्र थे। राज्य के जटिल कार्यों का दायित्व उनके ऊपर छोड़कर बादशाह निश्चिन्त रहते। केवल शांति के समय ही नहीं, युद्धाभियान पर बाहर जाते समय भी हुसेन शाह अपने इस प्रतिभाधर अमात्य को साथ रखते। परन्तु यह राज्यानुग्रह एवं दायित्व का भार एवं मर्यादा क्रमशः उनके लिए भारस्वरूप हो उठा। उनके लिए विषय कीट बनकर दिन काटना अब असह्य हो उठा। बादशाह के सेनाध्यक्षों ने उस बार उड़ीसा में देव-देवियों की मूर्त्तियों को ध्वस्त किया था। भक्त सनातन का हृदय विदीर्ण हो गया तथा तीव्र अनुताप का दहन प्रारम्भ हुआ। दिन-पर-दिन वे यही सोचते रहे कि कैसा पाखंडपूर्ण जीवन वे व्यतीत कर रहे हैं तथा सदा वे उद्धार के मार्ग का अनुसंधान करते रहे।

रामकेली तथा उसके आसपास सनातन ने एक अपूर्व धार्मिक परिवेश का निर्माण कर डाला था। अजस्त्र मठ-मंदिर निर्मित हुए थ तथा पवित्र कुण्डों का भी खनन हुआ था। प्रायः ही वे देश-देशान्तर से विशिष्ट शास्त्रविद् एवं भक्त साधकों को आमंत्रित कर यहाँ लाते। गौड़ दरबार के कार्य समाप्त होते ही, रामकेली के भक्तिमय परिवेश में आकर वे अपने हृदय की ज्वाला शांत करने बैठते और साधन-भजन में रत होते।

ऐसे परिवेश में रहकर सनातन के जीवन में भक्ति-प्रेम की सुप्त चेतना जाग्रत हो उठी। रामकेली में अपने स्वनिर्मित कृष्ण-लीलास्थलों में घूमते हुए वे दिव्य आनंद का लाभ करते।

बाड़ीर निकटे अति निभृत स्थानेते
कदम्ब कानन धारा श्याम कुण्ड ताते।
वृन्दावन लीला तथा करये चिंतन,
ना धरे धैर्य नेत्रे धारा अनुक्षण।—(भक्ति रत्नाकर)

इसके बाद जीवन में तीव्र आर्त्ति का उदय हुआ, और इसी आर्त्ति के माध्यम से कृष्ण-प्रेम का रस-स्रोत फूट पड़ा। संसार के वित्त-विभव, यश-मर्यादा सभी कुछ निरर्थक हो उठे। आकुल भाव से वे अहर्निश यही सोचते रहते, कि किस मार्ग से तथा किसके निर्देश से उन्हें वहुवांक्षित कृष्ण-दर्शन मिलेगा? कब वे अप्राकृत लीला रस में अवगाहन करेंगे? कब यह जीवन कृतार्थ होगा?

इन्हीं दिनों सनातन ने प्रभु श्री चैतन्य की चर्चा सुनी। नीलाचल में उनका अभ्युदय हुआ है। यह भी ज्ञात हुआ कि वे अगणित भक्त साधकों को प्रेम-भक्ति के प्रबल रस-तरंग से ओत-प्रोत कर रहे हैं। इस तरंग की लहर ने आकर सनातन के हृदय-पट पर आघात किया। उन्हें परम उपलब्धि का भान हुआ—यही प्रभु, जीवन के उद्धारकर्त्ता हैं! और वे ही उनके जीवन-प्रभु हैं।

आकुल आवेदन के साथ सनातन ने श्री चैतन्य को पत्र लिखा, "प्रभु, तुम्हारा आविर्भाव जीवों के उद्धार के लिए हुआ है। मेरे-जैसे अधम जीव पर भी एक बार कृपा कर दृष्टिपात करो। एक तो मैं विषय-कीट हूँ, उसके अलावा म्लेच्छारी तथा पतित हूँ। क्या मेरी मुक्ति का कोई उपाय नहीं? मन में प्रबल इच्छा जग पड़ी है कि इस घृण्य सांसारिक जीवन का त्याग करूँ। मुझे अनुमति दो कि मैं तुम्हारे चरणों में अपना उत्सर्ग कर डालूँ तथा सारा जीवन तुम्हारे मुखचन्द्र का अवलोकन करके ही बिता दूं।"

नीलाचल के अंतरंग भक्तों ने प्रभु को यह दैन्यपूर्ण पत्र देते हुए कहा, "गौड़ के प्रतापी बादशाह हुसेन शाह के ये प्रधान अमात्य हैं। राजनीतिक तथा प्रशासनिक कार्यकुशलता में इनके टक्कर का कोई नहीं। ऐसा मनुष्य भी तुम्हारे नर्तन-कीर्त्तन से पागल हो उठा है तथा राज्यैश्वर्य का त्याग करके भिखारी होना चाहता है—यह तो तुम्हारी अलौकिक लीला के अलावा और कुछ नहीं है प्रभु !"

प्रभु के अधरों पर मधुर मुस्कान फूट पड़ी। पत्रवाहक के हाथ उसी समय उन्होंने एक पत्र प्रेषित किया। इस पत्र में और कोई बात नहीं थी वरन मात्र एक श्लोक उद्धृत था—

परव्यसनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मसु। तदेवास्वादायत्यन्तर्नवसंग रसायनः ।।

अर्थात्, परपुरुष आसक्ता नारी जैसे गृह-कार्य करते हुए भी प्रेमी की स्मृति बनाए रखती है, उसी तरह विषय-लिप्त अवस्था में भी, 'उसके' प्रेम में चित्त को डुबाए रखा जा सकता है।

सनातन महा पण्डित व्यक्ति थे, सारे दर्शनों तथा अध्यात्म के पारंगत। इसीलिए प्रभु ने अपनी इच्छा से स्वामी विधारण्य के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ पंचदशी से यह श्लोक लिख भेजा।

प्रभु के इस श्लोक-पत्र में स्पष्ट इंगित था। सनातन समझ गये कि मिलन-लग्न अभी तक उपस्थित नहीं हुआ है, इसीलिए प्रभु ने उनके सानुनय अनुरोध को कौशल से टाल दिया। हृदय की अग्नि को दबा कर, अभी कुछ दिन उन्हें इसी जीवन में ही रहना होगा।

प्रभु के इस पत्र को प्राप्त करने के बाद सनातन की व्याकुलता और भी बढ़ गयी। दिन-पर-दिन करुण आर्त्ति एवं रुदन में व्यतीत होने लगे।

अन्ततः उस दिन रामकेली में रहते हुए ही उन्हें प्रभु की कृपा मिली। सुदूर पुरी धाम से भागते हुए आकर उन्होंने सनातन को स्वतः ही दर्शन दिया। उस दिन संसार-त्याग की अनुमति न मिलने पर भी, उनके प्रेम-स्पर्श तथा आश्वासन को प्राप्त कर, सनातन का तप्त हृदय काफी शांत हो गया।

सनातन तथा रूप से विदा लेकर श्री चैतन्य अब वृन्दावन जाने को प्रस्तुत हुए। उनके नयनाभिराम रूप, नर्तन-कीर्तन एवं भावावेश ने इस थोड़े-से समय में सारे क्षेत्र में विह्वलता ला दी है। इस पुण्य-दर्शन, देव मानव के आस-पास, अगणित नर-नारियों का मेला लगा हुआ है। उनमें से अनेक प्रभु के संगी होने को व्यग्र हैं।

सनातन बुद्धिमान एवं दूरदर्शी हैं ! यह तमाशा देखकर वे चिंता में पड़ गये । उत्तर पूर्वी भारत के विभिन्न क्षेत्रों में उन दिनों राजनीतिक उथल-पुथल चल रही थी। इस समय इतने लोगों को साथ लेकर प्रभु विपत्ति में पड़ सकते हैं ।

हाथ जोड़ कर उन्होंने निवेदन किया, "प्रभु, अगर वृन्दावन ही जाना है तो इतने लोगों को साथ क्यों ले रहे हो ? आजकल चारों ओर राजा-बादशाहों का द्वन्द चल रहा है । इस समय इतने बड़े जन-समूह के साथ चलना उचित नहीं होगा । इसके अलावा, वृन्दावन तो अत्यन्त कंगाल वेश में ही जाना होता है ।

विशिष्ठ राजअमात्य सनातन की बात तर्कसंगत थी । फिर भी भक्तों को संगच्युत तथा निराश करने की प्रभु की इच्छा नहीं हो रही थी । अंततः वृन्दावन-यात्रा स्थगित करके वे शांतिपुर की ओर रवाना हुए । सनातन को साँस आयी ।

प्रभु का रामकेली में आगमन एवं दर्शनदान से मानो सनातन के नवीन जीवन की यवनिका उठ गयी । उनके अलौकिक शक्ति के प्रभाव से दोनों के जीवन में कृष्ण-प्रेम का नवीन ज्वार-सा उपस्थित हो गया है । इस ज्वार के उच्छ्वास में डूब कर वे अपना जीवन व्यतीत करने लगे ।

शीघ्र ही रामकेली के प्रासाद में एक विशिष्ट शास्त्रज्ञ वैष्णव साधक को आमंत्रित कर बुलाया गया । सनातन तथा रूप ने उनकी सहायता से भक्तिपूर्वक कृष्ण-मंत्र का पुरश्चरण किया । राज-कार्य इन दिनों उनके लिए दुर्वह तथा भारस्वरूप हो उठा था । जितनी जल्दी इससे छुट्टी मिल सके, उतना ही अधिक कल्याण हो ।

दोनों भ्राताओं के बीच एक दिन गंभीर रात्रि तक गोपन परामर्श हुआ । यही स्थिर हुआ कि पहले रूप गृहत्याग करेंगे और सनातन कुछ दिन बाद निकल पड़ेंगे ।

सनातन के ऊपर बादशाह के बहुत-से दायित्वपूर्ण कार्यों का भार था । उनके अकस्मात् तुरत पद-त्याग कर देने से देश में अव्यवस्था फैल जायगी, तथा राज-कार्य में अनेक व्यवधान उपस्थित हो जायँगे । इसी कारण उनका तुरत निष्क्रमण संभव नहीं है । राजकीय दायित्वों के बोझ को कुछ हल्का करके एक दिन अवसर पाकर वे भी खिसक जायँगे ।

सनातन तथा रूप के आश्रित ब्राह्मण, पंडित एवं साधु-सज्जनों की भी संख्या कम नहीं थी। इनके तथा आत्मीय स्वजनों के भरण-पोषण की व्यवस्था में रूप उसी समय तत्पर हुए। थोड़े ही दिनों में यह कार्य संपन्न हो गया, तथा अपनी पूर्व योजना के अनुसार रूप ने सर्वदा के लिए गृहत्याग कर डाला।

जाने से पूर्व उन्होंने एक विश्वस्त मोदी के पास दस हजार रुपयों की पूंजी जमा कर डाली। तय हुआ कि आवश्यकता उपस्थित होने पर सनातन इन रुपयों को अपने कार्य में लगाएँगे।

रूप के निष्क्रमण के बाद सनातन और भी अकेले पड़ गये। विषय-वासना से वितृष्णा हो गयी। क्रमशः दरबार जाना भी बन्द हो गया। उन्होंने बादशाह को खबर भेजा कि वे अत्यन्त पीड़ित हैं तथा अबसे स्वाभाविक रूप से राज-सेवा संपन्न करना संभव नहीं हो सकेगा।

हुसेन शाह शंकित हो उठे। रूप तो पता नहीं कहाँ गायब हो ही चुके हैं, दबीर खास का भी वैसा ही कोई मतलब तो नहीं है? राज्य के चारों ओर युद्ध के घने बादल छाते जा रहे हैं, और ठीक इसी समय उनके जैसा एक विश्वस्त एवं कुशल अमात्य का कार्य-त्याग करके बैठ जाना तो महान विपत्ति की बात है।

राजवैद्य, सनातन की परीक्षा करने के लिए भेजे गये। वैद्य ने वापस आकर वक्र मुसकान बिखेरते हुए बताया, "दबीर खास, शारीरिक दृष्टि से तो स्वस्थ ही हैं, उनके लिए जहाँपनाह के दुश्चिन्ता का कोई कारण नहीं है।"

हुसेन शाह जल-भुन गये। दूसरे ही दिन अकस्मात् वे सनातन के रामकेली-प्रासाद में स्वयं उपस्थित हुए। उन्होंने देखा कि दबीर खास के शरीर में रोग का कोई चिह्न भी नहीं है। साधु-सन्यासी एवं शास्त्रविदों से घिरे हुए वे परमानन्द पूर्वक धर्मालोचना में रत हैं।

बादशाह ने उन्हें राज-कार्य में योगदान देने के लिए आदेश दिया। अन्ततः डराने-धमकाने से भी वे बाज नहीं आये। परन्तु सनातन अपने संकल्प पर अटल रहे। उनके जीवन में गौड़ेश्वर के स्थान पर परमेश्वर का आसन स्थापित हो चुका है। कुछ चाहने-पाने की लालसा भी अब उनकी नहीं रह गयी है।

दृढ़ स्वर में तथा स्पष्ट भाषा में उन्होंने हुसेन शाह से कहा, "जहाँपनाह सही बात ही कहूँगा, दरबार के कार्य में योगदान नहीं दूंगा, यही मैंने स्थिर

किया है। आज से मैं केवल श्री भगवान का ही दास हूँ और किसी का नहीं। मेरा यह संकल्प अपरिवर्तनीय है। मुझे आप कृपया क्षमा करें।"

क्रुद्ध होकर बादशाह ने उसी समय सनातन को कारागार में बन्द कर डाला।

थोड़े ही दिनों के अन्दर राज्य में एक गंभीर परिस्थिति उत्पन्न हुई। हुसेन शाह के सेनापति, उड़ीसा के युद्ध में परास्त होकर वापस आये हैं। अब बादशाह स्वयं ससैन्य, राजा प्रतापरुद्र के विरुद्ध अभियान पर अग्रसर होना चाहते हैं। सारी प्रयोजनीय व्यवस्थाएँ, लगभग समाप्त हो चुकी हैं। परन्तु ऐसे समय पर सनातन-जैसे निपुण तथा बुद्धिमान अमात्य की सहायता उनके लिए अत्यन्त आवश्यक है।

कारागार से निकाल कर शाह बार-बार सनातन को समझाने लगे, "दबीर खास, अब भी तुम अपना पागलपन छोड़ो तथा फिरसे अपने दायित्वपूर्ण कार्य में योगदान दो। मेरा अनुरोध मानकर, मेरे साथ उड़ीसा-अभियान पर चलो"।

सनातन ने अपनी अंतिम बात सुना डाली, "जहाँपनाह, आपके अभियान का दृश्य मैं स्पष्ट रूप से देख रहा हूँ। आपकी सेनावाहिनी सारे मार्ग में देव-मंदिरों को ध्वस्त करेगी तथा पवित्र विग्रहों को कलुषित करेगी। नहीं, किसी तरह भी मैं आपके पापकार्य में साथ नहीं दे सकूँगा।"

अमात्य को उसी समय फिर कारागार में डालकर, हुसेन शाह ने प्रतापरुद्र के विरुद्ध युद्धयात्रा की।

अब सनातन का एकमात्र लक्ष्य यही था कि किस तरह वे मुक्ति लाभ करें और अपने प्राणप्रभु, श्री चैतन्य के साथ मिल सकें।

सहसा, एक दिन रूप द्वारा प्रेषित एक पत्र गुप्त रूप से उन्हें मिला। उसमें यह निर्देश दिया गयाथा किस्थानीय मोदी के पास जो राशि सुरक्षित रखी हुई थी उसमें से, सनातन यह पत्र दिखाकर सात हजार रुपये ले लें और उसके द्वारा अपनी मुक्ति को क्रय करें।

प्रभु से मिलन के लिए सनातन उन्मत्तप्राय हो चुके हैं। इसीलिए कोई अन्य उपाय न देख कर उन्हें रूप द्वारा प्रस्तावित मार्ग का ही अवलम्बन करना पड़ा। रक्षकों को लोभ के वशीभूत करके वे बाहर निकल आये।

श्री चैतन्य, इन दिनों वृन्दावन के मार्ग पर वाराणसी आकर निवास कर रहे हैं। सनातन, क्षण भर भी विलम्ब न करके पश्चिम भारत की ओर रवाना हुए। उनके साथ चला बहुत दिनों का विश्वस्त भृत्य एहसान।

मुक्ति का अमोघ आह्वान सनातन के जीवन में आ गया है। इस मुक्ति के लिए चरमतम मूल्य देने को आज वे प्रस्तुत हैं। धन-मान-राज-सम्पदा सभी कुछ का अनायास त्याग करके, निष्किंचन मुमुक्षु साधक त्रस्त पदों से दौड़ चले।

बादशाह के रक्षक उनका पीछा कर सकते हैं, यह आशंका उनको बराबर ही थी। इसीलिए वे दीन-दरिद्र दरवेश के छद्म रूप में रास्ता तय करने लगे।

रास्ता चलते-चलते एक दिन वे एक क्षुद्र भूमिया के चंगुल में आ फँसे। कोई परिचय नहीं था, परन्तु साक्षात्कार होते ही भूमिया ने उनका आदर तथा अभ्यर्थना शुरू कर दी, मानों वे काफी दिनों के परिचित बंधु हों।

यह अत्यन्त आग्रहपूर्ण व्यवहार देखकर सनातन को संदेह हो उठा। इस श्रेणी के भूमियों की कुकीर्त्ति कुछ-कुछ उन्हें ज्ञात थी। ये बाहरी पर्यटकों को आश्रय देते तथा उसके बाद रात्रि में सुयोग पाकर सब कुछ लूट कर हत्या कर डालते। सनातन को अपने लिए चिंता नहीं थी क्योंकि उनके पास तो एक फूटी कौड़ी भी नहीं थी। परन्तु एहसान ? क्या वह चोरी से कुछ रुपये रखे है ?

धमकाने पर उसने स्वीकार किया कि वह सात मुहरें गुप्त रूप से अपने पास रखे हुए है। प्रयोजनानुसार उनका व्यवहार सनातन तथा उसके खर्च के लिए किया जायगा, यही उद्देश्य था।

सनातन क्रोध से फट पड़े। कठोर भाषा में भृत्य का तिरस्कार करते हुए उन्होंने कहा, "सर्वस्व त्याग करके वैराग्य साधन लेकर मैं मार्ग पर निकल पड़ा हूँ, और मेरी उसी साधना के मार्ग पर ऐसे विघ्न की सृष्टि कर रहे हो ! छिः छिः !"

उसी समय भूमिया के पास जाकर उन्होंने कहा, "मेरे साथी के पास सात संचित मुहरें अभी भी अवशिष्ट हैं। इन सबको आप ग्रहण कीजिए और हमलोगों को निरापद सामने वाले दुर्गम पहाड़ को पार करा दीजिए।"

सनातन की सत्यता तथा सत्यभाषण से अर्थ-लोलुप भूमिया बहुत प्रसन्न हुआ। उसी समय उसने दोनों अतिथियों को साथ लेकर वहाँ का खतरनाक इलाका पार करा दिया।

भूमिया के वापस चले जाने पर एहसान बातचीत में ही कहा, "हुजूर, एक बात और मैं आपके समक्ष अभी भी दोषी हूँ। मेरे पास असल में आठ मुहरें थीं। भूमिया को सात मुहरें देने के बाद अभी मेरे पास एक मुहर बची हुई है। असत्य बोलने के अपराध के लिए मैं आपसे माफी चाहता हूँ।"

सनातन की मुखाकृति कठोर हो उठी। दृढ़ स्वर में उन्होंने कहा, "एहसान, मेरा अनुसरण करना तुम्हारे लिए अच्छा नहीं होगा। अभी भी तुम्हारा पैसों के लिए प्रबल आकर्षण है। अर्थ के ऊपर ही निर्भरशील रहकर तुम चलना चाहते हो तथा मैंने वैराग्य साधन का कठिन पथ चुना है। मैं केवल भगवान के ऊपर ही निर्भर रहना चाहता हूँ। निश्किचन होकर जीवन यापन न करने से मैं अपने व्रत से च्युत हो जाऊँगा। तुम अभी मुझसे विदा लेकर चले जाओ।"

मुनीव को प्रणाम करके एहसान ने अश्रुपूरित नेत्रों से रामकेली की ओर प्रत्यावर्त्तन किया।

तेजी से रास्ता तय करते-करते सनातन सोनपुर में आकर उपस्थित हुए। उन दिनों वहाँ हरिहर क्षेत्र का मेला चल रहा था। अकस्मात्, मेला क्षेत्र में अपने भगिनिपति श्रीकान्त के साथ साक्षात्कार हुआ। सनातन की कृपा के फलस्वरूप ही श्रीकान्त राज्य सरकार के दायित्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित हैं। क्षेत्र के मेले में वे बादशाह के लिए कई लाख के घोड़े खरीदने आये हुए हैं।

बहुत अनुनय-विनय के बाद भी श्रीकान्त, सनातन को उनके वैराग्य के मार्ग से च्युत नहीं कर पाये। अन्त में उन्होंने जिद पकड़ लिया, "ठीक है, अगर घर छोड़ कर जाना ही है, तो भिखारी के वेश में नहीं जाने दूँगा। आप अनुमति दें, जिससे मैं आपके लिए कुछ नवीन वस्त्र खरीद दूँ।"

सनातन ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। अन्त में उन्होंने आग्रह-पूर्वक कहा, "इधर पश्चिम में तो भयानक सर्दी पड़ती है। एक भुटिया कम्बल आपको लेना ही होगा, नहीं तो मार्ग में कष्ट की सीमा न होगी।

भगिनिपति के प्रबल आग्रह के कारण, सनातन को यह कम्बल ग्रहण करना ही पड़ा। उसको कन्धे पर डाल कर उन्होंने फिर पद-यात्रा शुरू कर दी। कई दिनों तक अविराम रास्ता तय करते-करते वे वाराणसी धाम पहुँचे।

वहाँ पहुँचते ही उन्होंने जो सुसम्वाद सुना, उससे उनके आनन्द की सीमा नहीं रही। प्राणप्रभु, श्री चैतन्य कुछ दिनों से यहीं निवास कर रहे हैं। उनके नर्त्तन-कीर्त्तन से काशी के भक्त-समाज में भक्ति-रस की आनन्दित-धारा फैल गयी है।

प्रभु उन दिनों चन्द्रशेखर मिश्र के घर निवास कर रहे हैं। दीन वेश, में हाथ जोड़े सनातन, मिश्रजी के द्वार पर आकर खड़े हुए।

गृह के अन्दर बैठकर प्रभु भक्तों के साथ इष्टगोष्ठी कर रहे हैं। सहसा, उन्होंने चन्द्रशेखर मिश्र से कहा, "मिश्र, आज बड़ा ही शुभ दिन है। बाहर जाकर देखो, तुम्हारे द्वार पर एक महावैष्णव खड़े हैं। उन्हें, अभी परम आदर पूर्वक मेरे पास ले आओ।"

भक्तगण उतावली में भागते हुए बाहर आये। परन्तु वहाँ कोई वैष्णव मूर्त्ति कहाँ है? द्वार पर तो एक जीर्ण वस्त्र पहने दरवेश खड़ा है। कण्ठी माला, तिलक अथवा वैरागी का उत्तरीय, कुछ भी उसके शरीर पर नहीं है। प्रभु ने किसी और की बात तो नहीं कही!

कुछ देर इधर-उधर देखने के बाद, चन्द्रशेखर मिश्र, दरवेशवंशी सनातन को घर के भीतर ले गये।

प्रभु के दर्शन पाने मात्र से सनातन का भावावेग फूट पड़ा। दौड़ते हुए जाकर वे उनके चरणों में लोट पड़े। प्राणप्रिय भक्त के आगमन पर प्रभु के आनंद की भी सीमा नहीं है। भावावेग में सारा शरीर कंपित हो रहा है तथा नयनों से पुलकाश्रुओं की धारा बह रही है। जमीन पर लोटे सनातन को यत्नपूर्वक उठाकर उन्होंने आलिंगनबद्ध कर डाला।

दीनतापूर्वक सनातन खिसक कर खड़े हो गये। कातर स्वर में उन्होंने कहा, "प्रभु मैं अत्यन्त नीच तथा हीनाचारी हूँ। अपने देवदुर्लभ अंगों से मेरा इस तरह स्पर्श न करो।"

चिह्नित लीला-पार्षद ने आज इतने दिनों बाद प्रभु के चरणों में आत्म समर्पण किया है। उनके आनन्द की तो सीमा ही नहीं है। प्रेमावेग में वे बार-बार सनातन को प्रगाढ़ आलिंगन में जकड़ते गये।

प्रभु कहे तोमा स्पर्शि आत्म पवित्रिते।
भक्ति बले पार तुमि ब्रह्माण्ड शोधिते।

इसके बाद प्रेमार्द्र कण्ठ से उन्होने सबके समक्ष सनातन का वास्तविक परिचय उद्घाटित किया, तथा उनके त्याग, तितिक्षा एवं वैराग्य-साधन की प्रशस्ति उच्छ्वसित कण्ठ से गाने लगे।

मध्याह्न समागत था। प्रभु ने कहा, "सनातन, समय बहुत अधिक हो गया है। अब जल्दी से पतितपावनी गंगा की पुण्य धारा में स्नान तथा तर्पण समाप्त कर आओ। उसके बाद भिक्षा ग्रहण करो।"

मिश्र-गृह से पुराने वस्त्र का टुकड़ा, सनातन ने मांग लिया तथा उसके दो टुकड़े कर के उन्होंने अपना कौपीन तथा वहिर्वास बनाया।

स्नान-घाट से वापस आते समय एक मराठी ब्राह्मण ने सनातन को अपने घर पर भोजन के लिए निमंत्रित किया।

परन्तु सनातन उससे सहमत नहीं हुए। कृच्छ्र व्रत एवं कंगाल के जीवन को ही जो उन्होंने परम-पथ की प्रस्तुति के रूप में आज प्राणपण से ग्रहण कर लिया है। सारा जीवन तो बादशाही दरबार में भोग-विलास तथा ऐश्वर्य के चकाचौंध से कट गया है। इसीलिए तो वैषयिकता के सूक्ष्मतम अंकुर को जला कर नाश न कर देने के अलावा और कोई उपाय नहीं है। चरम वैराग्य के माध्यम से वे कृष्ण अनुराग के महासमुद्र तक जायेंगे, यही उनके लिए वांछनीय है।

हाथ जोड़ कर सनातन ने निवेदन किया, "आपलोग आशीर्वाद दें, जिससे मैं निष्किञ्चन वैष्णव होकर घर-घर से मधुकरी करके ही अपना जीवन व्यतीत कर डालूँ।"

कंधे पर मोटिया कंबल डाले तथा भिक्षा की झोली हाथ में लिए सनातन उठ खड़े हुए तथा द्वार-द्वार पर भिक्षा मांगने के लिए प्रस्तुत हुए।

प्रभु उल्लसित हो उठे और बार-बार गद्‌गद्‌ कंठ से सभी से कहने लगे "देखो-देखो, सनातन का कैसा अपूर्व वैराग्य-साधन है!"

प्रभु आनन्दित तो हैं अवश्य, परन्तु इसके साथ-ही-साथ वे तीक्ष्ण दृष्टि से टकटकी लगाकर सनातन के कंधे पर पड़े कम्बल को देख रहे हैं।

उनकी इस दृष्टि का गूढ़ तात्पर्य समझने में सनातन को देरी नहीं हुई। क्षण भर में ही उन्होंने निश्चय कर लिया और गंगा-तीर की ओर भाग चले। एक दीन-दरिद्र वृद्ध, निकटस्थ घाट पर बैठ कर अपना जीर्ण कंथा धूप में सुखा रहा था। सनातन ने उसी की शरण ली। विनती करते हुए उन्होंने कहा, "भाई, तुम दया कर मेरा एक उपकार करो। मेरे इस नये कम्बल के बदले अपना यह फटा कंथा मुझे दे दो। इसके लिए मैं तुम्हारा चिरऋणी रहूँगा।

संशय तथा संदेह के कारण वृद्ध फटी-फटी आँखों से देखता रह गया। नये मोटे कंबल के बदले में यह जीर्ण कंथा क्यों? यह कैसा अद्‌भुत प्रस्ताव है? इस वैरागी के मन में कोई अभिसंधि तो नहीं है? अथवा यह मात्र इसका परिहास है!

उसे काफी देर तक समझाने के बाद सनातन ने किसी तरह राजी किया। उसके बाद प्रसन्न मन से वह जीर्ण कंथा शरीर में लपेट कर प्रभुके समीप वापस आ गये।

प्रभु के चेहरे पर अपार आनन्द की दीप्ति फैल गयी। विस्मय का भाव लाकर उन्होंने जिज्ञासा की, "यह क्या सनातन! अपना वह मोटा कम्बल कहाँ भुला आये?"

कम्बल त्याग करने की कहानी सुनकर प्रभु आनन्द से विह्वल हो उठे। यही तो चाहिए ही। उनके सनातन का आविर्भाव तो लोक-गुरु होने के लिए हुआ है! जिस भक्ति-साम्राज्य की प्रभु नींव डाल रहे हैं, उसके विशिष्ट नियामक के रूप में वे पहले से ही निर्दिष्ट हैं। इसी कारण तो लोक शिक्षा के लिए सनातन के जीवन में त्याग-वैराग्य की पराकाष्ठा का प्रकटन प्रयोजनीय है—

प्रभु कहे इहा आमि करियाछि विचार।
विषय रोग खण्डाइलो कृष्ण जे तोमार।
से कैनो राखिबे तोमार शेष विषय भोग।
रोग खण्डि सद्वैद्य ना राखे विषय रोग।

हुसेन शाह के प्रधान अमात्य का यह सर्वत्यागी महावैरागी रूप श्री चैतन्य ने उस दिन अपनी इच्छा से सब लोगों के समक्ष प्रकटित किया तथा इसके माध्यम से वैष्णव-समाज के सम्मुख वे कृच्छ्र वरण तथा दैन्यमयता का एक कालजयी आलेख प्रस्तुत कर गये।

वाराणसी में सनातन ने प्रभु के समीप कुछ दिनों तक निवास किया। अपने घनिष्ट सानिध्य में रखकर प्रभु ने अपने इस चिह्नित पार्षद को अपने द्वारा प्रवर्त्तित वैष्णवीय साधना से अनुप्राणित किया। दिन-पर-दिन साध्य-साधना के तत्त्व-निरूपण में व्यतीत होने लगे। सनातन प्रकृतरूप से ही जिज्ञासु तथा महान प्रतिभाधर थे तथा सर्वोपरि प्रभु के चरणों में पूर्णतः समर्पित थे। परम् उत्साहपूर्वक वे एक-पर-एक प्रश्न करते रहते तथा प्रसन्नोज्वल मुख से उत्तर देते रहते। कुछ ही दिन पूर्व गोदावरी-तट पर प्रभु तथा रामानन्द के विचारों के आदान-प्रदान के माध्यम से गौड़ीय वैष्णव-धर्म के निचोड़—व्रजरस-तत्त्व का प्रकटन हुआ था, तथा आज वाराणसी के गंगा तट पर, प्रभु एवं सनातन के प्रश्नोत्तर के माध्यम से गौड़ीय वैष्णव साधना के क्रम एवं निगूढ़ तत्त्व उद्घाटित हुए। प्रभु द्वारा व्याख्यात इसी तत्त्व के संवाहक के रूप में, सनातन उत्तरकाल में ब्रजमण्डल के वैष्णव समाज में, शीर्ष-स्थान पर पहुँच सके थे।

एक के बाद एक प्रभु ने कृष्ण-अवतार तथा वृन्दावन-लीला की मर्म-कथा विवृत की तथा युगल-भजन की अपूर्व पद्धति का प्रकाश किया। सर्वप्रथम श्रीमुख की वाणी को सुनाकर ही प्रभु ने सनातन को कृतार्थ किया। उसके बाद परम

कृपापूर्वक उनके अन्दर भक्ति-संचार किया। सनातन के सिर पर अपने पद्म-हस्त स्थापित करते हुए उन्होंने कहा, "सनातन, आज जिन देववांछित तत्त्वों का तुमने श्रवण किया, आशीर्वाद देता हूँ कि उनका तुम्हारे अंतर में स्फुरण हो।"

इससे पूर्व रूप के ऊपर भी प्रभु ने ऐसी ही कृपा की थी। शक्ति-संचार करके वे उन्हें वृन्दावन धाम भेज चुके थे। अब उन्होंने सनातन को भी विराट् दायित्वों का भार देकर वहाँ प्रेरित किया एवं निर्देश दिया—

तुमिऊ करिह भक्ति रसेर प्रचार।
मथुराय लुप्त तीर्थेर करिह उद्धार।
वृन्दावने कृष्ण सेवा वैष्णव आचार।
भक्ति स्मृति शास्त्र करि करह प्रचार।।

उन्होंने कहा, "सनातन, इसके बाद से मेरे कंथा-करंगधारी कंगाल वैष्णवगण, दल के दल, व्रजमण्डल में जाकर आश्रय लेंगे। तुम उनके ऊपर ध्यान देना तथा उनकी देख-भाल करना।"

प्रभु के इस आदेश का सनातन ने निष्ठापूर्वक पालन किया था। उत्तर-काल में, प्रभु द्वारा व्याख्यात तत्त्वों के धारक तथा वाहक के रूप में, वे व्रजमण्डल में स्थायीरूप से निवास करते रहे और शीघ्र ही वहाँ के वैष्णव-समाज के शीर्षस्थ लोगों में उनकी गणना होने लगी।

वृन्दावन पहुँचते ही सनातन ने, भक्त सुबुद्धि राय, लोकनाथ गोस्वामी और भूगर्भ पंडित के साथ साक्षात्कार किया। उन सभी के चरणों में दीनतापूर्वक दण्डवत करने के पश्चात् उन्होंने यमुना-पुलिन स्थित आदित्य टीले पर आश्रय लिया।

स्थान जंगल से घिरा हुआ था। यहाँ का गंभीर, निर्जन परिवेश ध्यान-भजन के लिए पूर्णतया अनुकूल था। साधक सनातन को यह स्थान बहुत पसन्द आया। यहाँ रहकर उन्होंने एकान्त निष्ठा के साथ साधन-भजन आरंभ कर दिया।

सनातन के इस समय के त्याग-वैराग्यमय, भजननिष्ठ जीवन की झांकी 'भक्तपदावली' में उपलब्ध होती है—

कभु कान्दे कभु हाँसे कभु प्रेमानन्दे भासे
कभु भिक्षा कभु उपवास।
छेड़ा कांथा, नेड़ा माथा मुखे कृष्ण गुणगाथा
परिधान छेंड़ा बहिर्वास।
कखनओं बनेर शाक अलवणे करि पाक
मुखे देय दुई एक ग्रास।

बीच-बीच में जब भजन-तन्मय साधक की स्वाभाविक अवस्था वापस लौट आती तो वे कंधे पर झोली डाल कर पैदल ही मथुरा चले जाते। जो भी किंचित भिक्षा वहाँ मिल जाती, वही उदर-पूर्ति का साधन होता।

थोड़े दिनों के अन्दर ही, सनातन, प्रभु के निर्देशानुसार लुप्त तीर्थों के उद्धार के लिए व्रती हुए। लोकनाथ गोस्वामी ने पहले से ही इस दिशा में कार्यारंभ कर दिया था। सनातन इस कार्यके लिए उन्हीं के साथ युक्त हो गये। जिन प्राचीन ग्रंथों में व्रज-माहात्म्य वर्णित है, उन्हें ढूंढ़ कर, लुप्त तीर्थों का संधान करना, इन दिनों उनका सबसे बड़ा कार्य हो गया। इस उद्देश्य से वे नित्य पहाड़ तथा जंगलों में भटकते रहते। राधाकृष्ण के एक-एक लीला-तीर्थों का वे शास्त्र-महाजन-वाक्य तथा लोक गाथाओं के आधार पर उद्धार करते तथा आनन्द से उत्फुल्ल हो स्थानीय वासियों के साथ कीर्तनानन्द में मत्त हो उठते।

लगभग एक वर्ष वृन्दावन में व्यतीत करने के पश्चात्, सनातन के प्राण, प्रभु श्री चैतन्य के लिए विह्वल हो उठे। इसके अलावा, प्रभु ने उनको एकबार नीलाचल के दर्शन के लिए भी कहा था। इसलिए, एक दिन झोली कंधे पर डाल कर वे उड़ीसा की ओर चल पड़े।

झाड़खण्ड के रास्ते सनातन दिन-रात सफर कर रहे थे। अनायास एक दिन उन्होंने देखा कि उनके शरीर में विषाक्त कण्डु-रोग का आक्रमण हो गया है। सर्वत्यागी सन्यासी, मन-ही-मन सोचने लगे, कि इस दुष्ट रोग का दुर्योग ही उनका प्राप्य था। दबीरखास के जीवन में सुलतान के अधीन रहकर जो अनाचार तथा अन्याय उन्होंने किया है, यह उसी की अनिवार्य परिणति है। साथ-ही-साथ उन्होंने मन में यह संकल्प कर लिया कि इस घृणित रोग से आक्रान्त इस भारस्वरूप शरीर की अब वे रक्षा नहीं करेंगे। पुरीधाम पहुँचकर श्री जगन्नाथ तथा प्रभु श्री चैतन्य के चन्द्रवदन का दर्शन करके रथ के पहियों के नीचे अपने प्राण विसर्जित करेंगे।

धाम में पहुँच कर, सनातन, हरिदास के भजन-कुटीर में उपस्थित हुए। हरिदास, अपने को यवन, पतित तथा दीनातिदीन समझते। इसीलिए श्री जगन्नाथ के सेवक तथा चैतन्य प्रभु के भक्तों के स्पर्श से बचकर उन्होंने नगर के एक दूरस्थ क्षेत्र में अपने पर्ण-कुटीर की रचना की थी। सनातन के मन में भी ऐसा ही दैन्य-भाव था। अपने को भी वे आचार-भ्रष्ट तथा अपवित्र समझते। इसी कारण हरिदास की कुटिया ही उनका आश्रय-स्थल बनी।

तपःसिद्ध हरिदास तथा त्याग-निष्ठ, शास्त्रविद् साधक सनातन के मिलन से वन-क्षेत्र में स्थित इस कुटिया में एक अनोखी स्थिति उत्पन्न हो गयी।

भक्त हरिदास को दर्शन-दान भी प्रभु के दैनिक कार्यों में से एक था। जगन्नाथ के ऊपल भोग के पश्चात् वे भक्तों के साथ इस कुटीर में उपस्थित होते तथा काफी समय वहीं व्यतित करने के बाद वे घर वापस जाते।

उस दिन प्रभु के वहाँ पदार्पण करते ही, सनातन ने दीनतापूर्वक प्रणाम निवेदित किया। हाथ बढ़ाकर, प्रभु आलिंगन के लिए जितना ही अग्रसर होते, सनातन उतना ही पीछे हटते जाते। अन्ततः उन्होंने कातर स्वर में कहा, प्रभु, कृपा करके मेरी विनती सुनो। इस तरह अपने देव-दुर्लभ शरीर से मेरा स्पर्श न करो। मैं अत्यन्त हीन तथा भ्रष्टाचारी हूँ। इसके अलावा, सारे शरीर में कण्डु की घृणित व्याधि भी है। दोहाई है, इसकी छूत अपने शरीर में लगाकर, मुझे और अधिक पाप का भागी न बनाओ।"

परन्तु, प्रभु को रोक सके, यह किसके लिए साध्य था? आनन्द के आवेश में, वे बार-बार अपने प्रिय पार्षद को वक्ष से चिपकाते रहे तथा कण्डु की पीब उनके सारे शरीर में लगती रही, तथा सनातन केवल पश्चात्ताप की अग्नि में जलते रहे।

सनानन की आत्मग्लानि बढ़ती ही रही। सोचा—कृष्ण ने उन्हें कैसी विपत्ति में डाल दिया! नित्य ही प्रभु उनको इसी तरह प्रेमालिंगन देंगे तथा उनका शरीर अपवित्र होगा। यह तो सर्वथा असह्य है। इसलिए इस पापी शरीर को शीघ्रातिशीघ्र विसर्जित कर देना ही न्यायसंगत है।

भक्तों के साथ श्री चैतन्य हरिदास के भजन-कुटीर को आलोकित करते हुए बैठे हैं, तथा भावावेश एवं दिव्य आनन्द से वे उद्दीप्त हैं। श्रीमुख से कृष्ण-कथा की अमृत धारा फूट पड़ी है।

अकस्मात्, प्रभु ने सनातन की ओर मुड़ कर कहा, "सनातन, एक बात का सदा ध्यान रखना, केवल शरीर त्याग करने से कृष्ण नहीं मिलते। उनकी प्राप्ति उनके भजन से ही होती है। ऐसे अशुभ संकल्पों का त्याग कर दो, तथा लीलामय की लीलारस के महासमुद्र में गोता लगा डालो। मैं आशीर्वाद देता हूँ, कि शीघ्र ही तुम्हारी मनोकामना सिद्ध होगी और परमप्रभु के दर्शन पाओगे।"

प्रभु के इंगित का रहस्य समझने में सनातन को विलम्ब नहीं हुआ। अंतर्यामी के समीप सनातन की आत्महत्या की गुप्त इच्छा छिप नहीं सकी।

प्रेमावेग से सनातन, उनके चरणों में गिर पड़े। रोते-रोते, उन्होंने कहा, "प्रभु, मैं पतित तथा महापातकी हूँ। फिर इस शरीर को जीवित रखने का लाभ ही क्या है, यह तो बताओ ? श्री जगन्नाथ के रथ के नीचे मैं अपने को डाल दूँ, इसकी तुम अनुमति दो।"

इसके उत्तर में प्रभु ने जो बात कही, उसके माध्यम से, अंतरंग भक्त सनातन की महिमा प्रकट हो उठती है :

प्रभु कहे तोमार देह मोर निज धन।
तुमि मोरे करियाछो आत्मसमर्पण।
परेर द्रव्य तुमि कँनो चाह विनाशिते।
धर्माधर्म विचार किवा ना पार करिते।
तोमार शरीर मोर प्रधान साधन।
ऐ शरीरे साधिबो आमि वहु प्रयोजन।

(चै० चरितावली)

चिह्नित पार्षद सनातन के माध्यम से प्रभु क्या इश्वरीय कार्य कराएँगे, इसका आभास इन पदों में कुछ-कुछ प्रकट हो उठता है। कृष्णभक्ति, कृष्ण-सेवा का प्रवर्तन, लीलातीर्थों का उद्धार एवं वैराग्यमय आदर्शों का प्रचार इत्यादि ही वे संकल्पित कार्य थे। इन कार्यों में सनातन ही उनके एकमात्र सहायक हो सकेंगे। स्वयं प्रभु, मातृआज्ञा से नीलाचल में निवास कर रहे हैं, इसलिए, इस स्थल के त्याग करने की इच्छा उन्हें नहीं है। साथ ही, प्राण-प्रिय व्रजनन्दन के लीलाधाम, वृन्दावन की ओर भी उनकी दृष्टि सतत निबद्ध रही है। वहाँ के नव उज्जीवित भक्ति-धर्म आन्दोलन के प्रवर्तक के रूप में वे अपने प्रिय परिकर सनातन को ही स्थापित करना चाहते हैं। सनातन के माध्यम से ही वे अपनी व्यक्तिगत प्रयोजनों में से अधिकांश की पूर्त्ति करेंगे।

प्रभु द्वारा की गयी भर्त्सना के बाद, सनातन सिर झुकाए बैठे रहे। यथार्थं तो यही है कि जिस जीवन का उन्होंने प्रभु के चरणों में उत्सर्ग कर दिया है, उसके ऊपर तो उनका व्यक्तिगत अधिकार शेष नहीं रहा। फिर वे उस जीवन को अब अपनी इच्छा से किस तरह विसर्जित करेंगे ?

प्रभु की वाणी सुनकर, हरिदास के आनन्द की सीमा नहीं रही। प्रेमपूर्वक सनातन का आलिंगन करते हुए उन्होंने कहा, "सनातन, तुम्हारे सौभाग्य की सीमा नहीं है। स्वयं प्रभु ने तुम्हारे शरीर पर अपना दावा किया है। मात्र इतना ही नहीं, अपने शरीर से जो कार्य संभव नहीं है, उसे तुम्हारे माध्यम से

कराने का उन्होंने निश्चय किया है। तुम सत्य ही धन्य हो। हमलोग नितान्त अधम हैं, इसीलिए प्रभु के किसी काम नहीं आ सके।"

"यह कैसी अजीब बात कर रहे हो, श्रीपाद्!"—सनातन ने हाथ जोड़कर उत्तर दिया। "प्रभु की इस मण्डली में तुम्हारे-जैसा भाग्यवान कौन है? प्रभु का आविर्भाव ही नाम-धर्म प्रचार के लिए हुआ है तथा इस कार्य में तुम्हीं तो सबसे अग्रगण्य हो! प्रभु के सभी भक्तगण अपने-अपने कल्याण के लिए साधन-भजन करते हैं। इनमें तुम्हीं एक व्यतिक्रम हो। अपने उद्धार के लिए व्यग्र न होकर, अविराम उच्च स्वर में जप एवं कीर्तन करते हुए तुम प्राणिमात्र के उद्धार के लिए अधिक तत्पर हो। तुम्हारे प्रेम की तुलना ही कहाँ है, श्रीपाद!"

सनातन एवं हरिदास की इस मीठी नोक-झोंक से भजन-कुटीर मुखरित हो उठा।

श्री चैतन्य के अंतरंग भक्त, जगदानन्द पंडित देश से नीलाचल आये हुए हैं। वे सनातन से साक्षात्कार करने गये। कुछ देर कृष्ण-कथा में व्यतीत करने के बाद सनातन ने कहा, "पंडित, आप प्रभु के निकटतम सहयोगियों में से हैं। आप मुझे कुछ सदुपदेश दें। प्रभु, नित्य मुझे आलिंगन करते हैं और उनके कनक-सदृश सुन्दर शरीर में मेरे वीभत्स कण्डु रोग की पीब लग जाती है। यह एक महान अपराध नित्य मुझसे हो रहा है। प्रभु को रोकना भी असम्भव है। सोचा, कि आत्महत्या करके इस समस्या का समाधान कर डालूँगा; परन्तु वह भी नहीं हो सका। अन्तर्यामी प्रभु ने पहले से ही सारी बातें समझ कर इसके लिए भी निषेध कर दिया। अब मैं क्या करूँ, यह बतायें?"

जगदानन्द स्वभावतः ही प्रभु के अनन्य भक्त हैं। प्रभु के शरीर से विषाक्त रोग का नित्य स्पर्श हो रहा है, सुनते ही वे सिहर उठे। व्याकुल स्वर में उन्होंने कहा, "सनातन, तुम एक कार्य करो। वृन्दावन धाम से तो तुम प्रभु के दर्शन हेतु दौड़े हुए आये हो। तुम्हारा असली काम तो भाई, पूरा हो चुका है। फिर यहाँ रुक कर नित्य यह विपत्ति अपने सिर क्यों लेते हो? रथयात्रा उत्सव समागत है। उसी के बाद जल्दी से वृन्दावन चले जाओ। तुम्हें तथा रूप गोस्वामी को, प्रभु ने वृन्दावन का नेतृत्व दिया है, और इसके अलावा भी कितने दुरूह कार्यों का भार दिया है। तुम्हें क्या वृन्दावन को छोड़कर कहीं अन्यत्र निवास करना शोभा देता है? वृन्दावन तो तुम्हारा अपना स्थान है। और अधिक समय न गँवा कर तुम्हारा अपने स्थान पर ही वापस चले जाना उचित है।"

पंडित की बात तर्क-संगत थी। सोच-विचार कर सनातन ने इस प्रस्ताव पर स्वीकृति दी।

दूसरे ही दिन प्रभु, हरिदास तथा सनातन को दर्शन देने के लिए आये हुए हैं। नित्य-अभ्यास के अनुसार उस दिन भी उन्होंने सनातन को आलिंगन प्रदान किया। सनातन के हृदय में तीव्र पश्चात्ताप की वेदना प्रारम्भ हुई। हाथ जोड़ कर कातर कण्ठ से उन्होंने निवेदन किया, "प्रभु, तुम रोज-रोज इस पापी के शरीर का स्पर्श करते हो, तथा तुम्हारे पवित्र शरीर पर विषाक्त कण्डु का पीब लग जाता है। इससे मेरा अन्तर दग्ध हो जाता है। प्रभु, अब मैंने स्थिर कर डाला है कि अब मैं नीलाचल में नहीं रुकूँगा। रथयात्रा के बाद ही वृन्दावन चला जाऊँगा। कल ही तो जगदानन्द के साथ बातचीत हुई। उन्होंने भी मुझे शीघ्र यहाँ से चले जाने का ही उपदेश दिया।"

प्रभु रोष से फट पड़े। गरजते हुए उन्होंने कहा, "क्या कहते हो तुम, सनातन! कल का जगा, वह तुम्हें उपदेश देने आया था? उसकी ऐसी स्पर्धा। क्या वह नहीं जानता कि, बुद्धि, शास्त्रज्ञान तथा भजन-साधन में, तुम उसके गुरु होने योग्य हो? मुझे भी तुम शास्त्रों की निगूढ़ बातों को सिखाने की योग्यता रखते हो। इसके अलावा तुम मेरे प्राणाधिक प्रिय सहचर हो। बालक-बुद्धि जगा, तुम्हें उपदेश देने आया, ऐसी धृष्टता उसने कैसे की?"

प्रभु की क्रोधोद्दीप्त मूर्त्ति की ओर सनातन निर्निमेष दृष्टि से देख रहे हैं और आँखों से प्रेमाश्रुओं की धारा बह रही है।

थोड़ी देर बाद, उन्होंने संतुलित होने पर कहा, "प्रभु, आज मेरा परम सौभाग्य है कि तुम्हारा यह प्रेम-मनोहर रूप मेरे सामने इस तरह उद्घाटित हुआ। यह भी ज्ञात हुआ कि भक्त प्रवर जगदानन्द जैसे भाग्यवान बहुत कम ही हैं। उनका जो तुमने कठोर भाषा में तिरस्कार किया, वह अपना निकटतम व्यक्ति समझ कर ही किया। तुम्हारी सहज आत्मीयता के वे अधिकारी हैं। क्या यह साधारण बात है, प्रभु? वस्तुत: यह देख रहा हूँ कि परम अंतरंग जगदानन्द को तुम एकात्मकता का मधुपान करा रहे हो और इसी बहाने मुझे गौरव-स्तुति का निम्न-निषिद्ध रस पिला रहे हो।"

सनातन की इस बात से प्रभु थोड़ा विचार में पड़ गये। उसके बाद, प्रसन्न मधुर स्वर में उन्होंने कहा, "सनातन, असली बात सुनो। जगदानन्द मेरा तुमसे अधिक प्रिय नहीं है और यह भी जान लो, मैं कभी किसी की मर्यादा का लंघन सहन नहीं कर पाता। तुम्हें उपदेश देने के लिए आकर जगदानन्द ने

तुम्हारे जैसे व्यक्ति की मर्यादा का उल्लंघन किया है । इसीलिए मैंने उसकी भर्त्सना की है । मैंने वाह्य ज्ञान से तुम्हारी प्रशंसा की है, यह न समझना । तुम्हारे व्यक्तिगत गुण ही प्रशंसा के स्रोत हैं ।"

भक्तों की ओर लक्ष्य करके प्रभु ने आगे कहा "तुम सभी जानते हो कि मैं सर्वत्यागी, सर्वबंधनमुक्त संन्यासी हूँ । चन्दन तथा पंक में मेरा सम ज्ञान रखना ही तो उचित है । फिर सनातन के शरीर का कण्डुरस मेरे शरीर में लगता है, इसके लिए तुम व्याकुल क्यों हो, यह तो बताओ ?"

पुराने भक्त हरिदास ने अब निवेदन किया, "प्रभु, तुम स्वेच्छामय, स्वतन्त्र ईश्वर हो । तुम्हारी लीला का मर्म हमलोग क्या समझ सकते हैं ? वैष्णवापराध करके वासुदेव ठाकुर कुष्ठ रोग से आक्रान्त हुआ था, इस पर भी तुमने उस पर कृपा करने में कृपणता नहीं की । तुम्हारी ही कृपा से वह असाध्य कुष्ठ रोग से छुटकारा पा सका था । फिर भी देख रहा हूँ कि तुम्हारे समर्पित-प्राण, परम भागवत सनातन का विषाक्त कण्डुरोग इतने दिनों से दूर नहीं हो पा रहा है । इसका रहस्य केवल तुम ही जानते हो, प्रभु ।"

मुस्कुराते हुए, प्रभु ने उत्तर दिया, "हरिदास, सनातन ने अपना देह-मन-प्राण सभी मुझे समर्पित किया है, तथा मैं अपना सर्वस्व अपने प्राण-प्रभु कृष्ण को समर्पित करके बैठा हुआ हूँ । सनातन की वे निश्चित रूप से रक्षा करेंगे ।"

भक्तों ने विस्मयपूर्वक देखा कि कुछ दिनों के अन्दर ही सनातन की दुरारोग्य व्याधि सम्पूर्ण रूप से समाप्त हो गयी तथा सारे शरीर में अपूर्व लावण्य-श्री प्रस्फुटित हो उठी ।

क्रमशः रथयात्रा भी आ गया । गौड़ीय भक्तगण इस समय सदल-बल, नीलाचल में एकत्रित हुए । प्राणप्रभु को केन्द्र करके वे आनन्द-तरंग से प्लावित हो उठे । सनातन से इन सभी प्रेमिक, प्रभु के प्राण भक्तों का एक-एक कर परिचय हुआ और वे अपनेको महा भाग्यवान समझने लगे ।

इन दिनों का सबसे बड़ा आकर्षण था—श्री जगन्नाथ के रथ के अग्र भाग पर भावाविष्ठ श्री चैतन्य का नर्त्तन । अबकी बार, इस अपूर्व दृश्य को देखकर सनातन, आनन्द से आत्महारा हो गये ।

चातुर्मास्य की समाप्ति पर गौड़ीय भक्तगण देश वापस चले गये । परन्तु प्रभु सनातन को छोड़ने को राजी नहीं हैं । इसीलिए दोल यात्रा (होली) तक सनातन को नीलाचल में ही रहना पड़ा ।

वाराणसी में रहते समय प्रभु ने वैष्णव तत्त्व तथा साधना की जो शिक्षा सनातन को दी थी, अबकी बार उसका अन्तिम अध्याय समाप्त हुआ । इसके

अलावा, प्रभु वृन्दावन में एक नवीन भक्ति साम्राज्य का गठन करना चाहते हैं, और उसकी भित्ति निर्माण तथा संगठन का भार उन्होंने प्रिय पार्षद सनातन के कन्धों पर डाला। विशेषकर इन्हीं दो कारणों से इतने दिनों तक सनातन को घनिष्ठ सान्निध्य में रखा और बहुत-से गुरुत्वपूर्ण निर्देशों का दान किया।

दोल-यात्रा का उत्सव समारोहपूर्वक समाप्त हुआ। अब अश्रुपूरित नेत्रों से प्रभु के चरणों से विदा लेकर सनातन ने नीलाचल का त्याग किया।

वृन्दावन के आदित्य टीले की पर्णकुटीर में बैठकर फिर उनका भजन-कीर्त्तन तथा प्रभु द्वारा निर्देशित कर्मसाधन के अध्याय का समारम्भ हुआ।

यह स्थान इष्ट ध्यान के लिए बड़ा ही अनुकूल था। ऊपर दिगन्त विस्तृत नीलाकाश तथा नीचे कल्लोलिनी यमुना अपरुप लीला-भंगिमा से बहती जा रही है। दूर वनानी से वेष्ठित पहाड़ों की श्रेणी पर नील-हरित मधुरिमा जड़ित है। समग्र परिवेश में मानो प्राणप्रिय इष्टविग्रह, श्यामसुन्दर, ओतप्रोत हो उठे हैं। सनातन की तपस्या, परमानन्दपूर्वक इस निर्जन अरण्यवास में अग्रसर होती रही।

उन दिनों वृन्दावन के आसपास जनसाधारण की बस्ती बहुत कम थी। इसी कारण भिक्षा-संग्रह करने हेतु, साधुओं को मथुरा क्षेत्र में जाना पड़ता। सनातन को भी बीच-बीच में यही करना होता। सहसा, एक दिन भिक्षा-संग्रह के माध्यम से ही उनके साधन-जीवन में एक नवीन अध्याय का सूत्रपात हुआ। इष्टदेव ने अपनी एक सर्वथा नवीन सेवा-लीला का प्रकटन किया।

मधुकरी हेतु, सनातन उस दिन मथुरा के दामोदर चौबे के घर उपस्थित हुए। आंगन में पैर रखते ही एक नयनाभिराम विग्रह, जिनका नाम श्री श्री मदन-गोपाल था, दृष्टि पड़ी। दर्शनमात्र से ही सनातन, पता नहीं कैसे, एक अपूर्व प्रेमावेश से विह्वल हो उठे। इस श्रीमूर्त्ति से न जाने उनको कितना अपनत्व है तथा कितना परिचय! पता नहीं कितने जन्मों की साधना का धन, उनके सम्मुख उपस्थित है!

भावाविष्ठ साधक के अन्तर में एक प्रवल आर्ति जग पड़ी और साथ ही जग पड़ी इस श्री-विग्रह की सेवा के लिए एक दुर्दमनीय आकांक्षा। परन्तु अत्यन्त कष्ट के साथ उन्हें आत्म-संवरण करना पड़ा। स्वयं तो वे कंथा-करंगधारी कंगाल वैष्णव हैं, श्री-मूर्त्ति की सेवा की उनमें सामर्थ्य कहाँ? इसके अलावा, चौबे-परिवार तो प्राणों के भय से भी इस इष्ट-विग्रह का त्याग नहीं करेगा। भिक्षा ग्रहण के पश्चात्, इस श्री-मूर्त्ति को बार-बार लोभातुर नयनों से देखते हुए उन्होंने उस स्थान का त्याग किया।

सनातन आदित्य टीले के विजन आवास पर वापस आये तथा दैनिक ध्यान-भजन में निविष्ट हो गये। परन्तु आज वे कैसी विपत्ति में फँस गये हैं? जब भी वे आँखें मूँद कर भजन-आसन पर उपविष्ठ होते है, पता नहीं कहाँ से वही मदनगोपाल मूर्त्ति, मानस-पट पर प्रकट हो जाती है, तथा उनके प्राणों को प्रवलरूप से आकर्षित कर विलीन हो जाती है। सनातन के मन से स्वस्ति तथा शांति सर्वथा लुप्त हो गयी है। बीच-बीच में किसी कार्य से या अकारण ही वे मथुरा पहुँच जाते तथा चौबेजी के आंगन में खड़े होकर अपने नयन-मन-विमोहन ठाकुर की ओर देखते रहते।

क्रमशः, चौबे परिवार के साथ सनातन की घनिष्टता हो गयी। चौबेजी की विधवा पत्नी की सेवा का भाव बहुत ही सुन्दर था। ये विग्रह उनके आदरणीय बालगोपाल थे। अपने बालक रूप में ही वे उनकी दिन-रात सेवा परिचर्या करतीं। चौबे गृहणी के पुत्र का नाम था सदन। जैसे यह सदन उनका एक पुत्र था, मदन गोपालजी भी वैसे ही दूसरे पुत्र थे। प्राणप्रिय दोनों पुत्रों का लालन-पालन वे एक ही भाव से सम्पन्न करतीं। उनकी सेवा का एक ही सरल-सहज, मातृभाव का ही माध्यम था।

निष्ठावान भक्त सनातन के मन में शंका उत्पन्न हो गयी। क्या इष्ट-विग्रह की सेवा-परिचर्या घर के एक बालक के रूप में ही चलेगी? प्रकृत-इष्ट-निष्ठा नहीं रहेगी, इष्ट की सेवा तथा पूजा की विशेष व्यवस्था भी नहीं रहेगी! यह कैसी बात है?

एक दिन चौबे गृहणी को पुकार कर उन्होंने कहा, "माँ, तुम परम यत्न-पूर्वक तथा स्नेह से मदनगोपालजी की सेवा कर रही हो, यह तो ठीक है। परन्तु मुझे लगता है कि इसमें एक त्रुटि हो रही है। तुम मातृभाव, यशोदा-भाव से प्रभुजी का लालन-पालन कर रही हो। परन्तु माँ यशोदा का वात्सल्य-रस तो साधारण जीवों में संचारित होना सम्भव नहीं है। इसीलिए, मैं समझता हूँ कि तुम प्रभुजी की सेवा वास्तविक भक्ति एवं श्रद्धा के साथ ही सम्पन्न करो। जिस प्रणाली से भक्त वैष्णव-गण भगवान की सेवा-पूजा करते हैं, उसी प्रणाली का तुम अनुसरण करो।"

महिला ने विनयपूर्वक उत्तर दिया, "अच्छा बाबाजी, तुमने नये सिरे से समझा तो दिया। ठीक है, ऐसा ही होगा। तुम्हारे उपदेश के अनुसार अब से मैं ठाकुर के लिए विधिवत् सेवा-अर्चना की व्यवस्था करूँगी।"

इसके बाद कई दिन व्यतीत हो गये। सनातन मदनगोपालजी के दर्शनार्थ उस दिन मथुरा गये हुए हैं। आंगन में पदार्पण करते ही चौबे-पत्नी दौड़ती हुई

ग्रायीं। मुस्कुराती हुई उन्होंने कहा, "नहीं बाबाजी, तुम्हारे कहने के अनुसार कार्य करना सम्भव नहीं हो सका। मदनगोपालजी बहुत क्षुब्ध हो गए। एक दिन उन्होंने स्वप्न में ग्रादेश दिया,—तूँ मेरी माँ बनी थी, वही तो ग्रच्छा था। ग्रब इष्ट के रूप में मुझे दूर खिसका देती हो तथा पूजा-ग्रर्चना की भीड़ लगा देती हो—यह मुझे बिलकुल ग्रच्छा नहीं लगता। तुम्हारे दोनों पुत्रों, सदन तथा मदन में भेद रखना क्या ग्रच्छी बात है?"

सनातन चौंक पड़े। ठीक ही तो है! सहजात प्रेम तथा हृदय की स्वाभाविक पुकार—यही तो प्रभु की सेवा का श्रेष्ठ उपचार है! चौबे-गृहिणी के स्वप्नादेश के माध्यम से इस मूल तत्त्व को मदनगोपाल ने ग्राज उन्हें समझा दिया। प्रभुजी की इस कृपा-निर्देश की बात को स्मरण करके बार-बार सनातन के नयनद्वय ग्रश्रु सजल होने लगे।

क्रमशः मदन गोपालजी का ग्राकर्षण सनातन के जीवन में तेजी से बढ़ता ही गया। दैन्यमय साधक के हृदय के ग्रन्तस्थल से नित्य यही कातर प्रार्थना उद्‌गत होती, "हे प्रभु, हे दीनदयाल, तुम्हारा विरह ग्रब मेरे लिए सहन करना सम्भव नहीं हो पा रहा है। तुम ग्राग्रो—ग्राग्रो, इस दीन-हीन कंगाल की गोद में ग्राग्रो। इस ग्रभागे के जीवन में जो तीव्र दहन तथा ज्वाला शुरू हुई है, उसकी निवृत्ति तुम्हें प्राप्त किए बिना नहीं होगी।"

शीघ्र ही इस प्रार्थना तथा ग्रार्त्त पुकार का फल प्राप्त हो गया। दामोदर-पत्नी एक दिन, म्लान-मुख, सनातन के पास ग्राकर खड़ी हुईं। ग्रश्रुरुद्ध कण्ठ से उन्होंने कहा, "बाबाजी, ग्राज से तुम ही मेरे मदनगोपाल की सेवा का भार लो। गोपाल ग्रब बड़ा हो चुका है ग्रौर वह माँ के ग्राँचल के नीचे रहना भी क्यों चाहेगा? तुम्हारी कुटिया में ही जायगा, इसकी उसने जिद पकड़ ली है। कल रात ही स्वप्न में उसने यही बात मुझसे बार-बार कही। इसके ग्रलावा हमलोगों की सांसारिक ग्रवस्था भी धीरे-धीरे खराब होती जा रही है। ठाकुर को बाद में कष्ट न होने लगे, इसी दुश्चिंता से हम लोग मर रहे हैं। बाबाजी, ग्राज ही यह विग्रह तुम लेते जाग्रो।"

सनातन के हृदय की साध इस तरह पूरी हुई। परम ग्रानन्दपूर्वक, श्री-विग्रह को गोद में उठाकर वे उसी समय वृन्दावन स्थित भजनकुटीर की ग्रोर ग्रग्रसर हुए। वहाँ जाकर उन्होंने यत्नपूर्वक ग्रपनी प्राणप्रिय, इस कृष्णमूर्त्ति को स्थापित किया।

चौबेजी के घर से जिस मदनगोपाल विग्रह को सनातन ने प्राप्त किया था, उसका एक विशेष महत्त्व था। कहा जाता है कि श्री कृष्ण के प्रपौत्र, महाराज

वज्रनाभ ने किसी समय सारे व्रजमण्डल में अनुसंधान करके जिन आठ प्राचीन विग्रहों का पता लगाया था, मदनगोपाल श्री-मूर्त्ति उनमें श्रेष्ठतम थी।

प्राणप्रिय विग्रह तो हस्तगत हो गया। परन्तु इसकी सेवा-परिचर्या का क्या उपाय होगा? सनातन विकट समस्या में पड़े। सोच-विचार कर, भजन-कुटीर के ही निकट उन्होंनें एक झोपड़ी बनाई; तथा यत्नपूर्वक उन्होंने ठाकुर को वहाँ संस्थापित किया। सेवा के लिए नए उत्साह के साथ मधुकरी शुरू हुई। भिक्षा के रूप में सामान्यतः जो कुछ आटा मिलता उसे पिण्डाकृति में बना कर आग में सेंक लेते। उसके बाद प्रेमाप्लुत हृदय से दीन-भक्त नित्य अपने प्राणप्रिय ठाकुर के समक्ष इसी को निवेदित करते। आटे के ये अग्निदग्ध पिण्ड ही व्रज-मण्डल के वैष्णव-समाज में सनातन गोसाँई की आङ्गाकड़ि-भोग के नाम से विख्यात हुए। उत्तरकाल में बड़े-बड़े धनी व्यक्ति मदनगोपाल जी के सेवार्थ प्रचुर अर्थदान के साथ आगे आए। उस समय के विपुल आयोजन, ऐश्वर्य एवं आडम्बर के दिनों में भी कंगाल सनातन के दग्ध आटे के पिण्ड, श्री-विग्रह के दैनिक भोग के अपरिहार्य अंग थे।

आङ्गाकड़ि के अलावा एक और वस्तु भी सनातन द्वारा निवेदित करते देखा जाता। टीले के नीचे कई किस्म के शाक इधर-उधर उगे हुए थे। सनातन नित्य इनको उखाड़ लाते। नमक प्रायः जुट नहीं पाता था। दीन-हीन वैष्णव अधिकतर बिना नमक के पकाया हुआ शाक भोग चढ़ाते।

इस तरह कुछ समय व्यतीत हो गया। इसके बाद श्री-विग्रह ने एक दिन बहुत तमाशा खड़ा कर दिया। स्वप्न में सनातन को दर्शन देकर उन्होंने कहा, "तुम्हारे द्वारा निवेदित यह भोग अब गले के नीचे नहीं उतर रहा है। तुम्हारी आङ्गाकड़ि तथा नमक-मसाले से रहित रसोई खाकर कितने दिनों तक चल सकेगा?"

सनातन के दोनों नेत्र अश्रु सजल हो उठे। कातर स्वर में उन्होंने निवेदन किया, "प्रभु, तुम तो जानते ही हो कि मैं तुम्हारा एक निश्किचन तथा अधम सेवक हूँ। तुम तो विश्व ब्रह्माण्ड के अधिपति हो, तुम्हारे लिए उपर्युक्त राज-भोग का जोगाड़ मैं किस तरह कर सकूँगा? अगर पका हुआ आटा तथा उबला हुआ शाक खाने की रुचि न हो तो तुम स्वयं ही अपनी सेवा की यथायोग्य व्यवस्था कर डालो।"

प्रभु की लीला भी बड़ी जटिल तथा दुर्बोध है। चौबे-गृहिणी के इतने दिनों का आदर तथा वात्सल्य छोड़ कर, इस असहाय तथा संपदाहीन माथुर के घर

में स्थान ग्रहण किया है, और यहाँ आकर रुचिकर आहार के लिए हठ पकड़ रहे हैं। परन्तु सनातन, जिनका डोर-कौपीन ही संबल है, इस विषय में क्या कर सकते हैं ? वे तो बिलकुल ही निरुपाय हैं।

लगातार, सनातन प्रभु मदनगोपाल के स्वप्न-दर्शनदान की ही बात सोचते रहे। उनके अंतर में तीव्र व्यथा रहती तथा नेत्रों से अश्रु-धारा बहती रहती।

निरंतर विह्वलता तथा अश्रुओं के अर्घ्य ने अंतरर्यामी के अंतर को स्पर्श किया। भक्ताधीन भगवान ने कुछेक दिनों के अंदर ही भक्त की मनोकामना पूर्ण होने की व्यवस्था कर दी।

पंजाब के विशिष्ट व्यापारी रामदास कपूर एक दिन, रात में नौका पर वृन्दावन के पास से ही गुजर रहे थे। साथ में मूल्यवान माल था जिसकी वे दूर शहरों में जाकर बिक्री करेंगे। सहसा आदित्य टीले के नीचे सूर्य-घाट के पास आकर नौका, एक वृहत रेती में अटक गयी तथा साथ-ही-साथ टेढ़ी हो गयी। माँझियों ने बहुत देर तक प्रयास करके हार मान ली। माल से भरी नौका को किसी तरह भी निकालना संभव नहीं हो सका।

कृष्णपक्ष की गहन रात्रि थी। वृन्दावन के वन तथा टीलों पर घना अंधकार छाया हुआ है। पास में कहीं किसी बस्ती के चिह्न भी नहीं हैं। रामदास कपूर चिंतित हो उठे। अगर कुछ स्थानीय लोगों को इकट्ठा किया जा सकता तो नौका रेत में से बाहर निकाली जाने की संभावना थी। परन्तु यह तो मात्र दुराशा ही थी। इस निशीथ रात्रि में, जन-मानवहीन यमुना के तट पर कौन उनकी सहायता करने आयेगा ?

क्रमशः रामदास की दुश्चिन्ता बढ़ती ही गयी। नौका अगर इस तरह टेढ़ी ही पड़ी रहेगी तो अवश्य ही डूब जायगी तथा उनका सर्वस्व जल के अंदर स्वाहा हो जायगा। इसके अलावा, रात में वैसे ही पड़े रहने पर भी कम विपत्ति की आशंका नहीं है। इस तटवर्ती वन में दस्युओं की भी घुसपैठ है। कब वे नौका पर धावा बोल कर, नौका में लदे माल को लूट ही लें, कौन जाने ?

निरुपाय होकर वे सोच रहे हैं। अकस्मात् उन्हें निकटवर्त्ती टीले पर एक मृदु दीपशिखा दीख पड़ी। साथ-ही-साथ आशा की एक किरण रामदास के अंतर में प्रज्वलित हो उठी। एक बार अंतिम प्रयास कर के क्यों न देखा जाय? संभव है, टीले के ऊपर कोई बस्ती ही हो। वहाँ से आसपास के कुछ लोगों को इकट्ठा कर लेने की भी संभावना है।

तैर कर वे किनारे आये। प्रकाश को लक्ष्य करके द्रुतगति से वे टीले के शीर्ष पर पहुँचे। पहुँचते ही उन्हें एक पर्णकुटीर दृष्टिगोचर हुआ। भीतर

प्रदीप का क्षीण आलोक प्रकाशित हो रहा है, तथा एक ओर एक नयनाभिराम कृष्ण-विग्रह स्थापित है। विग्रह के सम्मुख ही एक देवतास्वरूप वैष्णव साधक भजनरत हैं। पता नहीं कैसे, इस साधक के दर्शनमात्र से ही, रामदास के अंतर में एक दृढ़ विश्वास का जन्म हुआ। भक्तिपूर्वक उन्होंने प्रणाम निवेदित किया।

खड़े होते ही सनातन ने प्रश्नसूचक दृष्टि से आगंतुक को ओर देखा। रामदास ने हाथ जोड़ कर अपनी विपत्ति की सारी कथा उनसे कही। कातर स्वर में विनती करते हुए उन्होंने कहा, "महाराज, मैं आज महान संकट में फँस गया हूँ। मेरा सर्वस्व आज यमुना में डूब रहा है। फिर भी मेरा सौभाग्य है कि इस निर्जन स्थान में आप-जैसे महापुरुष का मुझे दर्शन मिला। पता नहीं कौन मेरे अंतर से पुकार-पुकार कर कह रहा है कि आपकी कृपा के अलावा मेरे उद्धार की कोई आशा नहीं है। आपके चरणों के अलावा मेरा कोई आश्रय नहीं है। कृपा करके मेरा उद्धार कीजिए।"

आर्त की कातर प्रार्थना से सनातन का हृदय विगलित हो गया। स्निग्ध, मधुर स्वर में उन्होंने कहा, "बाबा, तुम इतने अधीर न हो। शान्त हो जाओ, मेरे मदनगोपाल जी, तुम्हारे ऊपर कृपा करेंगे।"

आशीर्वाद तथा अभय-लाभ के पश्चात्, रामदास थोड़ा आश्वस्त हुए। टीले से उतरने के पहले उन्होंने कहा, "महाराज, मैंने संकल्प किया है कि इस विपत्ति से उद्धार पाने पर, मेरे इस बार के व्यापार का सारा मुनाफा, मैं आपके इन देव-विग्रह की सेवा पर खर्च कर डालूँगा।"

सनातन की शुभेच्छा से, रामदास, उसी रात विपत्ति से मुक्त हो गये। पता नहीं कहाँ से, यमुना में, अलौकिकरूप से एक नयी स्त्रोत-धारा फूट पड़ी। रेत में फँसी संकट-ग्रस्त नौका फिरसे जल में तैरने लगी और अपने रास्ते पर चल पड़ी।

व्यापार से वापस आने पर रामदास कपूर तुरत वृन्दावन चले आए तथा सनातन से सपत्नीक दीक्षा ग्रहण करके धन्य हुए। इसके अलावा, उस बार के व्यापार का सारा लाभ उन्होंने मदनगोपाल जी की सेवा में अर्पित कर दिया। उस विपुल अर्थ-राशि से श्री-विग्रह के लिए एक रमणीक मंदिर, जगमोहन तथा नाट्यशाला का निर्माण हुआ। इसी के साथ-साथ कपूर ने काफी भूमि-संपत्ति क्रय करके ठाकुर की सेवा तथा भोग-वितरण की स्थायी व्यवस्था भी कर डाली।

जनसाधारण के समक्ष, सनातन द्वारा सेवित ये मदनगोपाल क्रमशः मदनमोहन के नाम से परिचित हो उठे। उत्तरकाल में अनेक घटना-चक्रों से प्रभु का यह लीलामय श्री-विग्रह जयपुर में स्थानान्तरित हो गया।

इष्टदेव के मंदिर का निर्माण तथा सेवा-कार्य का बंदोबस्त इस तरह चामांत्कारिक ढ़ंग से हो गया। सनातन की सारी दुश्चिन्ताएँ दूर हो गयी, तथा उनका अंतर अपार तृप्ति से भर उठा।

प्रेमपूरित हृदय तथा साश्रुनयन, श्री-विग्रह को दण्डवत् करके वे कहने लगे, "ठाकुर, पहले तुम चौबे के भवन में थे, उसके बाद कंगाल सनातन की झोपड़ी में आये। अब तुम व्रजमण्डल के तीर्थकामी भक्तसमाज के समक्ष तीर्थराज के रूप में प्रतिष्ठित हो। मेरी एकमात्र प्रार्थना यही है कि जीवों के कल्याण के लिए, इस समय जो सेवा-लीला प्रकट की है, वह अविराम चलती रहे। अब मुझे यहाँ से छुट्टी दो, प्रभु।"

इस नवनिर्मित, सुरम्य इष्ट मंदिर में सनातन ने एक दिन के लिए भी वास नहीं किया। पूर्ववत्, वृक्ष की छाया तथा पर्णकुटीर ही सर्वत्यागी, कृच्छ्व्रती साधक का एकमात्र आश्रय रहा।

इसके बाद से वे कभी गोवर्धन के नीचे, कभी राधाकुण्ड के तट पर या कभी गोकुल के वन-क्षेत्रों में झोपड़ी बना कर पूर्व निष्ठा के साथ साधन-भजन करते रहे।

प्रभु श्रीचैतन्य से सनातन ने जो लुप्त तीर्थों के उद्धार का निर्देश पाया था, वह उन्हें कभी विस्मृत नहीं हो पाया। इन दिनों वे जहाँ भी वास करते, उसके चारों ओर तीर्थ तथा तीर्थ-विग्रहों को खोज निकालना उनकी साधना का विशिष्ट अंश रहता। प्रभु की प्रेरणा से उव्दुद्ध होकर सनातन में क्रमशः अनेक तीर्थों को पुनर्जीवित किया, तथा उनकों जनसाधारण के समक्ष प्रतिष्ठित किया। इन स्थलों में विशेष रूप से उल्लेखनीय, नन्दग्राम में नन्द-यशोदा, बलभद्र तथा कृष्ण विग्रह की स्थापना करके वे भक्त समाज के विशेष धन्यवाद भाजन हुए।

लोकनाथ गोस्वामी तथा भूगर्भ पंडित पहले से ही श्री चैतन्य के निर्देशानुसार ब्रजमण्डल में साधन-भजन में रत थे। इसके बाद एक-एक कर, रूप गोस्वामी, गोपाल भट्ट, रघुनाथ भट्ट, रघुनाथ दास गोस्वामी इत्यादि आकर उपस्थित हुए। इनमें से प्रत्येक भक्ति साधना के आधार स्तंभ थे। इनकी अत्यन्त उग्र साधना, त्याग, वैराग्य एवं शास्त्र ज्ञान का प्रभाव समग्र उत्तर भारत के अध्यात्म-जीवन में उद्भासित हो उठा। इस साधक गोष्ठी में केन्द्र बिन्दु होकर अधिष्ठित हुए, संपूर्ण शास्त्र-विद्, धीर-गंभीर, आप्तकाम महापुरुष, सनातन गोस्वामी।

प्रभु श्री चैतन्य का निर्देश था, कि भक्तिशास्त्र का उद्धार करना होगा, एवं प्रबल उद्यम के साथ नये-नये वैष्णवीय दर्शन, स्मृति तथा साधन-भजन के

ग्रन्थों का प्रचार करना होगा। यह निर्देश सनातन को भी विस्मृत नहीं हुआ। भक्त तथा अनुगत बंधु-बान्धवों की बढ़ती हुई संख्या की सहायता से वे नियमित रूप से प्रचुर प्राचीन भक्ति-शास्त्र के ग्रन्थों का संग्रह करते रहे। मात्र इतना ही नहीं, नवीन रचनाओं की ओर भी उनकी दृष्टि पड़ी। उन्होंने स्वयं भी अनेक शास्त्र ग्रन्थों की रचना की तथा उनकी आध्यात्मिक प्रेरणा एवं नेतृत्व में गौड़ीय वैष्णव दर्शन, स्मृति, तथा भजन-पूजन के ग्रन्थ तथा टीकाभाष्यों की रचना हुई।

गौड़ीय वैष्णवों की शास्त्र-भित्ति का निर्माण तथा गौरवमय परंपरा की प्रतिष्ठा करने में जो अवदान सनातन गोस्वामी का रहा है, वह अतुलनीय है। इस महान कर्म को वे प्रभु श्री चैतन्य के आदिष्ट व्रतरूप में ग्रहण करते थे। ईश्वर अनुकम्पा से वे इस व्रत का सफलता पूर्वक उद्यापन भी कर गये।

सनातन गोस्वामी के जीवन में त्याग-तितिक्षा, वैराग्य-मय साधना तथा कृष्ण-प्रेम की परम अनुभूति के साथ असाधारण प्रतिभा, शास्त्र-ज्ञान एवं प्रेमनिष्ठा का अपूर्व मिश्रण था। बहुत सी स्वरचित रचनाएँ, संकलन एवं संपादना के माध्यम से उनके जीवन के इस वैशिष्ठ्य की छाप स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है।

पंडित की शास्त्र चर्चा तथा साधक की प्रत्यक्षीभूत सूक्ष्म लोक की अनुभूति, ये दोनों पृथक वस्तुएँ हैं। परन्तु जिन क्षेत्रों में इन दोनों का समावेश घटित हो जाता है वह एक दुर्लभ वस्तु हो जाती है। सनातन की रचनाओं तथा संपादनाओं में यह विशिष्ट रुप से दृष्टिगोचर होता है। उनके स्वरचित ग्रन्थ हैं : लीला स्तव, वैष्णवीय स्मृति. हरिभक्ति विलास की 'दिग्दर्शिनी टीका, वृहत् भागवतामृत, भागवतामृत की टीका एवं वृहत् वैष्णवतोषनी टीका।

इष्ट विग्रह के भजन-पूजन के समय, आप्तकाम साधक, सनातन के श्री मुख से लीलामाहात्म्य के स्तव एवं दैन्यमय प्रार्थना अविरल निकलती रहती। इन्हीं का संकलन 'लीला स्तव' के नाम से संपादित है।

गोस्वामी गोपाल भट्ट कृत 'हरिभक्ति विलास' एक अत्यन्त मूल्यवान वैष्णव-स्मृति है। गौड़ीय वैष्णवों के कृत्य एवं आचार संहिता का इसमें विस्तार से वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ, गोपाल भट्ट के नाम से प्रचारित होने पर भी इसके संकलन में सनातन के पाण्डित्य एवं प्रतिभा का यथेष्ट प्रभाव था। सनातन ने स्वयं इस विराट् स्मृति ग्रन्थ के टीका की रचना की। उनकी इस टीका का उद्देश्य था, प्रामाणिक शास्त्र वाक्यों की उद्धृति तथा यथोचित युक्ति-तर्क के प्रयोग के द्वारा जटिल समस्याओं का समाधान करना। 'हरिभक्ति

विलास' के ग्रन्थकार के रूप में, वयस में अपने से छोटे, गोपाल भट्ट को आगे बढ़ा कर प्रकांड शास्त्रविद्, सनातन ने एक विशाल अश्वत्थ जैसी छाया प्रदान की है तथा नाना सिद्धान्तमय, तर्क बहुल, इस स्मृतिग्रन्थ की प्रतिष्ठा के लिए सतत प्रयत्नशील रहे हैं, यह उनके जैसे प्रवीण साधक एवं मनीषी के लिए उपयुक्त ही है।

'वृहत्-भागवतामृत' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में सनातन ने भक्ति-शास्त्र-सागर का मन्थन ही कर डाला है। एक तरफ जिस तरह इसमें वैष्णव-धर्म का निचोड़ प्रकट हुआ है, उसी तरह दूसरी ओर विभिन्न अवतारों का तत्त्व तथा प्रेम-भक्ति की साधन-प्रणाली का भी स्वरूप इसमें दिखाया गया है। वैष्णव-साधकों के लिए यह ग्रन्थ अमृत-भाण्ड जैसा है। इस ग्रन्थ के सिद्धान्त एवं निर्देश को सुलभ बनाने के लिए सनातन ने एक विस्तृत टीका का प्रणयन किया है, जो कि 'दिग्दर्शिनी' के नाम से परिचित है।

सनातन की शास्त्र-साधना का चरम अवदान है, भागवत की वृहत् वैष्णव-तोषनी नामक टीका। महामुनि वेदव्यास रचित श्रीमद्भागवत् में वेदान्त के निगूढ़ परमतत्त्व तथा भगवत् भक्ति की अमृतमय व्याख्या का अपूर्व मिलन घटित हुआ है। वैष्णव धर्म के श्रेष्ठ प्रवर्तक एवं टीका भाष्यकारगणों ने प्रधानत: प्रेम-भक्ति शास्त्र के इस अमृतनिर्झर से ही परम-पथ का पाथेय संग्रहीत किया है, तथा अपने-अपने व्यक्तिगत साधना की धारा को उन्मुक्त कर लिया है। गौड़ीय वैष्णव-समाज की ओर से, प्रवीण साधक सनातन ने, इस महान ग्रन्थ के दशम स्कन्द अथवा कृष्ण जन्म खण्ड की एक विस्तीर्ण टीका का प्रणयन किया है। पांडित्य एवं रसमाधुर्य की दृष्टि से सनातन की वैष्णवतोषनी भक्तिशास्त्र के जगत में एक विशिष्ट स्थान रखती है। विशेष गवेषकों के मतानुसार, सनातन की 'वैष्णवतोषनी' ने जिस तरह भागवत् के दुरूह स्थलों की व्याख्या कर दृष्टिपात किया है, वैसा अनेक प्राचीन टीकाओं में भी पाना संभव नहीं है।

वैष्णवतोषनी टीका के रचना-काल में सनातन अत्यन्त वृद्ध थे, तथा संभवत: चलने-फिरने में भी सक्षम नहीं थे। उन दिनों में कनिष्ठ सहायक एवं अनुगत गोस्वामीद्वय रघुनाथ भट्ट तथा रघुनाथ दास सर्वदा उनके सेवक एवं सहकारीरूप में साथ रहकर, इस ग्रन्थ के प्रणयन में नानारूप से उनकी सहायता करते रहे। वैष्णवतोषनी ही सनातन गोस्वामी की अंतिम रचना है। जिस वर्ष, यह महाग्रन्थ समाप्त हुआ, उसी वर्ष उनका जीवन-दीप भी बुझ गया।

सनातन के देहान्तर के लगभग पचीस वर्ष बाद उनके मातृपुत्र, शिष्यस्वरूप, श्री जीव गोस्वामी ने, इस सुविस्तृत वैष्णवतोषनी की एक संक्षिप्त तथा सहजबोध्य संस्करण प्रकाशित किया, तथा इसका नामकरण किया गया 'लघुतोषनी'।

अपने अनुज रूपगोस्वामी के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'भक्ति रसामृत सिन्धु' के ऊपर भी सनातन गोस्वामी का यथेष्ठ प्रभाव था। गोपाल भट्ट के 'हरि भक्ति विलास' के जैसे ही रुप के इस ग्रन्थ की पृष्ठभूमि में सनातन की अध्यात्म प्रेरणा, क्षुरधार पाण्डित्य तथा परमतत्त्व के व्याख्या-विश्लेषण विद्यमान हैं। इसमें भक्ति साधना की निगूढ़ प्रणाली एवं भावरस का माधुर्य इत्यादि जो कुछ भी प्रकट हुआ है, उसका अनेकांश सनातन की ही प्रतिभा एवं साधनानुभूति का स्वाक्षर वहन करता है।

समकालीन व्रजमण्डल के गौड़ीय साधक एवं शास्त्रविदों के मध्य सनातन की अवस्था सबसे अधिक थी। इसके अलावा, कृच्छ्व्रत, साधना, पांडित्य एवं प्रज्ञा की दृष्टि से भी उनका समकक्ष कोई नहीं था। इसी से यह स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है कि इन महापुरुष के सुदीर्घ जीवनकाल में सारा व्रजमंडल उनके व्यक्तित्व, प्रतिभा एवं सिद्धि के सम्मुख नत-मस्तक था। जिन लोगों ने भी इन दिनों भक्ति-शास्त्र से सम्बन्धित कोई ग्रन्थ लिखा, तथा अगर किसी मतवाद तथा सिद्धान्त का स्थापन किया, वह सनातन की सम्मति के बिना भक्त-समाज में ग्राह्य नहीं था।

श्री चैतन्य ने नीलाचल में १५३३ ई० में शरीर त्याग किया। इस दुःख-पूर्ण समाचार को सुनने के बाद से सनातन के बाह्य-जीवन में व्यवधान दृष्टि-गोचर होने लगा। कर्म जीवन से अपने को प्रायः मुक्त करके वे निरंतर, इष्ट-विग्रह के ध्यान एवं भजन की ओर उन्मुख हो उठे। उसके बाद धीरे-धीरे, महासाधक भक्ति-साधना के गंभीरतम स्तर में प्रविष्ट होने लगे।

इस अवधि में सनातन के त्याग, वैराग्य, पाण्डित्य एवं प्रेम-भक्ति-साधना के ऐश्वर्य की बात मात्र व्रजमण्डल में ही नहीं, वरन् सारे उत्तर भारत में व्याप्त हो चुकी थी। दूर-दूर के क्षेत्रों से भक्त-साधकगण के दल-के-दल, उनके दर्शन हेतु आकर भीड़ करने लगे। कुंज-कुटीर को आलोकित करनेवाले इस देवमानव के चरणों पर गिर कर सभी अपने को कृतार्थ-बोध करने लगे।

सनातन के इस समय के साधन-ऐश्वर्य से सम्बन्धित नाना कहानियाँ प्रचलित हैं। एक बार वाराणसी से एक वृद्ध ब्राह्मण सनातन के कुटीर में आकर उपस्थित हुए। उनका घर वर्द्धमान जिले में मानकड़ में है तथा नाम है जीवन ठाकुर। जन साधारण में सत् एवं धर्मनिष्ठ के रूप में उनकी ख्याति है। सारा जीवन दरिद्रता के साथ संघर्ष में ही व्यतीत कर चुके हैं। परन्तु अब इस वृद्धावस्था में संघर्ष के लिए मानो दम नहीं रह गया है। एक दिन आर्तस्वर में विश्वनाथ के चरणों में बार-बार प्रार्थना करने लगे, "प्रभु, दारिद्र्य की यह

ज्वाला अब सह्य नहीं हो पा रही है। अब कृपा करके मेरी रक्षा करो तथा अर्थ-प्राप्ति का कोई मार्ग बतलाने का कष्ट करो।"

रात्रि में उन्हें स्वप्नादेश मिला, "तू शीघ्र ही व्रजमण्डल चला जा। वहाँ जाकर, सनातन गोस्वामी की शरण ले। उसके पास अनेक रत्नों को प्राप्त करने की जानकारी है। उसका करुणा प्राप्त होते ही तुम्हारा सारा दुःख एवं दारिद्र्य, सर्वदा के लिए दूर हो जायगा।"

अविलम्ब, यथाशीघ्र, जीवन ठाकुर व्रजमण्डल में आकर उपस्थित हुए। सनातन गोस्वामी के पैरों पर गिर कर, स्वप्नादेश की बात विस्तारपूर्वक निवेदित की।

यह कहानी सुनकर, गोस्वामी प्रभु अत्यन्त विस्मित हुए। वे तो स्वयं कंगाल वैष्णव तथा अकिंचन सन्यासी हैं। ब्राह्मण के इस दारिद्र्य का वे किस तरह निवारण कर सकेंगे? आजकल भजन-पूजन की समाप्ति पर, जो भी समय अवशिष्ट रहता है, वह इष्ट-देव के ध्यान-जप में ही व्यतीत होता है। किसी बाहर के व्यक्ति से भी उनका कोई विशेष संपर्क नहीं है। इस ब्राह्मण की सहायता हेतु, किसे पकड़ेंगे तथा किसके सम्मुख उपस्थित होंगे, यह सोच नहीं पा रहे हैं।

सहसा, स्मृति-पटल पर एक पुरानी घटना की बात स्मरण हो आयी। इस दरिद्र मनुष्य की सहायता करने में तो वे सक्षम हैं। बहुत दिन पहले की बात है। यमुना का किनारा पकड़ कर, सनातन अपने मन की मौज में भजन करते हुए चले जा रहे हैं। अकस्मात् पैरों में एक दुर्लभ रत्न से ठोकर लगी। उसे उन्होंने मिट्टी से जल्दी से उठा लिया। दूसरे ही क्षण उनका मन चिंता में पड़ गया। वे स्वयं सर्वत्यागी, कृच्छ्रव्रती सन्यासी हैं, इस रत्न से उनका क्या प्रयोजन? उसको जितनी जल्दी यमुना में विसर्जित कर दिया जाय, उतना ही अच्छा होगा। फिर सोचा, श्री भगवान की क्या इच्छा है। कौन जाने? संभव है, इस रत्न से किसी दुःखी एवं विपन्न मनुष्य के प्राण बच सके। जल में न फेंक कर इसे तट पर ही पत्थरों में छिपा कर रख देना समीचीन है। सामने ही एक चिह्नित स्थान पर रत्न को दबाकर सनातन अपने कुटीर में वापस चले आये।

इतनी देर तक उस रत्न की बात का उन्हें स्मरण ही नहीं था। अब अत्यधिक प्रसन्न होकर उन्होंने सोचा, अच्छा ही हुआ, अब उस रत्न को यह अभाव ग्रस्त ब्राह्मण ही ग्रहण करे।

जिस स्थान पर रत्न दबा था, उसका पता बतलाते हुए, प्रसन्न, मधुर कण्ठ से उन्होंने कहा, "बाबा, यह रत्न, तुम अभी उठा ले जाओ जिससे तुम्हारा

दारिद्र्य-क्लेश दूर हो।" कुछ देर बात करने के बाद गोस्वामी फिर इष्ट ध्यान में मग्न हो गये।

जीवन ठाकुर उत्साहपूर्वक उसी समय नदी तीर की ओर दौड़ पड़े। उन्होंने निर्देशित गुप्त स्थान से इस दुर्लभ संपदा का उद्धार किया।

रत्न, सूर्यरश्मियों में झिलमिला उठा। दरिद्र ब्राह्मण विस्मय से अवाक् रह गये। कैसी अद्भुत दैवी लीला का उनके जीवन में प्रकटन हुआ है! इतनी बड़ी संपदा, उनके जैसे चिर-कंगाल की मुट्ठियों में है। इस अलभ्य वस्तु के विक्रय से उन्हें प्रचुर धन मिलेगा तथा उनके ऐश्वर्य की सीमा नहीं रहेगी।

सनातन की कृपा से ही जीतन ठाकुर आज इस विपुल संपदा के अधिकारी हैं। उनका स्मरण होते ही उनके दोनों नेत्र कृतज्ञता से अश्रु पूरित हो उठे।

अकस्मात्, जीवन ठाकुर की चेतना के द्वार पर एक प्रचण्ड आघात लगा। उनकी समग्र सत्ता आलोड़ित हो उठी। विस्मित होकर वे सोचने लगे, धन-संपदा के लोभ में वे पुण्यधाम वाराणसी से वृन्दावन तक भागते हुए आये हैं, तथा सनातन की कृपा के फलस्वरुप उन्हें राजाओं के लिए दुर्लभ इस रत्न की प्राप्ति हुई है। फिर भी सनातन गोस्वामी को इस अलभ्य पदार्थ के लिए लेशमात्र भी चिंता नहीं है। अबतक वे उसकी बात भी भूल चुके थे। मात्र आर्त एवं कातर क्रन्दन से ही उन्हें इस बात का स्मरण हो पाया। केवल उसका पता बतला कर वे फिर ध्यान-भजन में निमग्न हो गये। किस परमधाम के आस्वादन में गोस्वामी इस तरह विभोर हो गये हैं? वे किस अमृत रस के अधिकारी हैं, कि ऐसा राजा के लिए भी दुर्लभ रत्न उनके लिए नगण्य है? अतुल अर्थ-संपदा तथा राज-सम्मान का त्याग करके सनातन, भजनानन्द में आत्म विस्मृत हो पड़े हैं, तथा उनका देव-मानव के रूप में रूपान्तरण हो गया है। परन्तु जीवन ठाकुर, शिव की कृपा के फलस्वरूप इस देव-मानव का सान्निध्य एवं कृपा-प्रसाद का लाभ करके भी तुच्छ रत्न के मोह से आच्छन्न हो गये हैं, तथा घृणित विषय-कीट की तरह जीवन को और दृढ़ता से पकड़े रहने के इच्छुक हैं।

ब्राह्मण के हृदय में, परम-धन लाभ की तीव्र लालसा जग पड़ी। वे एक अभूत-पूर्व दिव्य चेतना से उद्बुद्ध हो उठे। क्षण भर में ही, उस अमूल्य रत्न का उन्होंने लोष्टवत् यमुना में निक्षेप कर डाला। उसके बाद तीव्रता से वे सनातन के कुञ्ज में वापस आ गये। दण्डवत् करके उन्होंने अश्रुसजल नेत्रों से निवेदन किया, "प्रभु मैं अत्यन्त अधम जीव हूँ। अपनी तुच्छ घर-गृहस्थी में फँसा हुआ हूँ। दरिद्रता के कारण अर्थलोलुपता में बुरी तरह फंसा हुआ हूँ। आपके सान्निध्य

में आकर मेरे ज्ञानचक्षु उन्मीलित हो गये हैं। जिस धन के कारण यह अलभ्य मणि भी आपके लिए नगण्य है, उसी का अंशदान मुझे करने की कृपा करें। कृपया अर्थ के बदले परमार्थ का दान करें। आज से मैंने अपने को आपके चरणों में ही उत्सर्ग कर डाला।"

सनातन ठाकुर से दीक्षा-ग्रहण के पश्चात्, जीवन ठाकुर के अध्यात्म-जीवन की अभियात्रा का श्रीगणेश हुआ। उनका सर्वथा नवीन रूपान्तरण हो गया। उत्तरकाल में उनका वंश काठमांगुर के गोस्वामी-परिवार के नाम से विख्यात हो गया।

जीवन की संध्या में सनातन, नंदीश्वर के मानसगंगा नामक पुण्य सरोवर के तट पर गुप्त रूप से निवास करने लगे। उत्तरकाल में यह स्थान बैठान के नाम से विख्यात हुआ। सन्निकट ही चक्रेश्वर महादेव का मंदिर है। इसी स्थान पर एक विल्ववृक्ष के नीचे बैठकर, महासाधक अपनी चरम अध्यात्म साधना के व्रती हुए। स्नान तथा आहार के लिए भी उन्हें होश नहीं है, सर्वथा अजगर-जैसी अवस्था है। अंतर में सर्वदा कृष्ण-भजन तथा कृष्ण-लीला का अनुध्यान चल रहा है।

इन दिनों सनातन अत्यन्त वृद्ध हो चुके हैं तथा अवस्था नब्बे वर्ष के आस-पास है। कहा जाता है, इस अवस्था में अपने प्राणप्रिय भक्त के इस कृच्छ्र साधन को देखकर इष्टदेव स्वयं व्यग्र होकर वृक्ष के नीचे आकर उपस्थित हुए, तथा गोप बालक के छद्म वेश में उनके दैनिक आहार का भार उन्होंने ग्रहण किया, 'भक्तिरत्नाकर' में इस रसमधुर लीला का उल्लेख करते हुए लिखा है—

कृष्ण गोपबालकेर छले दुग्ध लैया।
दाणाइलो गोस्वामी सम्मुखे हर्ष हैया।
गोरक्षक वंश, माथे उष्णीष शोभय।
दुग्धभाण्ड हाते करि, गोस्वामीरे कय।
आछह निर्जने, तोमा केह नहि जाने।
देखिलाम तोमारे आसिया गोचारणे।
एई दुग्ध पान कर, आमार कथाय।
लइया जाइब भाण्ड, राखिओ एथाय।
कुटिरे रहिले, यो सभार सुख हबे।
ऐछे रह, नहिले व्रजवासी दुःख पावे। (५म तरंग पृ. २५०-२५१)

क्रमश: भक्त-भगवान की यह प्रेम-लीला जनसाधारण मे प्रचारित हो गयी। सनातन के भक्त एवं गुणग्राही-गण व्याकुल होकर भागते हुए बैठाने में चले

आये । इन सभी के अनुरोध एवं प्रार्थना पर, सनातन अपनी कृच्छ्-साधना में कमी करने को बाध्य हुए । सभी ने मिलकर इस वृक्ष के नीचे एक कुटिया का निर्माण कर डाला । सनातन गोस्वामी, इस कुटीर का त्याग कर फिर वृन्दावन नहीं जा सके । अपने अंतिम कुछेक दिन उन्होंने यहीं व्यतीत किया । बैठान के इस निभृत पर्णकुटीर में, रुप, रघुनाथ इत्यादि वृन्दावन के गोस्वामी-गण, सारे भारत के दिग्विजयी पंडित एवं विख्यात साधुगण, प्रायः ही आकर उपस्थित होते । वे सभी यहाँ आकर आप्तकाम-साधक, सनातन के दर्शन तथा उपदेशामृत का पान कर धन्य होते ।

सनातन के जीवन का एक प्रधान व्रत था, गिरि गोवर्धन की परिक्रमा । यह पवित्र पर्वत बैठान से अधिक दूर नहीं है । शुरू में जरा-जीर्ण एवं अशक्त शरीर के होते हुए भी सनातन इस परिक्रमा को संपन्न करते । बाद में शरीर के अशक्त हो जाने पर ऐसा करना संभव नहीं हो पाता था । उन दिनों उनकी समग्र चेतना, इष्टदेव श्रीकृष्ण के स्मृतिपूत पर्वत के प्रदक्षिणा मार्ग को निहारती रहती । चिंता एवं वेदना से, परम-भागवत का अंतर भाराक्रान्त हो उठता ।

भक्त हृदय की आर्त पुकार इष्ट देव को पुनः खींच लायी । गिरधारी जी की नयनाभिराम मूर्त्ति सनातन के समक्ष आविर्भूत हुई । मधुर हंसी बिखरते हुए उन्होंने कहा, "तुम्हारे अंतर में मेरे गोवर्धन गिरि की परिक्रमा न कर पाने के कारण ग्लानि हो रही है । इसीलिए तो मैं आज भाग कर यहाँ आया । यह देखो मेरे हाथ में यह गोवर्धन का ही शिला खण्ड है । इस पर मेरे चरण चिह्न भी अंकित हैं इस चरण पहड़ी को तुम भक्तिपूर्वक अपने भजन कुटीर में स्थापित करोगे । भजन की समाप्त पर नित्य इसकी प्रदक्षिणा करोगे । इससे ही तुम्हारे गोवर्धन परिक्रमा के व्रत का उद्यापन हो जायगा । इससे तुम्हारे जीर्ण शरीर को भी कम श्रम करना पड़ेगा, और साथ ही साथ मेरे आनन्द में भी वृद्धि होगी ।"१

अलौकिक रुप से प्राप्त, सनातन की यह चरण-पहाड़ी एक पटरे जैसा शिलाखण्ड है । गौड़ीय भक्तों की यह धारणा है, कि यह पुण्य गिरि गोवर्धन का प्रतीक है, तथा इस पर श्री कृष्ण के चरण चिह्न अंकित हैं । सनातन के मृत्यु लोक त्याग के पश्चात् श्री जीव गोस्वमी ने इस चरण पहाड़ी को अपने इष्टविग्रह राधादामोदर जी के मंदिन में स्थापित किया, एवं इसके पूजा एवं अर्चना की व्यवस्था की । आज भी यह शिलाखण्ड उसी स्थान पर प्रतिष्ठित है ।

अब इसी चरण पहाड़ी को केन्द्र मानकर ही सनातन की भजन एवं तपस्या की धारा बहने लगी। धीरे-धीरे १५४५ ई० की आषाढ़ी पूर्णिमा की तिथि आ गयी। सनातन गोस्वामी के जीवन द्वार पर उस दिन उनके प्राणाधिक नवलकिशोर का परम आह्वान ध्वनित हुआ। चरण पहाड़ी के पुण्यमय वेदी पर खड़े होकर ज्योतिर्मय मूर्त्ति में इष्ट देव ने अपने परम भक्त को दर्शन दिया। मायिक जगत की यवनिका का भेद कर सनातन गोस्वामी शाश्वत लीलाधाम में प्रविष्ट हो गये।

इस महाप्रयाण के फलस्वरूप उत्तर भारत की वैष्णवीय एवं सारस्वत साधना का एक तुंग शिखर उस दिन ध्वस्त हो गया। सारे व्रजमण्डल में करुण शोक की छाया व्याप्त हो गयी। गौड़ीय वैष्णव समाज तो अपने महान आलोक स्तंभ को खो कर विह्वल हो गया।

सहस्रों शोकार्त व्रजवासियों के सम्मुख, प्रभु मदन मोहन जी के प्रांगण में सनातन गोस्वामी का नश्वर शरीर समाधिस्थ किया गया। आज भी अगणित भक्तों का श्रद्धार्घ्य उस पवित्र भूमि पर निवेदित होता है।

—०—

समर्थ स्वामी रामदास

समर्थ रामदास

छोटे पुत्र नारायण की समस्या लेकर रानुबाई बड़े विपत्ति में पड़ गयी हैं। गाँव के स्कूल की पढ़ाई लगभग समाप्तप्राय है। रानुबाई की अभिलाषा यही है कि वह अपने भाई गंगाधर के साथ रहकर काम-धाम देखेगा और घर-गृहस्थी बसायेगा। परन्तु नारायण उनकी बातें मानने को प्रस्तुत नहीं है। साधु-सन्तों का संधान पाते ही, वह उनके साथ लग जाता है और बीच-बीच में मठ-मंदिरों में भी जाकर आँखें बन्द कर बैठा रहता है। गंगाधर के समक्ष भी वह यही कहता फिरता है कि घर में उसका मन ही नहीं लगता, वह सन्यास लेकर देश-त्यागी होना चाहता है।

माता ने नारायण को अपने पास बुलाया। जो भी हो, आज उसे समझाना-बुझाना होगा ही। अधिक देरी कर देना उचित नहीं है। उन्होंने कोमल स्वर में कहा, "बेटा नारायण, अब तू बड़ा हो गया है, थोड़ा लिखना-पढ़ना भी सीख लिया है। तुम्हारा अग्रज, गंगाधर, तो आजीवन गृहस्थी के लिए खटता ही रहा है। क्या तुम्हारे लिए उसकी सहायता करना उचित नहीं है, जिससे उसकी गृहस्थी का भार हल्का हो? एक और जरूरी बात है। मेरा शरीर भी दिन पर दिन घटता ही जा रहा है। बड़ी बहू पार्वती के ऊपर भी और कई तरह के गृहस्थी के भार हैं। उसकी सहायता के लिए घर में एक और बहू लाने की आवश्यकता है। इसीलिए मैंने निश्चय किया है कि अगले मास ही तुम्हारा विवाह कर डालूँ। अच्छे घर की एक सुलक्षणा पात्री भी मैंने मन ही मन ठीक कर डाला है।"

"माँ, तुम्हारी दोनों इच्छाओं को किसी तरह भी पूर्ण करने के लिए सक्षम नहीं हूँ। मैं क्या कहूँ, मेरी आशा तुम छोड़ ही दो।" सहज स्वर में नारायण ने उत्तर दिया।

"ऐसी अनर्गल बातें तू क्यों बक रहा है ? यह मात्र तुम्हारा अपने दायित्व से भागने का उपक्रम है।"

"नहीं माँ, सत्य ही कह रहा हूँ। मैं किसी तरह भी गृहस्थी के झंझट में नहीं पड़ूँगा। मुझे स्वयं ज्ञात नहीं है, कि किस तरह अज्ञात से मुझे पुकार आ रही है। देखो माँ, प्रायः ही स्वप्न में प्रभु रामजी को देखता हूँ, तथा भक्तवीर मारुति को भी देखता हूँ। मात्र इतना ही नहीं, न जाने कैसी एक अद्भुत शून्यता से मेरा हृदय छटपटाता रहा है। और अंतर से बार-बार न जाने कौन अद्भुत स्वर में बोल उठता है—सावधान, सावधान—संसार के जाल में न पड़ना—सद्गुरु के पास तुरत चला जा तथा उनसे मंत्र ले, और इसी मंत्र के सहारे प्रभु रामचन्द्र जी के चरणों में पहुँच जा।"

पुत्र को खोने की आशंका से जननी का हृदय काँप उठा। अपने को संभालते हुए रानुबाई ने कहा, "ठीक तो है बेटा, मंत्र लेकर रामजी का ध्यान-जप तो घर के अन्दर रहकर भी किया जा सकता है। इसके लिए संसार का त्याग क्यों ?"

"नहीं माँ, संन्यासी का मुक्त जीवन ही मैं ग्रहण करूँगा। गाँव में जब भी साधु-संन्यासियों की जमात आती है, मैं उन्हें देख-देखकर मुग्ध हो जाता हूँ। कोई रास्ता रोकने वाला नहीं, कोई संचय नहीं; तथा कोई बन्धन एवं जटिलता भी नहीं। उन्हें एकमात्र इष्टध्यान करने का परम सुयोग भी रहता है। यह जीवन ही मुझे प्रिय लगता है।"

"बेटा नारायण, मात्र स्वयं को अच्छा लगने वाली बात के पीछे नहीं भागते। जो माँ-बाप को अच्छा लगे, उन बातों की ओर भी तो ध्यान देना चाहिए। सोचो, क्या प्रभु रामजी भी स्वयं अपने बाप-माँ की इच्छाओं से बंधे नहीं थे ? उनकी तृप्ति के लिए उनका कुछ भी करना असंभव नहीं था। तू भी अपनी अभागिनी माँ की ओर एकबार दृष्टिपात करो। सात वर्ष पूर्व तुम्हारे पिता ने शरीर त्याग किया, तथा दो नाबालिग पुत्रों को मेरे हाथ सौंप गये। उस समय तुम्हारी अवस्था, मात्र पाँच वर्ष की थी। कितने दुःख तथा कष्ट से मैंने तुम दोनों भाइयों को पाल-पोस कर बड़ा किया है। तुम अपने पिता की बात का स्मरण करके तथा इस दुःखिनी माँ का मुँह देखकर तुम गृहस्थी में ही रहो तथा मेरे दुःखों का भार हल्का करो। यह समझ लो अगर तू मेरे दुःख

को समझने की चेष्टा नहीं करेगा, और मेरी बात पर ध्यान नहीं देगा, तब मैं भी अपना रास्ता चुनने को स्वतंत्र हो जाऊँगी और आत्महत्या का ही मार्ग चुनूँगी।" —साश्रु नयन तथा कातर कण्ठ से कहते-कहते, माता ने नारायण के दोनों हाथ पकड़ लिए।

माँ के आंसू तथा पिता के मृत्यु की करुण-स्मृतियों ने नारायण के संकल्प को टाल दिया। उनका हृदय भावुक हो उठा। साश्रु नयनों से उन्होंने उत्तर दिया, "माँ तुम इस तरह कातर न हो। ठीक है, तुम्हारी इच्छा के अनुसार ही मैं कार्य करूँगा।"

"ठीक है, फिर तुम्हारे विवाह के विषय में मैं बात पक्की कर लूँ, क्या कहता है? आसन् गांव में एक सद्गृहस्थ रहते हैं और उनका नाम भनजिपन्त चोलापुरकर है। उनकी एक लड़की है, जैसी सुन्दरी एवं सुलक्षणा है वैसे ही स्वभाव भी बहुत सुन्दर है। वे लोग विवाह का प्रस्ताव लेकर कई चक्कर लगा चुके हैं। मेरी स्वीकृति से ही बात पक्की हो जायगी।" जननी रानुबाई ने मुक्ति की सांस ली। दूसरे दिन ही उन्होंने कन्या-पक्ष से बात पक्की करने के लिए आदमी भेजा। लग्न-मुहूर्त भी निकाल लिया गया।

विवाह की रात। बाराती आडंबर पूर्वक कन्या के घर पर उपस्थित हुए हैं। वर पक्ष के कर्ता, गंगाधर, उत्साह पूर्वक भाग-दौड़ कर रहे हैं। आत्मीय कुटुम्बीजन की हंसी-खुशी तथा आनन्द-कलरव से सारा वातावरण व्याप्त है। मशालों के आलोक तथा आतिशबाजी से सारा परिवेश मुखर हो उठा है।

थोड़ी ही देर में अनुष्ठान शुरू हो गया। श्रृंगार से सज्जित कन्या को विवाह-मण्डप में लाया गया। वर-कन्या के बीच में एक पर्दा लगा दिया गया है, जो कि तुरत उठाया जायगा और दोनों की आखें चार हो जाएँगी।

ऐसे समय में जलते हुए मशालधारियों को सतर्क करते हुए न जाने कौन गंभीर आवाज में बोल उठा—सावधान! नर-वेश-धारी नारायण को मानो विद्युत स्पर्श का एक झटका-सा लगा और वे सिहर उठे। सावधान! यह क्या? यह बात तो उनके द्वारा पहले भी सुनी जा चुकी है। अंतर्लोक से उद्यत यह वाणी पहले भी कई बार उनके पास पहुँच चुकी है। आज भी यह वाणी उन्हीं को संबोधित कर रही है। भ्रांति के कारण, आज वे संसार के जाल में जकड़ने के लिए प्रस्तुत हैं। इसके बाद तो कभी वे इस जाल का छेदन कर बाहर नहीं आ सकेंगे। नहीं, इसी क्षण वे इसके लिए कोई विधान करेंगे। विवाह की जंजीर को तोड़कर वे अभी इसी क्षण पलायन करेंगे।

विचार को कार्य रूप में परिणत करने में समय नहीं लगा। क्षण भर में ही नारायण ने विवाह का मुकुट तथा उत्तरीय उतार कर जमीन पर रख दिया, तथा 'जय रामजी' का उच्च उद्घोष किया और विवाह-मंडप से भाग कर बाहर निकल आये। उसके बाद, घर के पीछे वाले रास्ते से निकटस्थ वन की ओर भाग चले।

विवाह समारोह में उपस्थित भद्रलोक, यह काण्ड देखकर हत्प्रभ हो गये हैं। क्षणभर में ही सभी को होश आया और वे 'पकड़ो-पकड़ो' के शब्द के साथ पलायित वर के पीछे दौड़ पड़े।

चारों ओर गहन अंधकार है, रास्ता देखना भी संभव नहीं हो पा रहा है। इसका लाभ उठाते हुए नारायण पता नहीं कहाँ अंतर्धान हो चुका है। अंततः पीछा करने वाले हताश होकर, घर वापस आ गये। विवाह के लिए सजे घर में नैराश्य का अंधकार हो गया। टूटे हुए गंगाधर, घर वापस आ गये और माता के समक्ष इस विपत्ति का उन्होंने वर्णन किया। माता दुःख से फूट पड़ीं। स्मरण हो आया कि पुत्र नारायण सर्वदा उनके समक्ष गृहत्याग का संकल्प दुहराता था। जननी समझ गयीं कि विवाह-मंडप से पलायन करके, उसी संकल्प को चरितार्थ करने हेतु वह निकल पड़ा है। अब वह गृहस्थी के जंजाल में वापस नहीं आने का।

इधर विवाह-मण्डप से नारायण द्रुतगति से भागता जा रहा है। ग्राम के पहचाने हुए रास्ते, उसके लिए निरापद नहीं होंगे। इन रास्तों पर पीछा करने वाले, कभी भी उसे पकड़ सकते हैं। इसीलिए अंधेरे जंगल के रास्ते पर ही वह अग्रसर होता रहा। दोनों पैर लहूलुहान हो चुके हैं। वृक्ष की लटकी हुई डालियों से सिर फट गया है, परन्तु उसे इसके लिए सोचने का समय नहीं है। उन्मत्त जैसा, वह केवल भागता ही जा रहा है।

काफी रास्ता तय करने के बाद, उसे यह भान हुआ कि वह निरापद स्थान में पहुँच चुका है। शरीर श्रान्त है तथा मार्ग में लगी चोटों के कारण तीव्र वेदना हो रही है। अब थोड़ा विश्राम के वगैर आगे चलना संभव नहीं हो सकेगा। परन्तु इस अंधेरी रात तथा दुर्गम वन में आश्रय कहाँ ?

सामने ही एक विशाल वटवृक्ष खड़ा था। नारायण ने स्थिर किया कि वह इस वृक्ष की शाखाओं में ही रात काट लेगा। सोने में असुविधा होने पर भी, इस व्यवस्था से हिंस्र जन्तुओं के आक्रमण का भय नहीं रहेगा। वृक्ष की प्रशस्त शाखाओं पर लेटने के साथ-ही-साथ वह निद्रा से अभिभूत हो उठा।

दूसरे दिन फिर पदयात्रा आरंभ हुआ। वन के पार जाकर नारायण ने एक ब्राह्मण की कुटिया में आश्रय लिया। वहाँ पर स्नान तथा भोजन करने के बाद शरीर काफी स्वस्थ हो गया।

भाग्यवश, अनायास उसका एक तीर्थयात्री-दल से साक्षात्कार हो गया। यह दल पंचवटी, दर्शन हेतु जा रहा था। यह स्थान प्रभु रामचन्द्र की लीला भूमि रहा है। नारायण का अंतर आनंद से भर उठा। वह तीर्थयात्री-दल के साथ उसी समय लग गया। उसके बाद ग्यारह दिन की पदयात्रा के बाद उसने पंचवटी में प्रवेश किया।

इस परम पवित्र तीर्थ में अवस्थान के समय ही नारायण के जीवन में नव-अरुणोदय घटित हुआ। गुरु कृपा तथा अनन्य साधना के फलस्वरुप वे प्रभु रामचन्द्र जी के कृपाधन्य, एक महान साधक के रूप में परिणत हो गये। उनका नवीन नामकरण हुआ—रामदास। शास्त्रविद्, योगविभूतिसंपन्न महापुरुष, समर्थ रामदास, मात्र एक रामाइत साधु ही नहीं थे, वरन् महाराष्ट्र के उज्जीवन एवं दक्षिण भारत में रामभक्ति के प्रचार में उनका अवदान असामान्य है। क्षत्रपति शिवाजी के नवमहाराष्ट्र निर्माण एवं धर्मराज्य स्थापना की प्रेरणा और परिकल्पना, इन महात्मा के सिद्ध जीवन से ही उद्भूत हुई थी। वैरागी के उत्तरीय को राष्ट्रपताका के रूप में स्थापित कर, रामदास ने भारतीय जन-जीवन के बहुत बड़े हिस्से में त्याग, वैराग्य एवं अध्यात्म शक्ति के कालजयी माहात्म्य को प्रतिष्ठित किया है।

हैदराबाद नगरी से पन्द्रह मील की दूरी पर 'जाम्ब' नाम का एक छोटा-सा ग्राम है। महाराष्ट्र के अन्यान्य क्षेत्रों-जैसे यह स्थान रूखा एवं उजाड़ नहीं है, वरन् यह चारों ओर से शस्य श्यामल क्षेत्रों से घिरा हुआ है। इस ग्राम में सूर्यजी पन्त नाम के एक सदाचारी ब्राह्मण निवास करते थे। उनकी पत्नी रानुबाई भी एक धर्मप्राण महिला के रूप में परिचित थीं।

पंतजी लगभग यौवन की देहरी पार कर रहे हैं, परन्तु अबतक उन्हें कोई संतान नहीं है। स्वामी तथा स्त्री, दोनों के मन में भी गंभीर अशांति है। इसी कारण भगवत्कृपा प्राप्ति हेतु वे नाना धर्मानुष्ठान एवं व्रतों के उद्यापन के व्रती हैं तथा देव-द्विज की सेवा के प्रति उनका अपूर्व उत्साह है। इसके कई वर्ष के अंतराल के बाद उन्हें दो पुत्रों की प्राप्ति हुई। प्रथम का नामकरण हुआ गंगाधर तथा द्वितीय का नारायण। यही नारायण, आगे चलकर भारत वंदित महासाधक समर्थ रामदास हुए।

द्वितीय पुत्र के जन्म से पूर्व रानुबाई के अंतर्जीवन में नाना रूपान्तर दृष्टिगोचर होने लगे। रामदास के विशिष्ट जीवनीकार गिरिवर ने लिखा है, कि इन दिनों प्रायः रानुबाई के शरीर में दिव्य भावों के आवेश दिखाई पड़ते। जन-संपर्क की अवहेलना कर वे निर्जन एकांत में ही प्रायः घूमती-फिरती रहतीं।

एक दिन रानु बाई ने स्वामी से कहा, "देखो, आज-कल प्रायः ही मैं बहुत अद्‌भुत स्वप्न देखा करती हूँ। उन सभी स्वप्न दृश्यों में प्रभु रामचन्द्र, माँ जानकी तथा लक्ष्मण इत्यादि का आविर्भाव होता है। कभी-कभी रामचन्द्र, मारुति, सामने खड़े होकर अपूर्व स्वर में स्तुतिगान करते हैं। यह एक ही तरह के दृश्य मैं क्यों बार-बार देख रही हूँ ?"

"यह तो बहुत ही अच्छा है। इससे स्पष्ट है कि प्रभु रामचन्द्र जी की कृपा हमलोगों के ऊपर हुई है। संभवतः तुम्हारी गोद में रामजी का ही कोई चिह्नित सेवक आ रहा है। इन सभी बातों को किसी के समक्ष प्रकट न करना तथा खूब सावधान रहना।"

अल्पकाल के अन्दर ही सूर्याजी पन्त का यह बहुप्रत्यक्षित द्वितीय पुत्र, रामदास, भूमिष्ठ हुआ। यह शुभ जन्मदिन १६०८ ई०, १५३० शकाब्द के चैत्र मास की शुक्ला नवमी की पवित्र तिथि थी, जिसने महाराष्ट्र की धर्म-संस्कृति के इतिहास में एक उज्ज्वल अध्याय का संयोजन किया है।

पिता, सूर्याजी पन्त, एक आचारनिष्ठ, परम्परावादी ब्राह्मण थे। जब रामदास की अवस्था पांच वर्ष की थी, तभी उन्होंने उनका उपनयन-संस्कार-संपन्न कर दिया। उसके बाद उन्होंने पुत्र को गुरुगृह में प्रेषित किया। बालक की मेधा एवं प्रतिभा विस्मयजनक थी। अत्यन्त अल्प समय में ही उसने पाठशाला की पढ़ाई समाप्त कर डाली।

आर्थिक दृष्टि से कमजोर होने पर भी इतने दिनों तक रामदास के परिवार में सुख एवं शांति का अभाव नहीं था। परन्तु अब अकस्मात् एक दिन उनके ऊपर दैव का निष्ठुर आघात पड़ा। असाध्य व्याधि से पीड़ित रहने के बाद सूर्याजी पन्त अकस्मात् परलोकवासी हुए। उस समय द्वितीय पुत्र रामदास की अवस्था, मात्र सात वर्ष थी।

इस दारुण विपत्ति में भी रानुबाई ने अपना संतुलन नहीं खोया। कुछ दिनों के लिए उन्होंने धैर्यपूर्वक गृहस्थी का भार ग्रहण किया तथा बड़े पुत्र गंगाधर के बालिग होकर रोजगार शुरू कर लेने पर उसका विवाह कर डाला। इसके कुछेक वर्ष बाद, जननी, रामदास को भी गृहस्थी शुरू करा कर निश्चिन्त हो जाना चाहती हैं। परन्तु होनी कुछ और ही थी। उस दिन के पुत्र के

पलायन का समाचार जननी के हृदय में बाण के आघात जैसा लगा। दुःसह शोक के भार से वे मूर्छितप्राय हो पड़ीं।

विवाह-मंडप से अंतर्धान होने के बाद लगभग एक पखवारा बीत चुका है। पदयात्रा द्वारा लम्बा रास्ता तय करने के बाद रामदास ने गोदावरी के तट पर, नासिक के निकट, पंचवटी के महा तीर्थ में प्रवेश किया।

यहाँ, पहुँचने के साथ-साथ इतने लम्बे रास्ते की थकावट मानो क्षणभर में ही दूर हो गयी। उस समय रामदास का शरीर स्वर्गीय आनंद के पुलक से भर उठा। पुण्यतोया नदी में स्नान के उपरान्त वे जल्दी-जल्दी रामचन्द्रजी के मन्दिर की ओर दौड़ पड़े। श्री विग्रह के दर्शन मात्र से ही वे दिव्य आनंद के सागर में निमज्जित हो गये।

पंचवटी के आसपास रामचन्द्रजी के स्मृतिपूत बहुत-से स्थल हैं। कई महीने तक रामदास अपने मन की मौज में इन लीला-स्थलों को देखते हुए घूमते रहे। परिव्राजक साधु-संन्यासियों की जमातों का प्रायः यहाँ मेला लगा रहता है। तरुण रामदास, उत्साहपूर्वक इनका साहचर्य करते तथा यथा साध्य साधुओं की सेवा में लगे रहते। किसी-किसी महात्मा के पास उन्हें भजन का उपदेश प्राप्त होता, तथा उसी का वे निष्ठापूर्वक अनुसरण करते।

जितना अधिक समय व्यतीत होता जाता, रामदास के चित्त की व्याकुलता और भी अधिक बढ़ती ही जाती। मन-ही-मन सोचते कि, परमार्थ के लिए तथा रामचन्द्रजी के लिए उन्होंने घर-संसार का त्याग किया है, साथ ही जननी के स्नेह-ममता के बंधन को भी काट आये हैं, परन्तु उस परम वस्तु के मिलने का उपाय क्या है ?

बाल्यकाल से ही वे साधु-सन्तों से सुनते आये हैं कि इष्टलाभ के लिए सद्गुरु की आवश्यकता है, इसके अलावा अमोघ दीक्षा-मंत्र एवं कठोरतम साधना भी परम आवश्यक है। परन्तु उनके जीवन में सर्वप्रथम, सद्गुरु का आविर्भाव ही प्रयोजनीय है। वह तो अबतक संभव नहीं हो सका है। इस संकट की अवस्था में वे क्या करेंगे तथा किसके पास जायेंगे, लाख सोचने पर भी इसका कोई संधान नहीं मिल पा रहा है।

परन्तु स्वतः जितना भी उनके लिए साध्य है, उतना तो वे कर ही सकते हैं। प्रतिदिन उषाकाल में उठकर वे गोदावरी के पवित्र जल में स्नान करते हैं, उसके बाद अनन्य निष्ठा के साथ इष्ट, श्री रामचन्द्रजी, का नाम-जप एवं कीर्तन प्रारम्भ हो जाता है। जप में निमग्न होकर किसी-किसी दिन वे

एकाएक बेहोश हो जाते हैं तथा उस दिन मधुकरी के लिए भी जाना संभव नहीं हो पाता। दिन-रात निराहार ही कट जाता है।

इस व्याकुलता, कृच्छ व्रत एवं नाम-साधना का फल शीघ्र ही मिल गया। उनके जीवन में सद्‌गुरु का आविर्भाव हो गया।

पंचवटी के निर्जन वन के एक क्षेत्र में, एक वृक्ष के नीचे बैठे तरुण साधक उस दिन एकाग्र चित्त हो जप में निमग्न हैं। क्रमशः रात्रि का अंधकार हल्का पड़ने लगा। बनानी के एक ओर उषा की अरुण आभा दृष्टिगोचर होने लगी। पक्षियों का कलरव वातावरण में गूंज उठा। देव-मंदिरों के घंटे-घड़ियाल तथा साधु-संतों के भजन की दूरागत झंकार से अंतर में एक दिव्य आनन्द की धारा प्रसारित होने लगी। ऐसे परिवेश में एक वैरागी महापुरुष वृक्ष के नीचे आकर उपस्थित हुए। गंभीर कंठ से उन्होंने आदेश दिया, "वत्स, आंखें खोलो। तुम्हारी आर्त पुकार तथा भजन-निष्ठा से रामजी प्रसन्न हो गये हैं। वही आनंद संवाद देने के लिए मेरा आज यहाँ आगमन हुआ है।"

आँखें खुलते ही रामदास ने देखा—समुन्नत देह, जटाजूट समन्वित एक महात्मा उनके सम्मुख खड़े हैं। गले में उन्होंने तुलसी की माला धारण कर रखी है। कमर में मात्र एक कौपीन के अलावा और कोई वस्त्र नहीं है। अधिक वयस होने पर भी शरीर की गौर कान्ति अभी तक अम्लान ही है। नेत्रों से दिव्य आनंद का आलोक फैल रहा है।

दर्शन मात्र से ही रामदास की संपूर्ण सत्ता आलोड़ित हो उठी। अंतर से आश्वासन भरी वाणी निकलने लगी, 'अरे भय नहीं है, रामजी का कृपा-प्रसाद पाने में अब अधिक विलम्ब नहीं है। ये जो तुम्हारे सम्मुख खड़े हैं, वे ही तुम्हारे सद्‌गुरु हैं। इष्टदेव क चरणों में पहुँचने का मार्ग तुम्हारे लिए ये ही प्रशस्त करेंगे।'

तरुण साधक, रामदास, मोहाविष्ठ-जैसे आगे बढ़े। वे महात्मा के चरणों में लोट पड़े तथा अश्रुपूरित नेत्रों से प्रार्थना करने लगे, "जब आप कृपा करके आ ही गये हैं, तो अपना परमाश्रय प्रदान कीजिए जिससे मेरा जीवन कृतार्थ हो जाय।"

"हाँ वत्स, तुम्हें मैं मंत्र एवं संन्यास प्रदान करूंगा। अधिक विलम्ब न करो। जल्दी से गोदावरी के पवित्र जल में स्नान करके वापस आओ।"

दीक्षा एवं संन्यास समाप्त हो गये।[1] गुरु ने अपने शिष्य का नामकरण किया रामदास। कहा, अबसे मात्र तुम्हारा नाम ही रामदास नहीं रहा, वरन् कार्य से ही तुम सतत रामचन्द्रजी का दासत्व करोगे। अपने आदर्श के रूप में महावीर हनुमानजी को ही तुम रखोगे। मारुति महान शक्तिधर थे, और उन्होंने अपनी सारी शक्ति, अवतार-पुरुष रामजी के धर्म संस्थापना के महान कार्य में नियोजित कर डाली थी। इन राम भक्त ने कितनी दुष्कृतियों का विनाश किया था, कितने ही साधुओं की रक्षा की थी। वाह्य जीवन में इन्ही मारुतिजी की इसी कार्य-साधना का अनुसरण तुम करते रहोगे। इन भक्तवीर के अन्तर्लोक के साधनतत्व का अनुसरण करना ही तुम्हारा अभीष्ट है।"

कृपा करके, इस तत्त्व की पूरी व्याख्या करें महाराज!"

"महायोगी मारुति के अंतर में रामजी सच्चिदानन्द-विग्रह के रूप में देदीप्यमान थे। रामभक्त महासमर्थ मारुतिजी के साधन जीवन में श्रीरामचन्द्रजी का यह अवताररूप तथा सच्चिदानन्द रूप दोनों ही विभासित थे। इस बात का सर्वदा स्मरण रखना वत्स!"

गुरुमहाराज के विदा का मुहूर्त आ गया। उनके चरणों में गिरकर रामदास, क्रन्दन करने लगे। गुरु ने सस्नेह कहा, "वत्स, अधीर न हो, धैर्य रखो। परमार्थ का लाभ करने के लिए चार कृपाओं की आवश्यकता होती है। ये चारों हैं—गुरुकृपा, आत्मकृपा, शास्त्रकृपा एवं इष्टकृपा। तुम्हारे साधन जीवन के सम्मुख, गुरुकृपा का द्वार उन्मुक्त हो चुका है। अब तुम्हें आत्मकृपा की आवश्यकता है, अर्थात् अपने द्वारा अनुष्ठित कठोर तपस्या, जिसके माध्यम से सारी मंद-भावना एवं देह-बोध लुप्त हो जायेंगे।"

---

१. इन गुरु का नामधाम आज भी अज्ञात है। रामदास की चिठ्ठिया, रचनाएं तथा संवाद इत्यादि काफी प्रकाशित हुए हैं, परन्तु सर्वत्र यही दृष्टिगोचर होता है कि उन्होंने अपने गुरु का परिचय गुप्त ही रखा है। संभवतः गुरु के निर्देश से ही उन्हें इस गोपनीयता का अवलम्बन करना पड़ा था। इस स्थान पर यह उल्लेखनीय है कि गुरुकरण, गुरुदत्त मंत्र एवं गुरुभक्ति को रामदास अपरिहार्य मानते थे।

गवेषकों का मत है कि रामदास के गुरु एक विशिष्ट रामाइत साधु थे, एवं वे रामानुजी वा रामानन्दी साधक नहीं थे। साध्य-साधन के संबन्ध में उनका निजी मत एवं आदर्श था। अवतार रामचन्द्र का तत्व एवं अद्वैत वेदान्त, इन दोनों की समन्वित वाणी का ही वे प्रचार करते।

थोड़ा रुक कर उन्होंने फिर कहना शुरू किया, "इसके अलावा शास्त्रकृपा की भी आवश्यकता है। शास्त्रों के निगूढ़ तत्व-समूहों के माध्यम से तुम्हारे अंतर की सत्ता उद्भासित हो उठेगी। उसके बाद वत्स, इष्टकृपा के अवतरण होने में अधिक विलम्ब नहीं होगा। तुम्हें हृदय से आशीर्वाद देता हूँ– तुम शीघ्र ही सिद्धकाम होओ। मेरे विछोह के कारण दुःख न करो। आवश्यकतानुसार तुम फिर इसी पुण्य-भूमि में मुझसे साक्षात् कर सकोगे।"

गुरु ने दूसरे दिन ही पंचवटी का त्याग कर दिया। साधक रामदास ने भी अपनी कठोर तपस्या का श्रीगणेश किया। इस तपस्या में उनका सबसे बड़ा अवलम्बन रहा, दैन्य एवं कृच्छ्र-साधना। क्षुधा, तृष्णा के लिए होश नहीं, आकाशवृत्ति के सहारे ही वे समय व्यतीत करने लगे। ईश्वर के विधान के अनुसार जब भी जो आहार उन्हें मिल जाता, उसी से वे अपनी क्षुधा-पिपासा की निवृत्ति कर लेते।

सर छुपाने के लिए एक झोपड़ी अथवा पर्णकुटीर भी उनके पास नहीं था। वृक्ष के नीचे ही उन्होंने आश्रय लिया है। गुरु के जैसे ही उन्होंने मात्र एक कौपीन धारण कर रखा है। दिन-रात वहीं पर उनका निवास है। ऋतुएँ बीतती जा रही हैं परन्तु उन्हें इसका कोई ज्ञान नहीं है। शीत एवं ग्रीष्म के विषय में रामदास को कोई होश नहीं है, उसी तरह वर्षा तथा तूफान का भी उन्हें कोई बोध नहीं रह गया है। नवीन संन्यासी की यह त्याग तितिक्षा, एकनिष्ठा एवं कठोर साधना देखकर पंचवटी के भजनशील, पुराने साधक भी बार-बार उन्हें साधुवाद देने लगे।

अंततः रामदास की साधना सफल हुई। उनके नयनों के समक्ष इष्टदेव प्रभु श्री रामचन्द्र जी की ज्योतिर्मय मूर्ति उद्भासित हो उठी। दिव्य आनन्द के रस-तरंग से उनकी सारी सत्ता प्लावित हो उठी और वाह्य ज्ञान के लोप हो जाने से उनका शरीर भूमि पर लोट पड़ा।

चेतन होने पर उन्होंने देखा, गुरुमहाराज उनके सिरहाने खड़े हैं। उनके चेहरे पर आनन्द की आभा फैली हुई है। स्निग्ध कण्ठ से उन्होंने रामदास से कहा, "वत्स, तुम भाग्यवान हो, इष्ट दर्शन तुम्हें प्राप्त हो चुका है। तपस्या की एक प्रधान सीढ़ी तुम पार कर चुके हो।"

जल्दी-जल्दी भूमि-शय्या का त्याग कर साधक रामदास उठ बैठे। आनन्दाश्रुओं की धारा से स्नात, उन्होंने गुरुमहाराज के चरणों में साष्टांग प्रणाम निवेदित किया।

दूसरे दिन गुरुजी ने भक्त रामदास को निकट बुला कर कहा, "वत्स, तुम्हारे इष्टदर्शन के प्राक्काल में ही मैं उपस्थित हुआ था। तुम्हारी सफलता देख कर मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ।"

"प्रभु यह सब आपकी ही कृपा के फलस्वरूप है। आपके द्वारा प्रदत्त मंत्र-सावन ही मेरा सबसे बड़ा संबल रहा है—" रामदास ने निवेदन किया।

"नहीं वत्स, तुम्हारी साधना में एक' निष्ठा एवं कृच्छ्र तथा तुम्हारा दैन्य एवं आत्माभिमान की विलुप्ति से मैं आनंदित हुआ हूँ। साधना एवं आत्म-शुद्धि के बल से तुमने आत्मकृपा पायी है, तुम्हारी साधना सत्ता में शास्त्रों के गूढ़ तत्त्व स्फुरित हो गये है। अब उन्हीं अनुभूत तत्त्वों की शास्त्र-अध्ययन के माध्यम से जाँच कर लो। एक अन्य कारण भी है जिसकी वजह से तुम्हें शास्त्रों में पारंगत होना होगा।"

"समझा कर कहें गुरुदेव!"

"रामदास, तुम सर्वतोभाव से रामजी के दास हो, अंतरंग एवं बहिरंग दोनों दृष्टि से ही। आशीर्वाद देता हूँ, शीघ्र ही तुम्हारे अंतर्लोक में प्रभु रामचन्द्र के अद्वैत ब्रह्म-स्वरूप का स्फुरण हो, और वाह्‌य दृष्टि से तुम अवतार श्री राम के धर्मराज्य के संस्थापन में तत्पर होओ।"

"रामराज्य तो त्रेतायुग की बात है। इस युग में तो उसके आने की बात नहीं है।" रामदास ने प्रश्न किया।

"वत्स, श्री रामचन्द्र हैं परम ईश्वर, परब्रह्म। प्रत्येक युग में ही उनका अधिकार है, तथा उनके राज्य-स्थापन की यह भूमिका है। नाम से क्या होता है, रामदास! रामराज्य, धर्मराज्य, इस युग में भी प्रतिष्ठित होने जा रहा है।"

"इस वृहत् ईश्वरीय कर्म में मेरे-जैसे क्षुद्र मनुष्य-कीट की क्या भूमिका होगी, प्रभु?"

"तुम भूल करते हो रामदास! उन्होंने जिस तरह महायोगी हनुमान जी की सेवाएँ प्राप्त की थीं, उसी तरह क्या गिलहरी की भी सहायता नहीं ली थी? वे आ रहे हैं—तुम्हारा तथा मेरा धर्म यही होता है कि जिस मार्ग से उनका रथ आ रहा है, उसे कंटकमुक्त करना।"

"इस क्षेत्र में मुझे क्या करना होगा?"

"सुनो रामदास, विधर्मियों के अत्याचार से जाति पंगु हो चुकी है। आज धर्म-बुद्धि विलुप्त हो चुकी है तथा सारे स्थान गलीज से भर चुके हैं। परम प्रभु के आसन के लायक स्थान भी कहीं नहीं बच रहा है। इस संकट की

घड़ी में तुम अपना कार्य प्रारंभ करो। महाराष्ट्र ही तुम्हारा कार्यक्षेत्र हो। धर्मबोध एवं अध्यात्म शक्ति की भित्ती पर इस देश को जगा डालो।"

"प्रभु, यही सोच रहा हूँ कि मेरे जैसा कंगाल, असहाय व्यक्ति किस तरह इस कार्य को आगे बढ़ा सकेगा।" रामदास ने दीनतापूर्वक कहा।

"वत्स, चिंता न करो। मैं तुम्हें वर देता हूँ, शीघ्र ही सारी ऋद्धि-सिद्धियाँ तुम्हें हस्तगत होंगी। देश के शक्तिवर राजा से लेकर साधारण मनुष्य तक, सभी तुम्हारे इस महान् कार्य में सहायक होंगे।

"प्रभु, निर्देश दें, किस तरह मैं इस कार्य में अग्रसर होने की चेष्टा करूँ।"

"इस ईश्वरीय कार्य का दायित्व एवं गुरुत्त्व बहुत अधिक है, रामदास! इसी कारण इसके प्रस्तुति की भूमिका आवश्यक है। इसकी प्रस्तुति भी ईश्वरीय कार्य का ही अंग है। यहाँ, इस पंचवटी की भीड़ में यह कार्य कर सकना संभव नहीं हो सकेगा। गोदावरी के दूसरे किनारे पर स्थित ताकेरली, तुम चले जाओ। वहाँ के निर्जन परिवेश में तुम दस वर्षों तक निवास करो। वहीं तुम अपनी अवशिष्ट साधना तथा शास्त्रों के अध्ययन को समाप्त करो। वहाँ तुम्हें जनसाधारण के अंदर कार्य करना होगा। मात्र भक्त एवं प्रेमिक साधक होने से काम नहीं चलेगा, वरन् तुम्हें आचार्य बन कर भी बैठना होगा। इसके लिए असामान्य शास्त्रज्ञान की भी आवश्यकता है। राम जी की कृपा से भक्तिशास्त्र एवं अद्वैत ब्रह्मवाद दोनों पर ही तुम्हारा अनायास अधिकार हो जायगा। जाओ वत्स, सारे फलों की आशा रामजी के ऊपर छोड़ कर, अनासक्त योगी के रूप में तुम आज से विराजते रहो।"

बार-बार रामदास को उत्साहित करके एवं हृदय से आशीर्वाद देकर, गुरु महाराज ने विदा ली।

रामदास ने ताकेरली में प्रायः बारह वर्षों तक निवास किया। इस लम्बी अवधि में एक ओर वे गुरु द्वारा प्रदर्शित निगूढ़ योग-साधना के मार्ग पर अग्रसर हुए तो दूसरी ओर दुरूह शास्त्र तत्त्वों में निपुणता प्राप्त करते रहे।

ताकेरली, पंचवटी से मात्र दो मील की दूरी पर स्थित है। तन्वी स्रोतस्विनी, नंदिनी, इस स्थान को पखारती हुई प्रवाहित है, एवं थोड़ी ही दूर जाकर पुण्यतोया गोदावरी में विलुप्त हो जाती है। पीछे एक छोटा-सा निर्जन पहाड़ है। यहाँ की नैसर्गिक सुषमा तथा शांत एवं पवित्र परिवेश से आध्यात्मिक प्रेरणा का सहज लाभ हो जाता है। ताकेरली पहाड़ के एक क्षेत्र में रामदास ने एक पर्णकुटीर बनाकर अपने साधन जीवन का द्वितीय अध्याय व्यतीत किया।

शीघ्र ही इन शास्त्रविद, भजनशील साधक की ख्याति चारों ओर फैल गयी। नवागत भक्तों एवं प्रशंसकों की सहायता से, रामदास, बहुत से दुष्प्राप्य ग्रन्थों का संग्रह करने में समर्थ हो सके। इन सभी ग्रन्थों के मनन एवं विचार-विश्लेषण के उपरान्त वे अपने व्यक्तिगत भक्तिवाद की भित्ति के गठन के लिए प्रस्तुत हुए।

बारह वर्षों की शास्त्रचर्चा एवं भक्ति-साधना ने रामदास के जीवन में विपुल आत्मविश्वास एवं प्रशांति ला दी। अब गुरु द्वारा निर्देशित इश्वरीय कर्म के उद्यापन की बात भी बार-बार उनके मानस पटल पर उभरने लगी। इन्हीं दिनों एक दिन ध्यान-समाहित अवस्था में रामदास को पुनः इष्टदेव श्री रामचन्द्र के दर्शनों का लाभ हुआ। दिव्य करुणाधारा से हृदय-घट आकंठ पूर्ण हो गया।

इसके बाद ही गुरु महाराज का पुनः आविर्भाव हुआ। उन्होंने स्नेहपूर्ण स्वर में अपने प्रिय शिष्य से कहा, "रामदास, तुम्हारा प्रस्तुति पर्व समाप्तप्राय है। और जितना भी बाकी है उसे भी शेष कर डालो। इश्वरीय कार्यों के श्रीगणेश से पूर्व सारे देश को एक बार निकट से देख डालो। पद-यात्रा में निकल पड़ो तथा प्रधान तीर्थों के दर्शन कर आओ। इसी के साथ तुम्हारे हृदय में सारे भारत के वास्तविक चित्र का ज्ञान हो जाय।

इसके बाद, एक दल संन्यासी साथियों के साथ, रामदास, परिव्राजन हेतु बाहर निकल पड़े। उत्तर में हिमालय-तीर्थ, केदार-बद्री से आरम्भ कर दक्षिण में रामेश्वर एवं सिंहल तथा पश्चिम में द्वारका-वृन्दावन से शुरू करके वाराणसी, गया, जगन्नाथधाम इत्यादि का दर्शन कर वे फिर पंचवटी वापस लौट आये।

अब उनके अध्यात्म जीवन के सर्वापेक्षा गुरुत्वपूर्ण अध्याय का समारम्भ हुआ। आचार्य की भूमिका ग्रहण कर उन्होंने रामाइत् वैष्णव धर्म के एक नवीन संप्रदाय का गठन कर डाला। वह रामदासी संप्रदाय के नाम से विख्यात हो उठा।

रामदास एवं उनके धर्मान्दोलन का वास्तविक मूल्यांकन करने के लिए महाराष्ट्र के उस समय के राजनैतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि को जान लेना आवश्यक है। इससे पूर्व प्रायः तीन सौ वर्षों तक दाक्षिणात्य मुसलमानों के अधिकार में था। चौदहवीं सदी से सत्रहवीं सदी तक यह दुष्टिगोचर होता है। अहमदनगर एवं बीजापुर दोनों ही राज्य उत्तर से आने वाले मुगल-शक्ति के प्रतिरोध में व्यस्त थे। रामदास के समय में दक्षिणांचल में मुगल-

शक्ति का प्रधान केन्द्र अहमदनगर था। तब तक सम्राट औरंगजेब ने इस महत्वपूर्ण नगर को दखल कर लिया था।

मुसलमान राजाओं के युद्ध-विग्रह एवं अत्याचार ने मराठों के जनजीवन में गंभीर उपद्रव एवं अशांति की सृष्टि कर डाली थी। हिन्दुओं के देवता एवं मंदिरों पर विधर्मियों की कोई श्रद्धा नहीं थी। अवसर मिलते ही वे देवविग्रह को कलुषित कर डालते तथा मठ मंदिरों को विनष्ट कर डालते। फलतः हिन्दू असहाय एवं हीन भावना से ग्रस्त थे। सामरिक संघर्ष प्रायः ही होते रहते, जिसके फलस्वरूप विस्तीर्ण क्षेत्र उजाड़-सा हो गया था। दरिद्र कृषकों पर गंभीर संकट उपस्थित हो गया था। सरकारी तथा गैर सरकारी क्षेत्रों में अन्याय एवं दुर्नीति का बोलबाला था। सामाजिक जीवन क्रमशः पंगु एवं नैराश्यवादी हो चला था।

सभी क्रियाओं की स्वाभाविक प्रतिक्रिया होती है। महाराष्ट्र भी उससे अछूता नहीं रहा। महाराष्ट्र के दुर्गम स्थानों में मुगल शक्ति इतनी दृढ़ नहीं हो पायी थी, और इन सब स्थानों में हिन्दूजागृति के चिह्न दृष्टगोचर होने लगे। इस नवीन जागृति के मुख्यपात्र थे शिवाजी भोंसले। इस नेता के अंदर असाधारण नेतृत्व-शक्ति, संगठन-प्रतिभा एवं रणचातुर्य विद्यमान थे। इसके साथ ही उनके अंदर धर्म-भित्तिक हिन्दूराज्य के गठन की महान परिकल्पना[१] भी थी। सिद्ध पुरुष रामदास की अध्यात्म प्रेरणा ने शिवाजी में नवीन संजीवनी शक्ति एवं उद्दीपना का जागरण कर डाला था।

स्वामी रामदास के समकालीन महाराष्ट्र में पंढरपुर के वैष्णव आन्दलोन का प्रभाव भी कम नहीं था। ये वैष्णवगण कृष्ण विग्रह विठ्ठलजी के भक्त थे। इन लोगों ने अभंग पद-कीर्तन एवं नाम प्रचार के माध्यम से मराठा जन-जीवन को काफी हद तक आत्मस्थ किया एवं नवीन आत्मशक्ति से उद्बुद्ध करके ऊपर उठाया।[२]

---

१ रानाडे : राइज आफ द मराठा पावर—पृ० २७–३४।

२. अनेक लोगों की धारणा है कि मराठी वैष्णव एवं साधक कविगणों ने मराठों के जातीय अभ्युदय में कोई सहायता नहीं की। उनकी धारणा है कि इनके दैन्य एवं त्याग-तितिक्षामय जीवन ने देशवासियों के मनोबल को उठाने के बजाय नीचा ही कर डाला। परन्तु रानाडे ने अपने ग्रन्थ 'राइज आफ द मराठा पावर' में प्रमाणित किया है कि इस धारणा का कोई आधार नहीं है। उनकी मान्यता है कि इन वैष्णव कवियों ने ही मराठा जागृति की भित्ति को सुदृढ़ किया। रानाडे के इस मतवाद के स्वयं यदुनाथ, किनकेड, रेमरेन्ड एडवर्डस् इत्यादि समर्थक हैं।

पंढरपुर के वैष्णवों के प्रधान थे ज्ञानेश्वर। उनका अभ्युदय तेरहवीं सदी में हुआ था। इन महापुरुष द्वारा लिखित ज्ञानेश्वरी गीता में योग एवं भक्तिवाद का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। नामदेव, तुकाराम इत्यादि के ऊपर भी ज्ञानेश्वर का प्रभाव स्पष्ट है। ज्ञानेश्वर के बाद चौदहवीं सदी में नामदेव का आविर्भाव हुआ था। उनके भक्तिवाद की धारा महाराष्ट्र से आरंभ होकर पंजाब तक विस्तृत हुई।

रामदास एवं तुकाराम प्रायः समकालीन थे। ऐतिहासिक तथ्यों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मक्षेत्र एवं वैष्णव मतवाद में पार्थक्य होने पर भी इन दोनों महात्माओं ने परोक्षरूप से एक दूसरे की सहायता ही की थी। दोनों ने ही महाराष्ट्र के पुनर्जागरण में तीव्र गति प्रदान की थी।

बारह वर्षों तक समग्र भारत के परिव्राजन के पश्चात् स्वामी रामदास १६४४ ई० में महाराष्ट्र में वापस आये। इस परिव्राजन के माध्यम से उनके समक्ष देश का जो चित्र उभरा वह हृदय-विदारक था। इस धर्म-धृत महान देश में, धर्मबोध प्रायः स्तंभित था। विधर्मियों के प्रताप के समक्ष देशवासी अपने जातीय गौरव एवं आत्मबोध को लगभग भूल चुके थे। देव-देवियों की मूर्तियाँ नाना स्थानों पर कलुषित हो रही थीं। समाज से नीतिबोध लगभग लुप्तप्राय था। दारिद्र्य का अभिशाप भी मनुष्य के मनुष्यत्व को कम करने में पूर्ण योगदान दे रहा था। इन परिस्थियों में, उनके मानस पटल पर सद्गुरु का निर्देश जाग्रत हो उठा। अपने ही लांछित, पददलित देश महाराष्ट्र का उन्होंने अपने कर्म-केन्द्र के रूप में निर्वाचन किया। नवजागरण एवं धर्म राज्य के संस्थापन के लिए वे कृतसंकल्प हो गये।

नाना स्थानों के परिभ्रमण के उपरान्त, रामदास ने सतारा क्षेत्र का अपने कार्य के केन्द्र-विन्दु के रूप में चयन किया। पश्चिमी घाट पर्वतमाला के सन्निकट, शस्य-श्यामल, नदी-उपत्यका नयनाभिराम दृश्यों से परिपूर्ण है, सतारा, प्राकृतिक शोभाओं से भरपूर; नदी, पर्वत तथा अरण्य से घिरे इस क्षेत्र में आकर भक्त रामदास का हृदय आनन्द से भर उठा। यहीं पहाड़ों के हृदय में बसा एकान्त एवं शांत छाफल नामक ग्राम है। इसके नीचे एक क्षीणकाय छोटी नदी कलकलध्वनि के साथ बहती है। इसी ग्राम के एक हिस्से में कुछ दिनों के लिए स्वामी रामदास के साधन-आश्रम की स्थापना हुई।

आश्रम तो स्थापित हो गया, परन्तु आश्रम के विग्रह कहाँ थे? इष्टदेव की विग्रह की स्थापना न होने तक रामदास के हृदय में शांति नहीं होगी। थोड़े ही दिनों में इस समस्या का भी समाधान हो गया। एक दिन गंभीर रात्रि में

ध्यानासन पर बैठे हुए स्वामी रामदास को एक अपूर्व निर्देश प्राप्त हुआ। इष्टदेव रामचन्द्र, उनसे कह रहे हैं, "वत्स रामदास, तुम्हारे आश्रम मंदिर में प्रवेश के लिए लम्बी अवधि से उत्सुक हूँ। तुम्हारे स्नान-घाट के एक किनारे, नदी में, मेरा विग्रह धँसा हुआ है। कल प्रातः उसका नदी से उद्धार करो, तथा उसे अपने आश्रम में स्थापित कर डालो।"

श्री रामजी का यह प्रस्तर विग्रह, दूसरे ही दिन, नदी से उठा कर लाया गया। रामदास ने परम आनन्द पूर्वक, इसकी सेवा-पूजा आरंभ की। कुछ ही दिनों के बाद महावीरजी की भी एक मूर्ति, समारोह पूर्वक यहाँ स्थापित की गयी।

छाफल के आश्रम में रामदास ने अधिक दिनों तक निवास नहीं किया। वहाँ कुछ दिनों तक रहने के बाद वे शिवथर नामक एक अत्यन्त एकान्त स्थान पर जा पहुँचे। जन-साधारण से दूर इस निर्जन क्षेत्र में उन्होंने लगभग दस वर्षों तक निवास किया। विशिष्ट जीवनीकार एवं शिष्यों के मतानुसार इसी स्थान पर रामदास ने अपने अधिकांश जनप्रिय धर्म-संगीत एवं तत्व ग्रन्थों की रचना पूर्ण की।

इसके बाद रामदास, फिर एकान्त एवं अवकाश की खोज में बाहर नहीं निकले। अपने विपुल उद्यम, कर्मशक्ति एवं सृजन-प्रतिभा के साथ वे धर्म-संगठन के कार्य में कूद पड़े, तथा महाराष्ट्र के जनजीवन में अभूतपूर्व जीवनी-शक्ति के संचार में निमग्न हो गये।

रामदास का व्यक्तित्व, आचार-आचरण एवं धर्म-प्रचार की विधि अत्यन्त आकर्षक थी। ये कौपीनधारी, सर्वत्यागी संन्यासी गांव-गांव में अपने भक्त एवं शिष्यों के साथ घूमने लगे। उनकी धर्म सभाओं में शास्त्रों के व्याख्या-विश्लेषण एवं भजन-कीर्तन से काफी जनता एकत्रित होने लगी। रामदास एक तरफ भावुक भक्त, कवि एवं कीर्तन-नायक थे तो दूसरी तरफ वेद-वेदान्त, पुराण-शास्त्र एवं योग-मार्ग पर भी उनका समान अधिकार था। विशेष रूप से उनके भजन, कीर्तन एवं धर्म-राज्य-संस्थापन की आश्वासन भरी वाणी सहस्रों नर-नारियों को नवीन प्रेरणा से उद्बुद्ध करती।

रामदास की धर्म-सभा में ग्राम के उच्च-नीच, शिक्षित-अशिक्षित धनी-निर्धन सभी परम उत्साहपूर्वक जमघट लगाये रहते। उनके उज्ज्वल व्यक्तित्व को केन्द्रित करके अनेक स्थानों पर सुनियोजित भक्त-गोष्ठियाँ खड़ी होने लगीं। भक्तों को केवल हँसा-रुला कर तथा भावावेग का ज्वार उफना कर ही रामदास का कर्त्तव्य शेष नहीं हो जाता, वरन्, असामान्य संगठन-प्रतिभा के बल

से वे अल्पकाल में ही भक्तों को एकत्रित कर एक-एक मठ एवं साधन केन्द्रों की स्थापना करने लगे। उन केन्द्रों पर इष्टदेव रामचन्द्र एवं महायोगी मारुतिनन्दन की मूर्त्तियों की पूजा, समारोहपूर्वक होने लगी। इस प्रकार इन मठों के केन्द्र से नवीन भक्ति-धर्म की स्रोत-धारा प्रवाहित होने लगी।

गुरुजी ने रामदास को वर दिया था, कि ऋद्धि-सिद्धि दोनों ही उन्हें हस्तगत होगी। अब वह वर फलीभूत होने लगा। कुछेक वर्षों में ही महाराष्ट्र के नाना क्षेत्रों में रामदासी रामाइत संप्रदाय का प्रभुत्व दृष्टिगोचर होने लगा। अनेक मठ-मंदिर भी निर्मित हुए। असंख्य मराठियों की दृष्टि में, रामदास, रामजी के श्रेष्ठ भक्त तथा मारुतिनन्दन के अवतार के रूप में गण्य होने लगे।

रामदास की जीवन साधना में भक्ति, ज्ञान एवं कर्म—तीनों का ही समन्वय दृष्टिगोचर होता है। अपने संपूर्ण जीवन में वे अवतार-पुरुष, रामचन्द्र, की उपासना एवं अर्चना की ही बात कहते रहे। आज भी उनके संप्रदाय में इष्ट रामचन्द्र की षोड़शोपचार पूजा प्रचलित है। उन्होंने प्रभु रामजी को ही परम ब्रह्म के रूप में स्थापना की है। इन स्थलों पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि वे अद्वैतवाद के तत्वों का भी निष्ठापूर्वक विश्लेषण करते हैं। उन्होंने रामराज्य अथवा धर्मराज स्थापना का जो महान व्रत ग्रहण किया उसके माध्यम से ईश्वरीय कर्म के उद्यापन का आन्तरिक प्रयास प्रस्फुटित हो उठा। उनके द्वारा रचित भक्ति-संगीत एवं धर्म-ग्रन्थों ने तत्कालीन जन-समाज में प्रबल उद्दीपना की सृष्टि कर डाली।

इन दिनों महाराष्ट्र में पंढ़रपुर को केन्द्र करके भक्तिसाधना का स्रोत प्रवाहित हो रहा था। इस भक्तिधारा के प्रवर्तक थे, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव इत्यादि महात्मागण। महाराष्ट्र के प्रत्येक जनपद में इनका प्रभाव विद्यमान था। इसी कारण रामदास भी इस प्रभाव से मुक्त नहीं रह सके। फिर भी उनका भक्ति आन्दोलन, पंढ़रपुर से अनेक माने में पृथक् था। विट्ठल-जी अथवा कृष्ण विग्रह उनके इष्ट नहीं थे, वरन् उनके इष्ट रामचन्द्र थे। उनकी जीवन-साधना का एकमात्र केन्द्र था, अवताररूपी रामचन्द्रजी की पूजा एवं उनके धर्मराज्य की प्रतिष्ठा का प्रयास, और रामजी के माध्यम से ही उन्होंने साधन-जीवन के अंत में सत्यम्-शिवम् अद्वैतम के अद्वैत ब्रह्मात्मज्ञान पर पहुँचने की चेष्टा की है।

रामदास के ग्रन्थों से स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, कि वेदान्त के अद्वैततत्त्व के ऊपर उनकी एक स्वाभाविक रुझान थी। लगता है, उनके रामाइत् गुरु, भक्तिवादी होते हुए भी अद्वैत-वेदान्त में पारंगत थे, एवं उनका प्रभाव शिष्य

रामदास के ऊपर स्पष्ट रूप से पड़ा था। तत्कालीन श्रृंगेरी मठ के अनेक साधक अद्वैत वेदान्ती होते हुए भी रामचन्द्र के उपासक थे। ऐसा भी हो सकता है कि इन्हीं में किसी के साथ विशेष घनिष्टता हो जाने के बाद रामदास के अन्दर रामभक्ति एवं अद्वैतवाद का यह समन्वय मूर्त्त हो उठा था। ताकरेली एवं छाफल के एकांत परिवेश में रहने के समय, रामदास ने लम्बी अवधि तक वेदान्त, ज्ञानेश्वरी-गीता एवं योगवाशिष्ठ, रामायण का गंभीर रूप से अध्ययन किया था। स्वभावतः इन सब ग्रन्थों के ज्ञानमार्गी तत्वों का प्रवेश उनके अध्यात्म-जीवन में दृढ़ रूप से हो गया था। एवं उत्तर जीवन में उनके भक्तिवाद की रुझान अद्वैतबोध की ओर हो गयी थी।

रामदास के अध्यात्म-जीवन के उपादान जिस दिशा से भी प्रभावित हुए हों, वे अपने मतवाद एवं तत्त्वादर्श को एक विशिष्ट रूप देने में सक्षम हुए थे। प्रधानतः उनको केन्द्र करके ही रामभक्तिवाद का परम तत्त्व विकसित हो उठा, इसमें संदेह का कोई प्रयोजन नहीं है।

दार्शनिक व्याख्या अथवा तत्त्ववाद के संदर्भ में रामदास जो भी कहें, व्यावहारिक जीवन में तथा जनसाधारण के आचार्य एवं उपदेष्टा के रूप में वे रामभक्ति एवं राम-उपासना के ऊपर ही विशेष बल दे गये हैं। उनके संप्रदाय के मठ-मंदिरों में भक्ति-साधना, पूजा-अर्चना तथा नाम-कीर्तन का ही प्राधान्य अधिक दृष्टिगोचर होता है। उनके असंख्य भक्ति गाथाओं में, इष्ट की कृपा-भिक्षा, शरणागति और चित्त की विह्वलता पर ही अधिक बल है। करुणाष्टक के एक पद में साधक कवि रामदास, प्रभु के चरणों में सखेद निवेदन करते हैं :

हे राम ! नित्य ये हृदय मेरा,
अनुताप की ज्वाला में जल रहा है।
अत्यन्त चंचल है मेरा मन,
मैं उसे वश में करने को सक्षम नहीं।
हे प्रभु, हे करुणामय,
मेरे इस माया-पाश को काट डालो,—
जो करता है सृजन मरीचिका मोह का।
आओ प्रभु, मेरे हृदय-कुटीर में,
तुमसे विलग हो जीवन में अवसाद की शून्यता आ गयी है।
तुम्हारी आराधना बिना कट रहे हैं मेरे दिन,
बन्धु स्वजनों एवं वित्त विभव के बीच
अपनेको ईर्षा एवं स्वार्थान्धता में खो चुका हूँ।

हे रघुपति, हे करुणामय,
अपने मन की उदारता का अवदान दो,
जिससे अपना सर्वस्व बिना कष्ट अर्पण कर सकूँ—
पूर्ण विश्वास से तुम्हारे चरणों में स्थान पा सकूँ ।
इन्द्रियों की सेवा में क्या पा सकूँगा, परमानन्द ?
हे रघुनाथ, तुम्हारे बिना
मैं हो गया हूँ, रिक्त, हतभाग्य ।
हे प्रभु, इसी कारण चरणों में आशीष की याचना करता हूँ—
कि मेरा जीवन, ब्रह्ममय हो ।[1]

फिर प्राप्ति के परमानन्द से उत्फुल्ल होकर दास रामदास एक और अभंग पद में कहते हुए सुने जाते हैं :

हे दयाल रघुनाथ, हे मेरे प्रभु,
कितने पाप किए हैं इस जीवन में—
उसमें किसी में तुमने क्षमा प्रदान नहीं की ?
तुम्हारी गुणराशि असीम आकाश में
संख्यातीत नक्षत्रों जैसी खचित है—
उनमें कितनी स्मृति पटल पर रखना संभव है ?
क्या करके तुम्हारे अपार ऋण का शोधन कर सकता हूँ ?
दीनों के शरणदाता तुम्हीं हो प्रभु, तुम्हीं हो परमगति—
यही परिचय तुम्हारा वास्तविक परिचय है ।
तुमने सुख दिए हैं परन्तु परम सुख ही मेरा काम्य है
इस कंगाल के लिए जो भी अपेक्षित है
सभी तो तुम्हें ज्ञात है ।
मेरा अंतर जो तुमने अपने दान से परिपूर्ण कर डाला है
हे प्रभु, हे रघुनाथ, कहो तो, यह अभागा—
किस तरह तुम्हारे ऋण-भार का शोधन कर सकेगा ?

रामदास का प्रधान ग्रन्थ 'दास बोध' उनके अनुगामियों के लिए गीता-जैसे नित्य पठनीय है । इस ग्रन्थ एवं अन्यान्य रचनाओं[2] में रामदास ने भक्तिमार्ग

---

१. विलबर एस डेमिंग : रामदास एण्ड रामदासीज, पृ० ३२;९०-९५

२. समर्थ रामदास स्वामी की प्रधान रचनाओं के नाम निम्नलिखित हैं :
(१) दास-बोध—७७५२ कविताओं के इस संकलन को रामदासी संप्रदाय के लोग सम्मानपूर्वक 'ग्रन्थ राज' कहते हैं । (२) श्री श्लोक

के साधन के लिए श्रवण, स्मरण, अर्चना इत्यादि नौ प्रकार के अनुष्ठानों का उपदेश दिया है। गुरु सेवा, नामजप एवं नाम कीर्त्तन पर रामदास सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। उनके मतानुसार भक्ति-मुक्ति के मूल में सद्गुरु की कृपा ही रहती है। सद्गुरु ही अपनी शक्ति के बल से शिष्य के अधिकार को परिशुद्ध करते हैं तथा उसे ईश्वर-प्राप्ति के लिए प्रस्तुत करते हैं। उनका कथन है कि गुरुसेवा के माध्यम से शिष्य का अहंबोध जिस तरह क्षीण होता जाता है, उसी तरह गुरुकृपा की अमियधारा का अवतरण भी होता जाता है।

नाम-जप एवं कीर्तन के संबंध में उनकी प्रसिद्ध रचना श्री श्लोक मनाचे— में उन्होंने कहा है :

हे मन, भ्रान्ति बुद्धि के वशीभूत होकर इस नाम का करो न त्याग,
श्रद्धापूर्वक निरंतर इसका करो अनुध्यान।
जो भी दृष्टिगोचर हुआ है, इस प्रपंच में,
सभी विद्धृत है, प्रभु के नाम के बल से।
कुछ भी इसके साथ तुलनीय नहीं है।

अपने इष्ट-नाम, रामनाम के माहात्म्य का वर्णन करते हुए भक्त साधक रामदास प्रेम से प्लावित होकर कहते हैं :

भजन एवं जप के लिए तो नाम हैं अनेक,
किन्तु भाई, रामनाम से तुलनीय है कौन नाम ?
जो हैं दीन और अभागे
कैसे वे समझ पायेंगे, इस परम वस्तु की महिमा ?
वासुकी का हलाहल पान करके
पार्वतीनाथ, शंकर ने इसी महानाम का जाप किया,
और हुए थे वे मृत्युञ्जय—
फिर कीट सदृश्य मनुष्य क्यों नहीं करेगा जप
मेरे प्रभु के इस अमृतमय नाम का ?

मनाचे— इन पदों में मन को वश में रखने के उपदेश निहित हैं। साधुगण भिक्षा मांगते समय इनको गाया करते हैं। (३) करुणाष्टक अनुशोचना तथा प्रार्थना से भरे ये समस्त श्लोक सान्ध्य-भजन के समय गाये जाते हैं। (४) रामदास की रामायण (सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड एवं किष्किन्धा काण्ड)। (५) शतक पंचक एवं भूपाली नायक, प्रार्थना मूलक अभंग पद।

भक्तिमार्गीय साधना के प्रचार के साथ-साथ रामदास स्वामी ने अनेक मठ-मंदिरों की प्रतिष्ठा की। इन सभी मठ-मंदिरों को उन्होंने अपने धर्मराज्य के एक-एक सुदृढ़ स्तम्भ के रूप में परिणत किया। भक्ति धर्म का प्रचार करते हुए भी रामदास ने कभी भी अतिरिक्त भावोच्छ्वास को प्रश्रय नहीं दिया। रामचरित्र का संयम, सत्यनिष्ठा एवं न्यायपरक दृष्टांत को वे सर्वदा भक्तों के समक्ष प्रस्तुत करते। मठ एवं मंदिर के महन्थ अथवा परिचालकों का वे कठोरतापूर्वक नियंत्रण करते। एकबार उनके एक मठ के महन्थ ने नीति के विपरीत कोई कार्य किया। इसके लिए रामदास ने उनकी शास्ति का विधान दिया— वेत्राघात। एक अन्य मठाधीश ने उपयुक्त प्रस्तुति से पूर्व ही अपने एक अनुगत भक्त को मंत्र प्रदान किया था। दीक्षा से पूर्व सतर्कता क्यों नहीं बरती गयी, इस दोष के कारण रामदास ने मठाधीश पर कठोरतापूर्वक प्रहार किया। कई विशिष्ट कीर्त्तनियाँ शिष्यों का एकबार उन्होंने दुश्चरित्र स्त्रियों के साथ देख लिया। उन्होंने इन लोगों को कीर्तन-सभा से तीन वर्षों के लिए वहिष्कृत कर दिया। रामदास के मठ-मंदिरों के इस नीतिगत आदर्शवाद एवं नियम शृंखला ने मराठों के पुनर्गठन एवं आत्मिक शक्ति के उज्जीवन में कम सहायता नहीं की।

आचार्य जीवन के आरम्भ होते ही कुछेक संत एवं धर्मनिष्ठ गुरु गतप्राण शिष्यों ने रामदास का आश्रय ग्रहण किया। इनके पहले दल में थे—कल्याण, श्रेष्ठ (रामदास के भ्राता), उद्धव गोसावि, दिवाकर, बोना बाई, आका बाई इत्यादि।

शिष्य कल्याण ने मात्र त्याग, तितिक्षा एवं साधना के द्वारा ही गुरु के अनुग्रह का लाभ नहीं किया, वरन् डोमगाँव मठ में रामदासी सम्प्रदाय के विशिष्टतम प्रधान मठ का स्थापन करके गुरु द्वारा आरम्भ किए हुए महान कार्य को काफी हद तक सफल कर डाला।

कल्याण रामदास के सबसे अधिक विश्वस्त अनुचर थे। उनके गुरुभक्ति की एक आख्यायिका, महाराष्ट्र में प्रचलित है। रामदास बीच-बीच में नाना अभिनव उपायों से अपने शिष्यों एवं भक्तगणों की भक्ति की दृढ़ता एवं आनुगत्य की परीक्षा लिया करते।

एक दिनों उन्होंने शिष्यों को अपने निकट बुलाया। हाथ में एक तलवार लेकर उन्होंने गम्भीर स्वर में कहा, "देखो, आज से कोई प्रातः ध्यान-जप के बाद मुझे प्रणाम न करे। जो करेगा, उसका मस्तक मैं स्वयं काट डालूँगा।" लगता है रामदास किसी भी मनुष्य का साहचर्य सहन नहीं कर पा रहे हैं। सभी

अत्यन्त चिंतित हो उठे। स्वामीजी महाराज से जितना भी संभव है, सभी दूर रहने का प्रयास कर रहे हैं।

कुछेक दिन बाद रामदास ने आश्रम-त्याग किया। शरीर पर मात्र एक कौपीन तथा हाथ में एक तीक्ष्ण तलवार। इसी वेश में उन्होंने समीप के वन में प्रवेश किया। जाते समय वे आदेश दे गये, "सावधान, कोई भी मेरे इस निर्जनवास के समय मेरे सामने आने की चेष्टा न करे, तथा मेरे चरणों का कोई स्पर्श न करे।"

आश्रमवासी गण, भय से स्तब्ध रह गये। कोई भी उनके साथ जाने का साहस संचय नहीं कर पाया। चारों ओर यह संवाद फैल गया कि स्वामी रामदास पागल हो गये हैं। यह बात शीघ्र ही स्वामीजी के शिष्य, डोमगाँव के महन्थ कल्याण के पास पहुँची। उसी समय वे भागते हुए आश्रम में आये। कहा, "ये कैसी बात है? स्वामीजी महाराज अकेले जंगल में निवास कर रहे हैं, और तुम में से कोई उनके साथ नहीं गया? हमलोगों के रहते क्या उनके सेवा की व्यवस्था नहीं होगी? ठीक है, तुमलोग नहीं जाओगे तो मैं ही वहाँ जाऊँगा।"

"परन्तु भाई, नंगी तलवार लेकर स्वामीजी वन में घूम रहे हैं। किसी के प्रणाम करने जाने पर निश्चितरूप से उसका सिर कट जायगा।" एक आश्रम-वासी ने सतर्क कर डाला।

कल्याण ने उत्तर दिया, "ठीक ही तो है, गुरु महाराज की सेवा में अग्रसर होने पर यदि उनके हाथ से मेरा प्राण भी चला जाय, यह तो मेरे लिए परम सौभाग्य की बात है।"

कल्याण, आत्म-बलिदान के लिए प्रस्तुत हुए। ललाट पर उन्होंने रक्त-चन्दन का लेपन कर डाला, मुँह में पर्णपत्र रख लिया और उसके बाद गुरु के समक्ष हाथ जोड़ कर उपस्थित हुए।

रामदास स्वामी ने सर्वप्रथम रोषपूर्ण नेत्रों से, क्रुद्ध स्वर में कुछ देर तक गर्जन-तर्जन किया तथा बार-बार अपनी तलवार चमकाया। कल्याण निर्विकार रहे। गुरु उन्माद की अवस्था में हों या जैसे भी हों, वे उनके चरणों में प्रणाम निवेदित करेंगे ही और उनकी सेवा में तत्पर होंगे।

क्षण भर में ही रामदास महाराज के क्रोध का अभिनय बन्द हो गया। हाथ की तलवार दूर फेंक कर, उन्होंने परम स्नेह पूर्वक कल्याण का आलिंगन किया। भाव विह्वल स्वर में उन्होंने कहा, "वत्स, तुम्हारे जैसे वीर एवं

आत्मोत्सर्ग के लिए सदा प्रस्तुत शिष्यों की ही मुझे आवश्यकता है। इसके अलावा किस तरह प्रभु रामजी के धर्म-राज्य का स्थापन होगा ?

नीलोपन्त नाम के, रामदास के, एक गृहस्थ शिष्य थे। एकबार परिव्राजन करते हुए स्वामी जी, भक्तों के साथ उनके गृह पर उपस्थित हुए। उस समय नीलोपन्त ग्राम के बाहर किसी कार्यवश गये हुए थे। उनकी पत्नी नीरू बाई हड़बड़ा कर उठीं। स्वामी जी तथा उनके साथियों के लिए जल्दी-जल्दी कुछ भोजन की व्यवस्था करनी होगी। इस क्षेत्र में कई दिनों तक वर्षा तथा तूफान चलता रहा है, इसलिए घर में जलाने लायक लकड़ी का एक टुकड़ा भी अवशिष्ट नहीं है। स्वामी जी को भी अधिक समय तक बिठाये रखना संभव नहीं हो सकेगा, क्योंकि अभी वे आगे जाने के लिए जल्दी मचाये हुए हैं।

नीरू बाई के मस्तिष्क में जलावन का एक विकल्प उपस्थित हुआ। तुरत उन्होंने अपना बक्स खोलकर सभी कपड़े, साड़ी एवं मूल्यवान शाल इत्यादि का ढेर लगा दिया और चुल्हे में झोंक दिया। जलावन के रूप में इन सब वस्तुओं का व्यवहार करके उन्होंने परमानन्दपूर्वक स्वामीजी के आहार की व्यवस्था की।

थोड़ी ही देर बाद नीलोपन्त घर वापस आये। स्वामीजी महाराज को अपने घर पर देख कर उनके आनन्द की सीमा नहीं रही। विदा के समय, स्वामी-स्त्री दोनों ही भक्तिपूर्वक गुरु के चरणों में प्रणाम निवेदित कर रहे हैं, उसी समय रामदासजी ने प्रसन्न स्वर में कहा, "नीलो पन्त, तुम भाग्यवान हो क्योंकि ऐसी साध्वी स्त्री तुम्हारे घर में है। अन्दर जाकर देखो, माताजी, नीरु बाई ने मेरे लिए आहार तैयारी करने हेतु, तुम्हारे सारे मूल्यवान कपड़ों को जला डाला है। इससे लाभ ही हुआ, प्रपंच की माया कुछ कट गयी है।"

नीलो पन्त बहुत खुश हैं। हाथ जोड़कर उन्होंने कहा, "सहस्रों भक्त शिष्य आपकी सेवा हेतु अपना शरीर न्योछावर कर रहे हैं, प्रभु ! नीरु बाई ने उनकी तुलना में ऐसा क्या किया है ? जाने से पूर्व आप हमलोगों को आशीर्वाद दीजिए। आपका आशीर्वाद ही हमलोगों के लिए परम पाथेय हो।"

झोली से रामदास ने एक नारियल निकाल लिया। नीलो पन्त के हाथों में उसे देते हुए कहा, "वत्स लो, यह रहा मेरा आशीर्वाद। मैं जानता हूँ कि बहुत दिनों से तुमलोग संतान सुख से वंचित हो। मैं वर देता हूँ कि माताजी, नीरु बाई की गोद में एक पुत्र का आविर्भाव होगा। उसकी प्रभु रामजी के प्रति अचला भक्ति होगी।"

इसके बाद अपने साथियों के साथ, स्वामीजी महाराज धीरे-धीरे वहाँ से चल पड़े। यथासमय नीरु बाई को एक पुत्र-संतान का लाभ हुआ। उत्तरकाल में यही पुत्र रामदास महाराज से दीक्षा-लाभ करके धन्य हुआ।

कल्याण के गुरुभक्ति की एक और कहानी प्रचलित है। एक बार रामदास महाराज ने स्थिर किया कि वे कुछ दिनों के लिए एकांतवास में जाएँगे और एक निगूढ़ साधना वहीं शेष करेंगे। नदी के उस पार एक विशाल वन फैला हुआ है। इसी के एक कोने में पर्णकुटीर बनाकर स्वामीजी ध्यानस्थ हुए।

कुछेक दिनों बाद डोमगांव से कल्याण वहाँ आकर उपस्थित हुए। गुरुदेव के संकल्प की बात सुन कर वे अत्यन्त चिंतित हुए। उन्होंने सोचा कि एकांत में उनका साधन भजन तो ठीक ही चल रहा होगा, परन्तु उनके दैनिक आहार की व्यवस्था क्या होगी? इसके लिए निश्चितरूप से वे कष्ट पा रहे होंगे।

कल्याण ने स्थिर किया कि आज से कुछ दिनों तक वे नित्य एक बार, नदी के उस पार, स्वामीजी के ध्यान कुटीर तक जाएँगे और नित्य का भोजन देकर चले आवेंगे।

पिछले दिन रात को इस क्षेत्र में वर्षा का जल फैल गया था। आश्रम के सामने स्थित मैना नदी इसी कारण प्रबल वेगवती हो उठी थी और उसकी धारा भी बड़ी तीव्र हो गयी थी। गुरु के समर्पित शिष्य कल्याण भी दम लेने वाले नहीं थे। आहार के पात्र को उन्होंने माथे पर बांध लिया। उसके बाद, 'जयजय रघुवीर, जय समर्थ रामदास स्वामी' कहते हुए वे वर्षाप्लावित नदी-गर्भ में कूद पड़े। उस पार जाकर काफी खोज-बीन करने के बाद उन्हें गुरुजी के आश्रम का संधान मिला, और सामने ही खड़े होकर उन्होंने गुरुजी को भोजन कराया। रामदासजी के अरण्यवास के समय, प्रत्येक दिन कल्याण को इस वेगवती, विपज्जनक नदी को तैर कर पार करना होता।

हनुमन्त स्वामी के 'रामदास चरित' में समर्थ रामदास स्वामी के अनेक योग-विभूतियों का वर्णन है। इनमें एक से, प्रधान शिष्य कल्याण के संबंध में है।

एक दिन गम्भीर रात्रि तक स्वामी जी महाराज ने अनेक अभंग पदों की रचना की। शिष्य-सेवकों में से अनेक उस समय निद्रा से अभिभूत थे। पान तथा सुपारी चबाने का अभ्यास उन्हें बराबर से ही था। सेवकों को पुकार कर उन्होंने कहा, "देखो तो, कोठरी के भीतर पान-सुपारी है या नहीं। थोड़ा चबाये बगैर अच्छा नहीं लग रहा है।"

तलाश करने पर देखा गया कि सुपारी तो प्रचुरमात्रा में थी, परन्तु पान एक भी नहीं था। "पान के वगैर मात्र सुपारी किस तरह खायी जा सकती है—" यह कहते हुए रामदास ने काफी बवाल मचा दिया।

इतनी रात को पहाड़ पर पान कहाँ से मिल पायगा? यदि उसे लाना ही है तो नीचे उतर कर गाँव में जाना होगा। संभव है, वहाँ किसी गृहस्थ के घर में मिल जाय। सेवकगण एक-दूसरे का मुंह देखने लगे, परन्तु कल्याण उसी समय उठकर खड़े हो गये। हाथ जोड़कर उन्होंने कहा, "प्रभु, आप कुछ समय तक प्रतीक्षा करें। मैं नीचे के गाँवों से पान ले आता हूँ।"

इतनी बात कहते हुए अंधेरे पहाड़ी रास्ते पर वे द्रुतगति से उतरने लगे।

कुछेक मिनटों के अन्दर ही कल्याण की आर्त्त चीत्कार सुनायी पड़ी। एक बिलकुल काले केवट सांप पर पैर पड़ते ही उसने कल्याण को डस लिया था। रामदास तथा शिष्य एवं सेवकगण, मशाल लेकर उसी क्षण उधर दौड़ पड़े। सर्प-दंश से पीड़ित, कल्याण उस समय जमीन पर लेट रहे थे। चेहरे पर असह्य वेदना की छाप थी। मुंह से अविराम फेन निकल रहा था।

रामदास, शिष्य के सम्मुख बैठ गये। अस्फुट स्वर में मंत्र उच्चारण करते हुए वे बार-बार कल्याण के शरीर के ऊपर हाथ फेरने लगे। उसके बाद स्नेहपूर्ण स्वर में उन्होंने कहा, "वत्स कल्याण, अब उठो, उठो।"

थोड़ी ही देर में कल्याण आँखें खोलकर देखने लगे तथा धीरे-धीरे उठ बैठे। वाह्य ज्ञान वापस आते ही वे फिर गुरु महाराज के लिए पान लाने को उद्यत हुए।

प्रशंसा भरी दृष्टि से शिष्य की ओर देखते हुए गुरुजी ने कहा, "वत्स, अब तुम्हें कहीं नहीं जाना होगा। अब आश्रम वापस चलो।"

रास्ता चलते-चलते एक तरुण शिष्य ने मृदु स्वर में पूछा, "इतनी गंभीर रात्रि में, इस तरह अकेले चले आना कल्याण के लिए उचित नहीं था।"

रामदास स्वामी ने हँसते हुए उत्तर दिया, "देखो, जो भी घटा है, रामजी की कृपा से ही घटा है। हम सभी निमित्त मात्र हैं। रामजी ने मुझे इंगित किया था कि कल्याण की आयु अब शेष है।"

"यह क्या प्रभु, इतना जानकर भी आपने इस अंधकार में वन के रास्ते पर उन्हें जाने दिया?" एक सेवक ने विस्मयपूर्वक प्रश्न किया।

"सर्पाघात से ही उसका जीवन शेष होना था। अभी ईश्वर के कार्य में उसे और बहुत कुछ करना है। इसीलिए पान-सुपारी के लिए मैंने बवाल मचा कर उसे रास्ते पर भेज दिया। काल सर्प उसे दंशित करेगा, यह मैं जानता था। मेरे पास रहते हुए, यह दुर्घटना हो गयी, यह अच्छा ही हुआ। रामजी की कृपा से उसे बचाने में सफल हुआ।"

रामदास स्वामी के विशिष्ट जीवनीकार भीम स्वामी शिरगाभकर ने एक मनोरम आख्यायिका का वर्णन किया है :—

एक बार वाराणसी के एक प्रख्यात पंडित घूमते-घूमते महाराष्ट्र पहुँचे। ये शास्त्रार्थ में मँजे हुए थे, तथा जहाँ भी जाते, उत्साहपूर्वक साधुओं का तर्कयुद्ध के लिए आह्वान करते। इनमें आत्मविश्वास प्रचुर था। सर्वदा वे गले में यज्ञोपवीत के साथ ही एक तेज धार की छुरी लटकाये रहते। उसे दंभपूर्वक सभी को दिखला कर कहते, "शास्त्र विचार में जब भी मुझे कोई परास्त करेगा, उसी समय उसके सामने ही इस छुरी से अपने हाथ से अपनी जिह्वा काट डालूँगा।"

महाराष्ट्र में सर्वत्र घर-घर में उन दिनों रामदास स्वामी का 'दास बोध' पढ़ा जाता था। स्वामीजी की विद्वत्ता एवं साधन-विभूति की प्रसिद्धि की बात भी नवागत पंडित सुन चुके थे। एक दिन वे दल-बल सहित छाफल आकर उपस्थित हुए। उन्होंने संवाद भेजा कि वे अविलम्ब स्वामी जी के साथ तर्कद्वन्द में अवतीर्ण होना चाहते हैं।

रामदास ने अविलम्ब अपने शिष्यों से कहा, "जाओ, जाओ, अभी तुम लोग इन महात्मा को सम्मानपूर्वक आश्रम में ले आओ। मशाल एवं वाद्य भाण्ड साथ लेना न भूलना। वाराणसी के इतने बड़े पंडित! देखो, किसी तरह भी उनकी मर्यादा भंग न हो।"

आडंबर पूर्वक शोभा यात्रा निकाल कर वाराणसी के तर्क शूर को आश्रम लाया गया। रामदास स्वामी ने स्वयं आगे बढ़कर उनकी अभ्यर्थना एवं अभिवादन किया। परन्तु स्वामी जी के अभिवादन की ओर पंडित जी ने कोई ध्यान भी नहीं दिया। दर्प पूर्ण स्वर में उन्होंने कहा, "मेरा समय अत्यन्त मूल्यवान है। अधिक विलम्ब न करके आप मेरे प्रश्नों का उत्तर दें, यदि आप उसमें समर्थ हों।"

रामदास ने मुस्कराते हुए कहा, "विद्या ही वही परम वस्तु है, जो हृदय कोटर को आलोकित करता है। फिर भी शास्त्रों में पारंगत होकर भी आप ऐसे अंधकार में क्यों डूबे हुए हैं?"

क्रोध से पंडित के दोनों नेत्र प्रज्वलित हो उठे, चीखते हुए उन्होंने कहा, "तुम्हारा इतना औद्धत्य ? यहाँ किसके समक्ष खड़े होकर तुम बात कर रहे हो, जानते हो ?"

"पंडितवर, अच्छी तरह जानता हूँ। अब आप कृपा करके अपने शास्त्र तत्वों के प्रश्नों का उत्थापन करें। यथा संभव सभी उत्तर आपको अभी मिलेंगे।" रामदास ने सविनय निवेदन किया।

क्रुद्ध, उत्तेजित पंडित ने अपने प्रश्न वाणों का निक्षेप किया। साथ ही साथ स्वामी रामदास ने अपनी एक योग-विभूति का प्रदर्शन किया। बहुत से लोग उनके सामने भीड़ लगाये थे। इसी भीड़ में से एक निम्न श्रेणी के अर्ध शिक्षित व्यक्ति को रामदास ने पास बुलाया। कुछ देर तक अपलक उसकी ओर दृष्टि निबद्ध करके उन्होंने उसके भीतर शक्ति-संचालन किया। उसके बाद उन्होंने दृढ़ स्वर में निर्देश दिया, "वत्स, पंडितजी के सभी शास्त्रीय प्रश्नों का यथा संभव उत्तर तुम दे डालो।"

सभी के समक्ष एक अविश्वसनीय काण्ड घट गया। अर्धशिक्षित व्यक्ति के मुख से अविरल धारा प्रवाह जैसे नाना शास्त्रों के दुरुह तत्वों का व्याख्या, विश्लेषण निःसृत होने लगा। वाराणसी के पंडित महाराज विस्मय से हत्वाक हो उठे। इस अवधि में उन्हें स्पष्ट हो गया था, कि रामदास एक सिद्ध महात्मा हैं। अलौकिक प्रज्ञा तथा अलौकिक शक्ति के वे अधिकारी हैं। ऐसे व्यक्ति के समक्ष विद्या का दम्भ प्रदर्शित करके उन्होंने भयानक भूल की है।

रामदास के चरणों में प्रणत होकर वे बार-बार क्षमा की भिक्षा माँगने लगे तथा अपनी जिह्वा काटने के लिए भी उद्यत हुए।

यज्ञोपवीत से झुलती हुई छुरी को तुरत दूर फेंकते हुए रामदास जी ने पंडित से कहा, "पंडितवर, आपको मैंने बहुत पहले ही क्षमा कर दिया है। स्मरण रखेंगे कि आपकी जिह्वा, आपका शरीर, सभी रामजी का ही है। अगर इसका छेदन ही करना है तो वे स्वयं करेंगे। आपके देह-मन-आत्मा किसी पर भी तो आपका अधिकार नहीं है। अच्छा ही हुआ, आपका दम्भ नष्ट हो गया। अब यथार्थ विद्या आपके आधार में आ गयी है।"

इन पंडित ने इसके बाद दीन भाव से रामदास का शिष्यत्व ग्रहण किया। वाराणसी वापस जाते समय, आग्रहपूर्वक रामदास की रचना, दास बोध की एक प्रतिलिपि अपने साथ लेते गये।

सिद्ध पुरुष के रूप में उस समय रामदास की ख्याति सर्वत्र थी, इसके अलावा एक सुसंबद्ध भक्तिवादी संप्रदाय के नेता के रूप में भी पूरे महाराष्ट्र में

उनकी प्रचुर मर्यादा थी। इन्हीं दिनों एक शुभलग्न में राजा शिवाजी भोंसले का रामदास के साथ मिलन हुआ। यह मिलन मणिकांचन के संयोग जैसा ही था। रामराज्य, धर्मराज्य, स्थापन का जो स्वप्न रामदास इतने दिनों से देखते आ रहे थे तथा जिस स्वप्न को रुपायित करने हेतु उन्होंने जीवन का उत्सर्ग किया था, उसी महान ईश्वरीय कर्म के धारक एवं वाहक हुए राजा शिवाजी। इन दोनों के मिलन से सारे महाराष्ट्र में आत्मिक शक्ति एवं क्षात्रशक्ति की युग्म धारा प्रवाहित हुई। समग्र भारत में इसका दूर प्रसारी प्रभाव पड़ा। एक एवं अखण्ड धर्मराज्य के परम संभावना की आशा देश में दूर-दूर तक फैल गयी।

शिवाजी के अभ्युदय की ओर स्वामी रामदास की दृष्टि सर्वदा निबद्ध थी। वे इससे अनभिज्ञ नहीं थे कि औरंगजेब का नगण्य 'पार्वत्य मूषक' शिवाजी भोंसले धीरे-धीरे एक दृढ़ मूल स्वाधीन राज्य की बुनियाद डाल चुका है। मात्र इतना ही नहीं, इस राज्य में धर्मकृत्य हों, एवं वह उच्चादर्श से अनुप्राणित हो उसके लिए उनके व्याकुलता की सीमा नहीं थी। अंतर से रामदास स्पष्ट रूप से समझ गये थे कि शिवाजी को उनकी सहायता लेनी ही होगी, तथा उनके पास आना ही होगा। परन्तु अभी नहीं, और कुछ समय तक रामदास को अपेक्षा करनी होगी। लग्न समागत होते ही शिवाजी आकुलता पूर्वक दौड़कर चले आवेंगे और रामदास का परमाश्रय ग्रहण करेंगे।

सैन्यबल एवं राज्य परिधि के विस्तार के साथ-साथ शिवाजी भोंसले के अंतर में भी परम कल्याण की भावना जग पड़ी थी, तथा आत्मिक उज्जीवन के लिए वे व्यग्र हो उठे थे। जब भी वे किसी साधु-महात्मा का संधान पाते, श्रद्धा पूर्वक उनके दर्शन करते तथा यथा साध्य सेवा-परिचर्या भी करते। साधारण साधु-संन्यासी से लेकर पंढ़रपुर के साधु तुकाराम जी का साहचर्य, किसी को भी शिवाजी ने नहीं छोड़ा। किन्तु अबतक उन्हें आत्मिक संधान एवं चिह्नित सद्गुरु का संधान नहीं मिल पाया था।

रामदास स्वामी के आदर्श एवं संगठन की नाना सूचनाएँ शिवाजी को मिल चुकी थी। उनके माहात्म्य तथा योगैश्वर्य की ख्याति भी उनके लिए अज्ञात नहीं थी। इन महापुरुष का आश्रय ग्रहण करने हेतु उनका अंतर अत्यन्त व्याकुल हो उठा था। रामदास उन दिनों किसी मठ में स्थायी रूप से निवास नहीं करते थे, वरन् स्वेच्छापूर्वक घूमते फिरते रहते। इसीलिए किस तरह और कहाँ महात्मा का दर्शन हो सकेगा, शिवाजी बीच-बीच में विचार करते रहते।

शिवाजी के एक कर्मचारी नरसोमल्ल नाथ ने खबर दी कि स्वामीजी इन दिनों छाफल के मठ में निवास कर रहे हैं। कुछ अंगरक्षकों को साथ लेकर

शिवाजी तुरत वहाँ के लिए रवाना हो गये। परन्तु महात्मा से साक्षात् नहीं हो पाया। उन्हें ज्ञात हुआ कि रामदास स्वामी वह स्थान त्याग करके कहीं अन्यत्र चले गये हैं।

छाफल का मठ छोटा होते हुए भी अत्यन्त मनोरम था। शिवाजी ने साधुओं से जिज्ञासा की, यह सुन्दर मठ किस तरह तथा किसकी सहायता से निर्मित हुआ है।

साधुओं ने विस्मय पूर्वक कहा, "यह क्या महाराज, क्या आप जानते नहीं हैं, यह आपके द्वारा प्रदत्त धन से तैयार हुआ है। कई वर्ष पूर्व पूना में, आपके पुरोहित के घर गिरि गोसाबी नासिरकर नामक एक कीर्तनियाँ रामलीला कीर्तन कर रहे थे। कीर्तन से प्रसन्न होकर आपने उन्हें कुछ अर्थदान करने की इच्छा प्रकट की थी। ये कीर्तनियाँ रामदास महाराज के एक परम भक्त थे। उन्होंने अनुरोध किया कि महाराज द्वारा प्रदत्त यह धन रामदास स्वामी जी को ही छाफल के राममंदिर के निर्माण हेतु दे दिया जाय। यही तो वह मंदिर है। आपकी सरकार से तीन सौ स्वर्ण मुद्राएँ इस पवित्र कार्य के लिए मिलीं थी।"

इस संवाद को सुनकर शिवाजी रुष्ट हुए। मंदिर क चारों ओर घूमकर उन्होंने देखा कि नदी की तीव्र धारा इसकी भित्ति की ओर अग्रसर होती जा रही है। सरकारी अधिकर्ता को बुलाकर, उन्होंने उसी समय हुक्म दिया, "किसी उपाय से इस नदी की स्रोत धारा को घुमा डालो जिससे स्वामी जी के इस मंदिर की रक्षा हो। इसके लिए अर्थव्यय में कार्पण्य करने की आवश्यकता नहीं है।"

निर्देश के अनुसार कार्य संपन्न होने में विलम्ब नहीं हुआ। फलस्वरुप छाफल का यह मंदिर ध्वस्त होने से बच गया।

शिवाजी की सारी बातें रामदास स्वामी के पास यथासमय पहुँची ! इसके कुछ दिन बाद शिवाजी एक धर्मानुष्ठान में योग देने के लिए माहुली गये हुए थे। वहीं एक शुभ मुहूर्त्त में रामदास स्वामी का एक छोटा पत्र उन्हें मिला। इस पत्र को पाते ही राजा विह्वल हो गये और उन्होंने तुरत महात्मा को उत्तर दिया :

"हे महातापस, मैं आपके चरणों में अपराधी हूँ। आपके हृदय में असीम करुणा है। आपकी आशीष-पूत लिपि ने मुझे भरपूर, परम आनन्द दिया है। किस भाषा में मैं उनका वर्णन करूँ ? आपने कृपा करके मेरा गुणगान किया है, परन्तु मैं जानता हूँ कि मैं उसके लिए सर्वथा उपयुक्त नहीं हूँ। बहुत दिनों

से आपके दर्शनों का अभिलाषी हूँ, और सुयोग पाते ही आपके समक्ष उपस्थित हो सकता हूँ। हे प्रभु, क्या आप मुझे ग्रहण करेंगे ? मेरी प्यास क्या मिटायेंगे ?"

इस पत्र को भेजने के बाद दूसरे ही दिन शिवाजी अपने अंगरक्षकों के साथ छाफल आये। वहाँ जाने पर ज्ञात हुआ कि रामदास महाराज उस समय सिगन-वाड़ी में निवास कर रहे हैं। मठ के साधुओं ने उनसे कहा, "महाराज, इस समय स्वामीजी के पास आपका जाना ठीक नहीं होगा। कारण, इन दिनों वे हनुमान जी के मंदिर में एक विशेष पूजा के अनुष्ठान में व्यस्त हैं। पूजा-अर्चना की समाप्ति पर स्वामीजी अपने हाथों से अनेक भोगराग प्रस्तुत करेंगे। उसके बाद मारुतिनंदन को उसे निवेदित कर सूर्यास्त के पश्चात् वे प्रसाद ग्रहण करने हेतु बैठेंगे। अच्छा होता, आप उनसे किसी दूसरे दिन साक्षात् करने की चेष्टा करते।"

शिवाजी ने यह बात नहीं मानी। कहा, "हृदय अत्यन्त व्याकुल हो गया है। अधिक धैर्य धारण करना अब मेरे लिए संभव नहीं हो पा रहा है। इसके अलावा आज तो वृहस्पतिवार-गुरुवार है। इसी शुभ दिन में मैं स्वामीजी के दर्शन करूँगा।"

रक्षीदल को पीछे रखकर वे जल्दी-जल्दी अग्रसर हुए। दो व्यक्तियों को साथ लेकर वे सिगन-वाड़ी के मठ में उपस्थित हुए तथा रामदासजी के चरणों में लोट पड़े।

रामदास स्वामी के हाथों में उस समय भी शिवाजी का सद्य: प्राप्त पत्र पड़ा था। प्रसन्न मधुर कण्ठ से उन्होंने कहा, 'राजा, आप आवेंगे यह तो मुझे ज्ञात था। परन्तु क्या मैं पूछ सकता हूँ कि साक्षात्कार के लिए आप इतने व्यग्र थे, फिर और पहले ही आपसे भेंट क्यों नहीं हुई ?"

"मैं अभागा हूँ, इसीलिए अभिलाषा रहने पर भी इतने दिनों तक आपके दर्शन से वंचित था। प्रभु, अनिच्छापूर्वक जो यह त्रुटि हो गयी है, उसके लिए मुझे क्षमा करेंगे। अब जब कि मुझे आपके दर्शन मिल ही गये हैं, मुझे अपने से दूर रखने की चेष्टा न करेंगे। मुझे दीक्षा दान करके शीघ्र मेरा उद्धार करें।"

शास्त्रीय विधान के अनुसार दीक्षा अनुष्ठान संपन्न हो गया। चैतन्यमय मंत्र ग्रहण के पश्चात् शिवाजी ने सर्वदा के लिए गुरु महाराज के चरणों में आत्मसमर्पण कर दिया। यह शुभ दिन १६४९ ई० में था जो कि रामदास

एवं शिवाजी के मिलन का दिन था। महाराष्ट्र की धर्म-संस्कृति के इतिहास में यह सर्वदा स्मरणीय रहेगा।

गुरुजी के धर्म राज्य स्थापना की परिकल्पना में शिवाजी का अवदान यथेष्ठ है। इस परिकल्पना की पृष्ठभूमि में स्वामी रामदास की आध्यात्मिक-शक्ति थी, तथा शिवाजी ने अपने क्षात्र-तेज तथा अर्थ-बल का उत्सर्ग किया था। शिष्यत्व ग्रहण करने के पश्चात् शिवाजी ने नये-नये मठ-मंदिरों की प्रतिष्ठा हेतु अपने राज्य कोषागार को उन्मुक्त कर डाला। इन धर्म केन्द्रों को बड़ी-बड़ी जागीरें देकर, दृढ़ भित्ति पर स्थापित करने में उन्होंने सहायता की। गुरु और शिष्य के इस महान प्रयास ने सारे भारतवर्ष के राष्ट्रीय चेतना एवं धर्मादर्श के समक्ष एक नूतन क्षितिज का उन्मोचन कर डाला, जिसने सहस्रों धर्मप्राण, आदर्शवादी मनुष्यों के हृदय में एक महान भविष्य की ज्योति जगा डाली।

रामदास स्वामी ने एक दिन शिवाजी को एकान्त में बुलाकर कहा, "शिवाजी, अभी तक तुमने एक गुरुत्वपूर्ण कार्य को समाप्त नहीं किया है, अब उसे शेष कर डालो।"

"वह कार्य क्या है प्रभु, आदेश दें। सारी शक्ति लगाकर मैं उसका पालन करूँगा।" हाथ जोड़कर शिवाजी ने निवेदन किया।

"तुम्हारा राज्याभिषेक तो अबतक हुआ नहीं। इस अनुष्ठान को शास्त्रीय विधान के अनुसार संपन्न करना होगा। तुम धर्म राज्य के अधीश्वर हो। मात्र महाराष्ट्र ही नहीं, सारी भारतभूमि तुम्हारी ओर आशा भरी दृष्टि से देख रही है। तुम्हारे इस शासन को शास्त्रीय समर्थन की भित्ति पर मैं खड़ा करना चाहता हूँ। तुम्हारी शक्ति की वास्तविक क्षात्रशक्ति के रूप में गणना हो, यह भी मैं चाहता हूँ। भारत के श्रेष्ठ शास्त्रविद् ब्राह्मण, साधु-महात्मा, समाजनेता एवं जनसाधारण के समक्ष, प्राचीन भारतीय प्रथा से तुम्हारा अभिषेक हो, यही मेरी इच्छा है। पवित्र यज्ञ, होम संपन्न किए जाएँ। अविलम्ब इसका आयोजन करो।"

गुरु का आदेश शिरोधार्य करके, शिवाजी भोंसले, शीघ्र ही इस कार्य के लिए व्रती हुए। काशी धाम में उन दिनों प्रकाण्ड शास्त्रविद् गागा भट्ट की बड़ी ख्याति थी। वेद के कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड, दोनों में ही वे पारंगत थे। उन्हीं को अभिषेक क्रिया के प्रधान आचार्य के रूप में मनोनीत किया गया। भारत में सर्वत्र धर्मसंस्कृति एवं समाज के नेताओं के पास निमंत्रण-पत्र भेजे

गये। समारोह पूर्वक एव शास्त्रोक्त विधान के अनुसार, शिवाजी महाराज का अभिषेक-उत्सव संपन्न हुआ।

सारे कार्य शेष हो चुके हैं और पंडितवर गागा भट्ट एक सप्ताह के अंदर वाराणसी वापस जाने वाले हैं। सहसा एक दिन भट्टजी ने देखा, प्रातः उठ कर शिवाजी भक्तिपूर्वक, सर्वप्रथम मराठी भाषा में लिखित एक धर्म ग्रन्थ का पाठ कर रहे हैं।

"महाराज, इस मराठी पोथी का क्या आप नित्य इस समय पाठ करते हैं ?" भट्ट जी ने प्रश्न किया।

"हाँ, पंडितवर, यह मेरा दैनिक कार्य एवं प्रधानकृत्य है।"

"इस ग्रन्थ का क्या नाम है, तथा यह किसके द्वारा रचित है ? कौन से तत्त्व इसमें हैं, यह मुझे स्पष्ट बताने की कृपा करें।"

"यह ग्रन्थ मराठी में लिखा है, तथा इसका नाम है दासबोध मेरे गुरु, महात्मा रामदास स्वामी, इसके रचयिता हैं।"

"यह तो बड़ी अजीब बात है, महाराज। आप-जैसे विलक्षण, शास्त्र प्रेमी व्यक्ति की ऐसी रुचिहीनता ? आपके लिए तो इस ग्रन्थ का पाठ सर्वथा अशोभनीय है। वैदिक भाषा, संस्कृत भाषा, वही तो हमारे आपके उपयोग के लिए है। वेद-वेदान्त, उपनिषद् सभी को छोड़कर, अंततः आप मराठी 'दास-बोध' लेकर मत्त हो रहे हैं ? छिः।"

महाराज शिवाजी ने सविनय उत्तर दिया, "पंडितवर, इस पोथी के मराठी में लिखे रहने पर भी इसमें सारी बातें हमारे प्राचीन शास्त्रों से ही संकलित की गयी हैं। मेरी धारणा है कि प्रज्ञावान, योगसिद्ध महापुरुष द्वारा रचित यह ग्रन्थ सारी मानवता के कल्याण-साधन में सक्षम है। इसी कारण इसका मैं नित्य पाठ करता हूँ।"

गागा भट्ट शिवाजी की बात सुनकर व्यंगपूर्ण हँसी हंसने लगे, तथा इस प्रसंग को उन्होंने बन्द ही कर दिया।

परन्तु शिवाजी को भट्ट जी की बात विस्मृत नहीं हुई। मन ही मन उन्होंने स्थिर किया कि पंडितवर को शीघ्र समुचित शिक्षा देकर महाराष्ट्र से विदा दी जायगी।

दो दिन बाद ही राजप्रासाद में स्वामी रामदास की एक धर्मसभा का अनुष्ठान हुआ। इस सभा में प्रधान आयोजन था, दासबोध की व्याख्या और रामलीला कीर्तन। गागा भट्ट एवं अन्यान्य बड़े पंडित भी इस सभा में निमंत्रित थे।

सभा शुरू हुई। इष्टनाम तथा इष्टलीला गाते-गाते, स्वामी रामदास दिव्य भाव से उद्दीपित हो उठे। कभी वे हँस रहे हैं, तो कभी रो रहे हैं—मानों यह महाभाव की उत्सारक एक अनिर्वचनीय अवस्था हो। अगणित श्रोता एवं दर्शनार्थी इन कौपीनधारी, सर्वत्यागी महापुरुष की ओर निर्निमेष दृष्टि से देख रहे हैं। उनके भाव-रस की उत्ताल तरंग बार-बार हिचकोले ले रही हैं। रामदास का यह लीला वर्णन मानों जीवन्त हो उठा है। भावविह्वल श्रोताओं के नयनों के समक्ष राम, सीता, लक्ष्मण, भरत और हनुमान एक-एक की मूर्त्ति मानो भास्वर हो उठी है। भाव एवं तत्त्व के मिश्रण से दिव्य लोक का अपूर्व परिमंडल रचित हो रहा है।

गागा भट्ट निर्निमेष दृष्टि से इस भावमय इन्द्रजाल की ओर देख रहे हैं, और हृदय के अंतस्तल से एक अलौकिक स्पन्दन उद्‌गत हो रहा है। किसी तरह पंडित धैर्य धारण किए रहे। उसके उपरान्त सभा शेष होने पर, उन्होंने आवेगपूर्वक स्वामी रामदास को पकड़ लिया। गद्‌गद् कण्ठ से उन्होंने कहा, "स्वामी जी, मैं आपसे क्षमा-भिक्षा की याचना करता हूँ।"

"पंडितवर, ऐसी बातें कहकर मुझे पाप के पंक में न डुबाइये।" स्वामी रामदास ने ये विनयनम्र वचन कहे।

"नहीं स्वामी जी, मैं सचमुच अपराधी हूँ। आप कितने बड़े ज्ञानी तथा कितने बड़े प्रेमिक पुरुष हैं, वह मैं समझ नहीं पाया था। आपका मूल्य समझने में मुझसे भूल हुई थी। आज इस सभा में मैं आपके वास्तविक रूप को समझने में सक्षम हो गया हूँ।"

वाराणसी वापस जाकर भी गागा भट्ट, लम्बी अवधि तक स्वामी रामदास की दिव्योज्ज्वल स्मृति भूल नहीं पाये। इन मराठी साधक के प्रति उनकी श्रद्धा सर्वदा अटूट रही।

रामदास स्वामी के विशिष्ट जीवनीकार भीमस्वामी सिरगाभकर ने स्वामीजी के योग-विभूति की एक अत्यन्त आश्चर्यजनक कहानी वर्णित की है। उन दिनों कई शिष्यों के साथ वे एक गाँव से दूसरे गाँव परिव्राजन कर रहे थे। उस दिन एक गाँव के बाहर वे विश्राम कर रहे हैं। पास ही में एक श्मशान है। सहसा एक सद्यः विधवा की आर्त्त चीत्कार एवं रुलाई स्वामीजी के कानों में पड़ी। रुलाई बड़ी मर्मभेदी थी। जल्दी-जल्दी वे शिष्यों के साथ श्मशान की ओर चल पड़े। जाने पर देखा, स्थान लोगों से खचाखच भरा हुआ है—ग्राम के पटेल की मृत्यु हो गयी है। शव तुरत ही लाया गया है। पटेल के स्त्री का ललाट सिन्दूरलिप्त है और शरीर पर लाल किनारी की एक नई साड़ी

है। स्वामी की मृत देह के साथ वे सती होने को प्रस्तुत है। शास्त्रीय विधान शेष हो जाने के बाद वे चिता पर आरोहण करेंगी। सद्यः विधवा इस अवधि में फूट पड़ीं। स्वामी के मृत देह को पकड़ कर वे विलाप कर रही थीं।

अत्यन्त मार्मिक दृश्य था। असहाया विधवा के क्रन्दन से रामदास स्वामी का हृदय विगलित हो गया, तथा क्षणभर में ही उनका करुणाघन रूप प्रकाशित हो गया। अग्रसर होते हुए, उन्होंने कहा, "माई, तुम शान्त हो जाओ। कोई भय नहीं है, रामजी की कृपा से तुम्हारे स्वामी के प्राण फिर लौट आवेंगे।"

थोड़ी देर तक रामदास, शव के पास ध्यान-निमीलित नेत्रों से बैठे रहे। उसके बाद कमण्डल से उन्होंने एक अंजुलि पवित्र जल छिड़क दिया। साथ-ही-साथ एक अद्भुत दृश्य दृष्टिगोचर हुआ। धीरे-धीरे, मृत पटेल ने आँखें खोल दीं।

जनता उत्फुल्ल होकर, रामदास को घेर कर, खड़ी हो गयी, तथा स्वामीजी के शिष्यगण बार-बार जयध्वनि—जय-जय समर्थ रघुवीर—जय-जय समर्थ रामदास उच्चरित करने लगे।

पटेल की स्त्री स्वामीजी के दोनों पैरों से लिपट गयी। सजल नेत्रों से वह विनती करने लगी, 'प्रभु, जब आपने एक बार दया कर ही डाली, फिर इस दासी का उद्धार भी आपको ही करना होगा। मेरे स्वामी को तथा मुझे आप दीक्षा प्रदान करने की कृपा करें। आपके परमाश्रय में रहकर जीवन के शेष दिन हमलोग रामजी के नाम-जप में व्यतीत कर लें, यही कामना है।

रामदास ने प्रशांत स्वर में कहा, "परन्तु माँ, मैं तो प्रस्तुति के बिना किसी को दीक्षा नहीं देता। मेरे पैर छोड़कर, शान्ति से उठ बैठो। मुझे आवश्यक कार्य हैं, और मुझे अभी जाना होगा।

"प्रभु, प्रस्तुति किसे कहते हैं, मैं नहीं जानती। परन्तु मेरी अन्तरात्मा पुकार-पुकार कर कह रही है कि आप ही मेरे उद्धारकर्ता हैं। ठीक है, आप जा रहे हैं तो जायँ। मैं बाधा नहीं दूंगी। परन्तु इतना बतला देती हूँ कि आज से मैंने आमरण उपवास व्रत ग्रहण किया। जितने दिन भी बच सकूँगी, प्रभु रामजी के ध्यान में ही काट दूँगी। यदि मैं वास्तविकरूप में सती होऊँगी तो आपको मेरा उद्धार करने के लिए फिर आना ही होगा।"

इसके बाद रामदास स्वामी दूसरी जगह चले गये। किन्तु भक्तिमती पटेल की स्त्री का संकल्प फिर उन्हें इस ग्राम में खींच ही लाया। एक मास बाद आकर उन्होंने पटेल तथा उसकी स्त्री को दीक्षा-दान किया।

अपने जन्म-दिन पर शिवाजी महाराज रामदासजी का आशीर्वाद प्राप्त करने हेतु छाफल मठ आये हुए हैं। गुरु के लिए साथ में कई मूल्यवान अंगरखे तथा शाल लाये हैं।

प्रणाम तथा कुशल-प्रश्न के पश्चात् दोनों अनेक विषयों की चर्चा कर रहे हैं। विशिष्ट भक्त तथा शिष्यगण आसपास खड़े हैं। सहसा शिवाजी ने लक्ष किया कि गुरुदेव के शरीर पर उत्तरीय, कौपीन सभी बिलकुल भींगे हुए है। लगता है जैसे वे तुरत नदी में स्नान करके वापस आये हैं। सेवकगण विस्मय से अवाक् रह गये। स्वामीजी तो स्नान-तर्पण सूर्योदय से बहुत पहले ही समाप्त कर चुके हैं। उसके बाद वे सूखा अंगरखा तथा कौपीन सेवकों से लेकर धारण कर चुके ; फिर कैसे उनके वस्त्र इस तरह जल से भींग गये ?

कौतूहलपूर्वक शिवाजी ने प्रश्न किया, "प्रभु इसका रहस्य तो बतला देने का कष्ट करें कि कहाँ से नदी का जल आपके सूखे वस्त्रों को भिगा गया ?"

"नहीं महाराज, यह नदी का जल नहीं है। यह सब समुद्र के जल से भींग गया है। यह देखिये।" मुस्कराते हुए रामदासजी ने महाराज के अंजलि में उत्तरीय से थोड़ा जल निचोड़ दिया।

यह जल मुंह में डालते ही शिवाजी चौंक पड़े। यह तो बिलकुल नमकीन है। यह नदी का जल नहीं हो सकता, समुद्र का ही जल है।

प्रश्नसूचक दृष्टि से गुरु की ओर देखते हुए; देखकर स्वामीजी ने कहा, "आज की तारीख तुम ठीक से याद रखना। ठीक पन्द्रह दिनों बाद इस सागर के जल का रहस्य उन्मोचित होगा। उस समय आश्रम में आने पर सारी गुत्थियाँ सुलझ जाएँगी।"

निर्धारित दिन पर शिवाजी फिर आकर छाफल में उपस्थित हुए। उन्होंने देखा, एक धनी वणिक स्वामीजी के साथ बैठ कर एकान्त में बातचीत कर रहे हैं। शिवाजी को देखते ही गुरु ने स्नेहपूर्वक उन्हें पास बुलाया। मुस्कराते हुए उन्होंने कहा, "महाराज, उस दिन के समुद्र के जल का भेद आज मेरी समझ में आया। ये हैं राजापुर के मुंजेजी, मेरे एक आश्रित शिष्य। इनके ही मुख से सारी बातें सुनें।"

मुंजे अबतक जो कहानी स्वामीजी से कह रहे थे, उसी की पुनरावृत्ति उन्होंने शिवाजी के समक्ष आरंभ की। महाराष्ट्र के तटीय व्यापार के एक विशिष्ट एवं प्रधान वणिक हैं ये मुंजे। पन्द्रह दिन पूर्व वे अपने माल से भरे जहाज को लेकर समुद्र के मार्ग से जा रहे थे। अकस्मात् तूफान के चपेट में आकर

जहाज डूबने लगा। मुंजे इस समय गुरुदेव रामदास जी को स्मरण करके चीख-चीख कर पुकारने लगे और अपने धन तथा प्राणों की रक्षा के लिए प्रार्थना करने लगे। इसी समय जहाज के मस्तूल के ऊपर ज्योतिर्मय मूर्त्ति में समर्थ रामदास स्वामी का आविर्भाव हुआ। वराभय दान कर उन्होंने शिष्य को आश्वस्त किया। क्षण भर में तूफान का वेग कम होने लगा तथा समुद्र शांत हो गया। मुंजे का दृढ़ विश्वास है कि गुरु महाराज की करुणा के बल से ही वे इस यात्रा में बच सके हैं तथा भरा हुआ जहाज भी डूबने से बच गया है। हर बंदर पर माल उतारने के बाद मुंजे कल ही देश में वापस आये हैं तथा आज स्वामीजी के चरणों के दर्शन हेतु आये हुए हैं।

शिवाजी को प्रश्न करने पर विदित हुआ, कि एक पक्ष पूर्व जिस तारीख को तथा जिस समय स्वामी रामदासजी के वस्त्र उन्होंने भींगे हुए देखे थे, ठीक उसी समय वणिक का जहाज सागर की उत्ताल तरंगों में विपत्ति में पड़ गया था।

शिवाजी के जीवन में यह चरम साफल्य का काल था। मुगलों के हाथ से वे एक के बाद एक दुर्ग छीनते जा रहे थे तथा राज्य की सीमा बढ़ती चली जा रही थी। सैन्यबल तथा अर्थबल भी प्रचुर हो गया था। परन्तु छत्रपति शिवाजी को यह सांसारिक समृद्धि विभ्रान्त नहीं कर पायी। वरन् धर्म राज्य की नींव डालने में वे और अधिक तत्पर हो उठे, तथा गुरु रामदास स्वामी का परमाश्रय अपने दृढ़ हाथों से पकड़े रहने में तत्पर रहे। स्वामी जी को भी विश्वास था कि जिस ईश्वरीय कार्य का भार उन्होंने ग्रहण किया है, उसके प्रधान सहायक शिवाजी ही हैं। इसी कारण शिवाजी के जीवन को अध्यात्म-रस से सिंचित करने में वे सर्वदा सचेष्ट रहे। अनेक आशाओं के साथ, एवं सर्वदा सतर्क दृष्टि से, वे इस राज-शिष्य के क्रयाकलापों पर दृष्टि लगाये रहे।

एक बार पदयात्रा करते हुए रामदास स्वामी सतारा आये हुए हैं। शिवाजी उन दिनों राजधानी के दुर्ग में ही निवास कर रहे हैं, परन्तु गुरुजी के आगमन की सूचना उन्हें नहीं मिल सकी थी। रामदास जी ने यह निश्चय कर लिया था कि अन्य शिष्यों के साथ कुछ दिनों का समय व्यतीत करके वे शिवाजी महाराज को दर्शन देंगे।

पैदल परिव्राजन करना एवं मधुकरी– दोनों ही स्वामी रामदास को अत्यन्त प्रिय थे। सतारा आकर वे घर-घर जाकर नित्य भिक्षान्न संग्रह करते।

शिवाजी दुर्ग की बारादरी में बैठे, अनुचरों के साथ विचार-विमर्श कर रहे थे। सहसा उनकी दृष्टि निकट के मुहल्ले के एक दरवाजे पर पड़ी। देखा कि, गरुजी, रामदास स्वामी हाथ में भिक्षा पात्र लेकर वहाँ खड़े हैं।

वे तुरत चिंतित हो उठे। यह कैसा अद्भुत काण्ड है! राज्य का अधीश्वर जिसका शरणागत एवं विश्वस्त सेवक है, वे ही राजगुरु, महासमर्थ रामदास स्वामी, राज्य में घर-घर घूमकर, दीन-कंगाल के वेश में, भिक्षान्न से जीवन धारण करेंगे? शिवाजी, अब किसी तरह ऐसा नहीं होने देंगे।[1]

उन्होंने अपने विश्वस्त अनुचर, बालाजी, को बुलाकर उसी समय उनके हाथों में एक पत्र दिया। कहा, "गुरुजी भिक्षा की झोली लेकर रास्ते पर निकल पड़े हैं, और थोड़ी ही देर में दुर्ग के द्वार पर पहुँच जायँगे। तुम मेरे इस पत्र को उनके चरणों में रख आओ।"

दुर्ग तोरण के पास आते ही रामदास जी को शिवाजी का पत्र दे दिया गया। उन्होंने उसे कौतूहल पूर्वक पढ़ डाला। महाराज शिवाजी ने लिखा था, "प्रभु, आपकी इस भिक्षावृत्ति का दृश्य मैं सहन नहीं कर पा रहा हूँ। यह समस्त राज्य तथा मेरी जो कुछ भी व्यक्तिगत संपत्ति है, सभी मैंने आपके चरणों में उत्सर्ग कर डाली है। आप कृपा करके सभी ग्रहण करें तथा भिक्षावृत्ति का त्याग करें।"

मुस्कराते हुए पत्र हाथ में लेकर, रामदास उस दिन वहाँ से चले गये। दूसरे दिन ही उन्होंने शिवाजी से साक्षात्कार किया। कहा, "महाराज, तुमने अपना सर्वस्व ही तो मुझे दान कर दिया है, तुम्हारा व्यक्तिगत तो अब कुछ अवशिष्ट रहा नहीं। फिर अब तुम मेरे साथ दुर्ग के बाहर आकर खड़े हो जाओ। मेरे वास्तविक चेला होकर मेरे साथ मधुकरी शुरु करो।"

भिक्षा की झोली कंधे पर लटका कर शिवाजी ने आनन्दपूर्वक गुरु का अनुसरण किया, तथा द्वार-द्वार भिक्षा मांगने लगे।

भिक्षुक के वेश में शिवाजी महाराज उपस्थित हैं! घर-घर में शोर मच गया। राज भिखारी को मुट्ठी भर भिक्षा देकर गृहस्थगण, संकोचवश काँपते हाथों से देकर खिसक जाते। प्रसन्नतापूर्वक हँसते हुए अब रामदासजी ने कहा, "वत्स शिवाजी, तुम परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। अपने राज्य तथा राजैश्वर्य का मुझे दान कर तुम भिक्षुक हो गए थे। अब मैं सभी कुछ तुम्हें वापस दे रहा हूँ। तुम राज-सिंहासन पर बैठोगे अवश्य, परन्तु सर्वदा तुम मेरे प्रतिनिधि के रूप में ही रहोगे। अपना गेरुआ गात्रवास मैं तुम्हें दान कर रहा हूँ। वैरागी की यह उत्तरीय ही तुम्हारी राष्ट्र पताका होगी।"

---

१. सर यदुनाथ सरकार: शिवाजी एण्ड हिज टाइम्स्; पृ: ८; आइकवर्थ: मराठी बैलेडस्: भूमिका।

यह गेरुआ पताका अथवा भगवा झंडा जितने दिनों तक महाराज शिवाजी के राज्य में फहराती रही तब तक भारतवासियों के हृदय-पट पर त्याग एवं वैराग्य का परम आदर्श देदीप्यमान था। आज भी उस आदर्श की स्मृति इस देश से विलुप्त नहीं हुई है।

शिष्यों एवं भक्तों के एक दल के साथ रामदासजी दूर ग्राम के एक मठ की तरफ जा रहे हैं। मार्ग दुर्गम है। चलते-चलते सभी साथी क्षुधा-पिपासा से कातर हो पड़े हैं। सामने ही एक भुट्टे का खेत है। भक्तों ने निवेदन किया, "प्रभु, यहाँ पास तो कोई बस्ती दिखाई नहीं पड़ रही है। हम सभी थक कर चूर हो गए हैं। क्षुधा की ज्वाला से रास्ता चलना संभव नहीं हो पा रहा है। हम सबों का विचार है कि खेत से कुछ भुट्टे तोड़कर हमलोग अपनी प्राण रक्षा-करें। उसके उपरान्त इस खत के मालिक को दाम चुका दिया जायगा।

शिष्यों की दुर्दशा की देखकर स्वामी जी ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया। आवश्यकतानुसार भुट्टे तोड़े गए। सामने ही एक वटवृक्ष के नीचे, आग जलाकर, भुने हुए भुट्टे खाकर सभी स्वस्थ हुए।

इसी समय ग्राम का पटेल, यमदूत की तरह वहाँ आकर उपस्थित हो गया। भुट्टे का खेत उसी का था। साधुओं का यह काण्ड देखकर वह रोष से पागल हो उठा। गन्दी भाषा में दल के नेता, रामदासजी से गाली-गलौज करने लगा। भुट्टे के कई पेड़ वहीं पड़े हुए थे। उन्हें उठाकर पटेल जोर-जोर से रामदासजी पर प्रहार करने लगा। स्वामीजी का शरीर कई जगह कट गया, तथा रक्त-स्राव होने लगा। आक्रमणकारी को किसी तरह भी बाधा न देकर, स्वामी रामदास शांत एवं स्थिर खड़े रहे।

परन्तु भक्तों को स्वामी जी की यह समदर्शिता एवं निर्विकार भाव किस तरह सह्य होता? वे क्रोध से उद्दीप्त हो उठे। सभी ने मिलकर पटेल को पकड़ लिया तथा मुक्के से मार-मार कर उसे धराशायी कर डाला।

अब रामदासजी उत्तेजित हो उठे। शिष्यों को हटाकर उन्होंने पटेल को मुक्त किया। उन्होंने उनका तिरस्कार करते हुए कहा, "यह तुमलोगों का अन्याय है। भुट्टों के खेत का मालिक यह पटेल है। उसका भुट्टा खाकर, फिर उसी को पकड़ कर मारोगे, यह कैसी बात है? इसे तुमलोग कुछ न कहो, अपराध तो हमलोगों का ही है। परद्रव्य का बिना आज्ञा के ही हम-लोगों ने उपभोग किया है।"

इस घटना के कई दिन बाद, शिवाजी महाराज, एक दिन गुरु के दर्शन हेतु उपस्थित हुए। कौपीनधारी, रामदासजी, अपने आसन पर विश्राम कर रहे थे। अकस्मात् उनके कच्चे घावों की ओर शिवाजी की दृष्टि पड़ी। उत्तेजित होकर उन्होंने इस विषय में प्रश्न कर डाला। परन्तु स्वामी जी मौन ही रहे।

पास ही खड़े एक सेवक ने असल बात कह ही डाली। उसने भुट्टे के खेत के मालिक, पटेल, के मारधाड़ की कहानी विस्तारपूर्वक सुना डाली।

सारी बातें सुन कर शिवाजी अत्यन्त रुष्ट हुए। उत्तेजित स्वर में उन्होंने कहा, "राजगुरु के प्रति यह अत्याचार! अभी मैं इस पटेल के लिए समुचित दण्ड की व्यवस्था करता हूँ।"

स्वामी रामदास ने मुस्कराते हुए कहा, "वत्स, याद रखना, तुम राज-सिंहासन पर बैठे रहने पर भी, वास्तविक रूप से धर्म के प्रतिनिधि हो, एवं भिक्षुक संन्यासियों के प्रतिनिधि हो। इस घटना में अपराध हमलोगों से ही हुआ है, पटेल से नहीं। भक्तों के भुट्टा खाने के प्रस्ताव पर मैंने सोचा था कि बाद में इस खेत के मालिक को इसका मूल्य दे जाऊँगा। इसलिए तुम मेरी तरफ से उस पटेल को दाम चुका दो। उसको कुछ बीघे जमीन पुरस्कारस्वरूप दान कर डालो। इसीसे मुझे पूर्ण संतोष होगा।"

गुरु के इस निर्देश का पालन होने में विलम्ब नहीं हुआ।

गुरु के प्रति शिवाजी के आत्मसमर्पण एवं भक्ति तथा प्रेम के अनेक तथ्यों का गवेषकों ने कितने चिट्ठी-पत्रों से उद्घाटन किया है। राजा शिवाजी के एक पत्र का अनुवाद निम्नलिखित है:

श्री स्वामीजी महाराज! महत्तम गुरो!

मैं शिवाजी आपके श्रीचरणों की धूलि मात्र हूँ। श्रीचरणों में प्रणाम निवेदित करके अपना आवेदन प्रस्तुत कर रहा हूँ। हे परम पूज्य, आपने मुझे दीक्षा दान करके मेरे कल्याण हेतु आशीर्वाद दिया है। आपने मुझे एक स्वाधीन राज्य के गठन, धर्म-संस्थापन, देव-द्विजों की आराधना, जन-समाज की रक्षा एवं दुःखों के निवारण इत्यादि महान कार्यों को करने का निर्देश दिया था। इसके अलावा आपने परमवस्तु के अन्वेषण की दिशा में भी मुझे उद्बुद्ध किया था, एवं आश्वासन दिया था कि मेरी सारी चेष्टाएँ, प्रभु श्री रामजी की कृपा से सफल हो जायगी। इसी के अनुसार मैं भी अपने कार्यक्रम में अग्रसर हो रहा हूँ। दुष्ट मुस्लिम-शक्ति के दमन में सफल हो चुका हूँ तथा विपुल अर्थ एवं रत्नों पर मेरा अधिकार हो चुका है। इसके अलावा मैंने दुर्जय-दुर्गम

दुर्गों का भी निर्माण कर डाला है । प्रभु, ये सभी कार्य आपके आशीर्वाद के फलस्वरूप ही संभव हो सके हैं ।

आशा है, आपको स्मरण होगा कि एक दिन मैंने अपने समग्र राज्य एवं वैभव को आपके चरणों में समर्पित कर दिया था । मैंने कहा था कि आपकी सेवा में अपने को उत्सर्ग कर डालूँगा । उस समय आपने उत्तर दिया था, कि यदि मैं अपना राजकर्त्तव्य निष्ठापूर्वक पालन करता रहूँगा, तो वही आपकी श्रेष्ठ सेवा-कार्य के रूप में गण्य होगा ।

एक और प्रार्थना थी, कि श्री रामजी के मंदिर का मेरे पास ही कहीं निर्माण हो जिससे हमलोगों का परस्पर संपर्क कुछ अधिक हो जायगा तथा रामदासी संप्रदाय का भी दूर-दूर तक प्रचार हो सकेगा । हे मेरे परम पूज्य, आपने मेरी वह प्रार्थना सुनी थी । मेरे निकटवर्त्ती पर्वत गुफा में आकर आप निवास भी करने लगे तथा छाफल में भी प्रभु रामजी का मंदिर निर्मित हुआ । इसके बाद संप्रदाय के भक्त एवं शिष्यों का भी प्रभाव दिन-पर-दिन बढ़ने लगा । इसके अलावा मेरा एक और आंतरिक अनुरोध था । मेरा आवेदन था, कि श्री रामजी की पूजा एवं उत्सव-अनुष्ठान के व्यय-निर्वाह के लिए, छाफल मंदिर के निर्माण कार्य एवं अन्यान्य स्थानों की मूर्त्ति-सेवा हेतु मैं कुछ भूँमि खण्डों का दान कर सकूं । उसके उत्तर में आपनें कहा था, कि इसके लिए मुझे चिंतित होने की आवश्यकता नहीं है, तथा जो जमीने मैं इस उद्देश्य से दान करने का इच्छुक हूँ उसे दूँ और संप्रदाय, राज्य एवं जाति के कल्याण हेतु मैं आत्मनियोग कर डालूँ । उसके बाद मैंने अपना राजकीय निर्देशनामा प्रदान किया एवं विभिन्न क्षेत्रों में सरकार से जमीन अर्पण की व्यवस्था की गयी । छाफल के चारों ओर जो १२१ ग्राम हैं, उनमें से प्रत्येक में से ११ बीघे जमीन दान करने की व्यवस्था हो गयी है ।[१]

अभिषेक के बाद से ही शिवाजी के जीवन में अध्यात्म तृष्णा क्रमशः बढ़ने लगी तथा वे स्वामी रामदास के ऊपर पूर्वापेक्षा, अधिक निर्भरशील रहने लगे । साधन-तत्त्व किंवा समाज एवं राजनीति से संबन्धित जो भी प्रश्न उठते, उनकी मीमांसा तथा समाधान गुरु से न करा लेने तक उन्हें चैन नहीं मिलता इसके अलावा, इन दिनों उनका मन गुरु के साथ घनिष्ट साहचर्य के लिए भी अत्यन्त व्याकुल हो उठा ।

परन्तु रामदास जी को एक विशेष स्थान पर बाँधकर रखना संभव नहीं था । विभिन्न तीर्थों तथा मठों में वे स्वेच्छा से घूमते रहते ।

१. विलवर एस० डेमिग : रामदास पृ०–६१

परली दुर्ग के उनके अधिकार में आते ही उन्होंने स्थिर किया कि गुरु के लिए उस स्थान पर एक स्थायी आवास का निर्माण करा डालेंगे। काफी अनुनय के बाद रामदास जी को राजी कराना संभव हो सका। शिवाजी के निर्देशानुसार दुर्ग-शीर्ष पर रामदास जी के एक नूतन भवन को केन्द्र कर साधु-सन्यासियों का एक मठ एवं उपनिवेश तैयार हो गया। साधु-सन्यासियों का यह निवास स्थान था, इसलिए इसका नामकरण हुआ सज्जनगढ़। दुर्ग के चारों ओर के ग्रामों की आय, शिवाजी ने, इस साधु उपनिवेश के लिए दान कर डाली। रामदास-जी द्वारा प्रवर्त्तित बड़े-बड़े धर्म-उत्सव यहाँ समारोह पूर्वक मनाये जाते। उन सभी के व्यय का निर्वाह भी सरकार द्वारा प्रदत्त नजराने से ही होता।

सज्जनगढ़, सतारा से अधिक दूर नहीं है। शिवाजी का प्रिय दुर्ग रायगढ़ भी सन्निकट ही है। शिवाजी प्रायः रायगढ़ जाते तथा निकटवर्त्ती, गुरुस्थान, सज्जनगढ़, उनके लिए बहुत बड़ा आकर्षण था। अवसर मिलते ही वे वहाँ जाकर गुरुजी के समक्ष उपस्थित होते तथा साधन-भजन एवं राजकार्यों के लिए गुरुत्वपूर्ण निर्देश ग्रहण करते।

अनेक लोगों की धारणा है, रामदास स्वामी, अपने शिष्य शिवाजी के राजनीतिक जीवन एवं राष्ट्र चिंता के नियामक थे, और यही स्वामी जी का सबसे बड़ा परिचय था। परन्तु यह धारणा पूर्णरूप से युक्ति-संगत नहीं है। शिवाजी, रामदास जी के आश्रय में आये, जीवन के अंतिम चरण में। धर्मभृत राज्य का जो संकल्प उनके मन में था, रामदास जी का शिष्यत्व ग्रहण करने के पश्चात्, वह संकल्प और दृढ़ हो उठा। वास्तविक रूप से सिद्ध पुरुष रामदासजी, राजा शिवाजी के अध्यात्म जीवन के आलोक-स्तंभ थे, तथा उनके साधन जीवन के नियंता थे। उत्तर जीवन में शिवाजी की मुमुक्षा तीव्रतर हो उठी तथा गुरु के चरणों में उन्होंने आत्मसमर्पण कर डाला।

इस संदर्भ में रामदास स्वामी के विशिष्ट जीवनीकार जो कहते हैं, वह विचार योग्य है। उनके मतानुसार, "शिवाजी के ऊपर रामदास का आध्यात्मिक प्रभाव ही मुख्य था तथा राजनीतिक प्रभाव गौण था। तथ्य-प्रमाणों से स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है कि शिवाजी के राजनीतिक एवं सामरिक जीवन में रामदास ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका ग्रहण नहीं की। कारण रामदास जी के राज-नीतिक प्रभाव को बड़ा कराके दर्शाना मात्र ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना करना ही नहीं है, वरन् इसके द्वारा महाराज शिवाजी एवं स्वामी रामदास, दोनों को ही नीचा दिखाना है। धर्म एवं अध्यात्म साधना के क्षेत्र में स्वामीजी सर्वोपरि थे, तथा इतिहास उनके इस प्रभुत्व की स्वीकृति देने के लिए बाध्य है। कारण,

धर्म एवं अध्यात्म साधना के संदर्भ में उनका ज्ञान अपरिसीम था साथ ही वहाँ की समस्याओं के समाधान में भी वे पूर्ण रूप से सक्षम थे। प्रधानतः उनकी धर्म गुरू के रूप में स्वीकृति न देकर हमलोग उन्हें राजनीतिक गुरू के रूप में प्रचारित करें तो उनके वास्तविक स्वरूप का निर्णय करने में महान भूल होगी। यह बात भी सत्य है कि अपने लम्बे जीवन के अंतिम चरण में वे अपने प्रिय शिष्य एवं आदर्शवादी राजा, शिवाजी, के कार्यकलापों की धारा का अवलोकन कर वे संतुष्ट थे और राष्ट्रीय मामलों पर भी आवश्यकतानुसार बीच-बीच में निर्देश देते रहते थे। उनके धर्मग्रन्थ, 'दासबोध' के अंतिम अंशों में कुछ राजनीतिक एवं सामाजिक उपदेश भी विद्यमान हैं। शिवाजी महाराज बाद के दिनों में गुरुजी के पास आकर राष्ट्रीय चिंता एवं राष्ट्रीय कार्यों के संबन्ध में भी उनके मतामत से अवगत होते रहते, कारण स्वामीजी की बुद्धिमत्ता एवं ज्ञान के ऊपर उनकी अपार श्रद्धा थी। इस तथ्य पर दृष्टिपात करने से निश्चित रूप से स्वामी रामदास, भक्त तुकाराम अथवा अन्यान्य वैष्णव साधकों से भिन्न थे। परन्तु साथ ही यह बात भी स्वीकार करनी पड़ेगी कि राष्ट्रीय कर्म, संप्रदाय का संगठन कर्म इत्यादि व्यावहारिक क्षेत्रों का गुरुत्व स्वीकार करने पर भी स्वामी रामदास मुख्यतः एक सिद्ध साधक एवं जनकल्याणकर अध्यात्म आन्दोलन के नेता थे।"[1]

सज्जनगढ़ का परिवेश बड़ा ही पवित्र एवं मनोरम था। चारों ओर शस्य-श्यामल उपत्यका फैली हुई थी। प्रकृति ने मानो नदी-नालाओं की बंकिम रेखाओं द्वारा प्ररम प्रभु के आगमन की प्रतीक्षा में, क्षीण-शुभ्र अलपना से चित्र-सज्जा कर डाली हो। उद्ध्वाकाश के महाविस्तार की ओर दृष्टिपात करते ही हृदय निःसीम में भटक कर रह जाता। इस अनुकूल परिवेश में आकर, रामदास, ध्यान-भजन में विभोर हो उठे। पहाड़ के शीर्ष पर वे घनिष्ट भक्त शिष्यों के साथ निवास करने लगे।

मठ एवं मंडलियों की संख्या एवं परिधि बढ़ चुकी है, साथ ही कार्य भी बहुत बढ़ चुके हैं। फिर भी रामदास के जीवन में इस व्यस्तता से कोई बाधा नहीं है। विश्वस्त एवं कर्मकुशल एवं त्यागव्रती शिष्यगण मठ-मंदिरों का कुशलतापूर्वक परिचालन कर रहे हैं। सर्वोपरि राजशिष्य शिवाजी का जनबल एवं कोषागार, सतत गुरु की सेवा हेतु उन्मुक्त है। अवश्यकतानुसार मठों के महन्थ, शिवाजी तथा उनके उच्च कर्मचारीगण, सज्जनगढ़ के शीर्ष पर आकर एकत्रित होते हैं तथा स्वामी रामदास के परामर्श एवं आदेश से उनकी समस्याओं का समाधान हो जाता है।

१. विलबर एस० डेमिंग : रामदास पृ० ११—१२

परन्तु स्वामीजी का सज्जनगढ़ का यह परिवेश दीर्घस्थायी नहीं रहा। कुछ ही दिनों के भीतर, नैपथ्य के महानाटककार ने उनकी जीवन-लीला के अंतिम अंक का उन्मोचन कर डाला।

१६७९ ई० के अंतिम चरण में, शिवाजी, एक बार गुरु से साक्षात्कार हेतु आये। नाना प्रसंगों के बाद गुरु ने रहस्यमय हँसी हँसते हुए कहा, "महाराज, मैं मिट्टी का मानव हूँ, रघुनाथ जी का एक दीन सेवक। उसे तुमने पहाड़ की चोटी पर, आकाश में, बिठा दिया है। आकाश बार-बार इंगित दे रहा है। महाराज, मैं स्पष्ट समझ रहा हूँ कि जीवन-लीला समाप्त होने में अधिक विलम्ब नहीं है।"

"ऐसा कैसे होगा, गुरुदेव ! लाखों-लाखों लोग आप पर ही आस लगाये बैठे हैं तथा आपकी अभय वाणी के श्रवण के लिए आतुर हैं। आपका इतनी जल्दी चले जाना किस तरह संभव हो सकेगा ? इसके अलावा, धर्म राज्य की स्थापना के लिए भी अभी काफी कुछ करना शेष है।" हाथ जोड़कर शिवाजी ने निवेदन किया।

"महाराज, हम बुद्-बुद् मात्र हैं। हम एक क्षीण स्पन्दन मात्र का ही सृजन कर सकते हैं। जो करने योग्य है, उसे सच्चिदानन्द ब्रह्म श्री रामचन्द्रजी ही करेंगे। फिर भी उनके भक्त तथा अनुचर के रूप में मुझे तथा तुम्हें उनके पुनराविर्भाव की भूमिका हेतु कुछ कार्य करने ही होंगे। उनके आसन को प्रतिष्ठित करना होगा। धर्म राज्य के आदर्श का हमने प्रतिष्ठापन किया तथा उसके बीज का रोपण कर डाला—यही तो हमारा कर्तव्य था।"

सिर झुकाये शिवाजी, गुरु के चरणों के समीप बैठे हुए हैं। बिलकुल मौन।

गुरु ने फिर कहा, "वत्स, अतिरिक्त परिश्रम से तुम्हारा शरीर दुर्बल हो गया है तथा अपटु, भी हो गया है। खूब सावधानी से रहो। रायगढ़ जाकर तुम पूर्ण विश्राम करो।"

शिवाजी, रायगढ़ वापस चले गये, परन्तु कई सामरिक अभियानों के फलस्वरूप उनका स्वास्थ्य गिरता ही गया।

१६८० ई० की ५ अप्रैल को शिवाजी महाराज ने चिर-विदा ग्रहण की। स्वामी रामदास का दक्षिण हस्त मानो टूट पड़ा। धर्मराज्य की स्थापना, रामदास जी के समक्ष एक महान ईश्वरीय व्रत था। आदर्शवादी, परमधार्मिक महाराज शिवाजी का आनुगत्य एवं सेवा, उनके इस कार्य में काफी हद तक सहायक थी। विधि के विधान से वह कड़ी टूट गयी।

रामदास जी के शिष्य, शिवाजी का, वास्तविक मूल्यांकन विदेशी इतिहास वेत्ता नहीं कर पाये हैं। उत्तरकाल में इस देश के मनीषी गवेषक गणों ने उनके आत्मिक एवं धार्मिक जीवन के स्वरुप का निर्णय करने में सफलता प्राप्त की है। इस युग के श्रेष्ठ कवि रवीन्द्रनाथ की अद्वितीय भाषा में शिवाजी के धर्म-धृत जीवन के परम वैशिष्ट्य मूर्त्त हो उठे हैं। विश्वकवि के अमर कण्ठ से विपुल आशा, आश्वासन एवं प्रतिश्रुति की वाणी ध्वनित हो उठी है :

सेदि शुनिनि कथा—आज मोरा तोमार आदेश
शिर पाति लब।
कंठे-कंठे वक्षे-वक्षे भारते मिलिबे सर्वदेश
ध्यानमंत्रे तव।
ध्वजा करि उड़ाइबो वैरागीर उत्तरीवसन,
दारिद्रेर बल।
'एक धर्मराज्य हबे ऐ भारते' ऐ महावचन
करिबो संबल।

अब समर्थ रामदास स्वामी के अंतर सत्ता में उस पार की पुकार आ गयी है। वे अपने को प्राण प्रभु रामजी के चरणों में विलीन करना चाहते हैं। दिन-रात का अधिकांश समय इष्ट ध्यान में ही व्यतीत हो रहा है। ध्यान तन्मयता में व्यवधान डालकर सेवकगण बीच-बीच में खिलाने की चेष्टा करते हैं। परन्तु प्रायः वह भी संभव नहीं हो पाता। उपवास से दिन-दिन शरीर क्लान्त होता जा रहा है।

प्रधान शिष्य कल्याण, व्याकुल होकर उनके पास आये। गुरु महाराज से कई निगूढ़ निर्देश लेकर, उनके आदेश से ही अपने कर्म केन्द्र में वापस चले गये। अन्यान्य मठ-मंदिरों के परिचालक एवं भक्त शिष्यगण भी स्वामी जी के अंतिम दर्शन कर वापस चले गये।

प्रधान शिष्य, उद्धव तथा भक्तिमती आकाबाई गुरुजी की शय्या के बगल में बराबर उपस्थित रहते। उनकी प्राणपण से सेवा करते हुए वे शंकाकुल चित्त से विच्छेद के मर्मांतक मुहूर्त के लिए अपेक्षामग्न हैं।

कुछेक दिन पूर्व स्वामीजी अपनी इच्छानुसार राम, सीता, लक्ष्मण एवं मारुति नंदन की नयी नयनलोभन मूर्तियां तैयार करा कर लाये हैं। इन विग्रहों को उन्होंने अपने शयन-कक्ष में स्थापित करने का आदेश दिया। बहुत देर तक उनकी ओर देखते हुए वे ध्यानाविष्ठ रहे।

उस समय शयन-गृह में एकनिष्ठ सेविका आकाबाई तथा प्रधान शिष्य उद्धव उपस्थित थे। ध्यान भंग होने पर आकाबाई के हाथ से गुरु ने एक पात्र चीनी का शरबत ग्रहण किया। उसके बाद प्रसन्नता पूर्वक मुस्कराते हुए उन्होंने कहा, "वत्से, फिर अब तुमलोग मुझे विदा दो।"

आकाबाई फूट पड़ीं। सांत्वना देते हुए गुरुजी ने कहा, "चिर आनंदधाम को जा रहा हूँ। सच्चिदानन्द विग्रह श्री रामजी के लीला-निकेतन की ओर मैं रवाना हो रहा हूँ। परम मधुर-मिलन के क्षण में यह अवसाद क्यों?"

"प्रभु, आप नश्वर शरीर का त्याग करके जा रहे हैं। हम आपकी अमृत वाणी को तो अब श्रवण नहीं कर पायंगे, तथा आपके परम आश्रय से भी वंचित हो जायँगे।"

"इतने दिनों तक मेरे सान्निध्य में क्या तुमलोगों ने यही सीखा? प्रपंच-स्वरूप, इस देह का एक दिन तो त्याग करना ही होगा। प्राणप्रभु का निर्देश आ गया है, इसीलिए आनन्दपूर्वक मैं चला जा रहा हूँ। तुमलोग को भय क्यों? मेरे मुख से बात नहीं सुन सकोगी, परन्तु 'दासबोध' तो है! वही मेरी बातों का निचोड़ है। 'दासबोध' का तुम सभी नित्य पाठ करोगे तथा रामजी के नित्य दास होकर रहोगे।"

इस विग्रह की ओर प्रेमसिक्त नेत्रों से देखते हुए रामदास स्वामी ने मृदु-स्वर में उच्चारण किया, "हर-हर-राम-राम, जय समर्थ रघुवीर।" साथ-ही-साथ सिद्ध महापुरुष की प्राणवायु ब्रह्मरंध्र के मार्ग से निकल गयी।

१६८१ ई० के इस महाप्रयाण के दिन सारे महाराष्ट्र के भक्त-समाज पर गंभीर शोक की छाया फैल गयी। रामदासी संप्रदाय के सहस्रों लोग साश्रुनयन वहाँ आकर उपस्थित हुए। उद्धव गोसावी एवं अन्यान्य प्रधान शिष्य तथा महन्थों ने भाराक्रान्त हृदय से गुरु के शेष कृत्यों के आयोजन को संपूर्ण किया। पवित्र तुलसी-तरु की लकड़ी से रामदास स्वामी का नश्वर शरीर भस्मीभूत कर दिया गया।

प्रभु रघुवीर जी के नित्यदास—समर्थ रामदास, इहलोक त्याग कर प्रयाण कर गये। परन्तु अपने धर्मराज्य, रामराज्य के ध्यान-कल्पना का बीज वे सारे भारत के वायुमण्डल में बिखेर गये।

————

एकनाथ स्वामी

महाराष्ट्र के भक्ति आन्दोलन का आदि एवं प्रधान स्रोत पंढरपुर रहा है। यहाँ के जाग्रत विग्रह विठ्ठलजी को केन्द्र करके तेरहवीं तथा चौदहवीं शताब्दी में प्रेम भक्ति का जो प्लावन उपस्थित हुआ था, उसके नायक थे ज्ञानदेव एवं नामदेव। इन दोनों महात्माओं के तिरोधान के पश्चात्, भक्ति-आन्दोलन कुछ स्तंभित होने लगा था। समाज में अनाचार, विश्रृंखलता एवं धर्म-विमुखता दृष्टिगोचर होने लगी थी। इस अवनति तथा पतन के दिनों में, ज्ञानदेव तथा नामदेव के महाप्रयाण से प्रायः दो सौ वर्ष बाद एकनाथ स्वामी का आविर्भाव हुआ। उन्होंने महाराष्ट्र के वैष्णव आन्दोलन में नूतन प्राण-प्रवाह संचारित किया तथा समाज के उच्च-नीच, धनी-निर्धन सभी वर्ग के मनुष्यों तक भक्ति एवं प्रपत्ति का परम पाथेय प्रस्तुत कर डाला।

पन्द्रहवीं सदी के तृतीय पाद की बात है। इन दिनों पैठढ़ में अथवा प्रतिष्ठानपुर में साधक प्रवर भानुदास का अभ्युदय हुआ। इस क्षेत्र में सर्वत्र वे एक सिद्ध वैष्णव के रूप में परिचित थे। पंढरपुर के विट्ठलजी के विग्रह की पुनः प्रतिष्ठा एवं सेवा-पूजा का प्रवर्तन करके ही भानुदास प्रसिद्ध हुए। मुसलमान राजाओं के अत्याचार से पंढरपुर मंदिर दो बार विध्वस्त हो चुका था। इसी कारण विजयनगर के राजा कृष्ण राय, विट्ठलजी के विग्रह के निरापत्ता के लिए प्रयत्नशील हो उठे तथा अपनी राजधानी हम्पी नगर में एक नवीन मंदिर में उन्हें स्थापित किया। उसके बाद राजनीतिक अशांति

एवं उपद्रव कम हो जाने के पश्चात् पंढरपुर के भक्त साधक भानुदास के नेतृत्व में विट्ठलजी को पुनः देश में वापस लाने की व्यवस्था की गयी। कहा जाता है कि साधक भानुदास ही विजयनगर से इस श्री-मूर्त्ति को ढो कर लाये तथा उन्होंने सेवा-पूजा की नये सिरे से व्यवस्था की।

इन्हीं भानुदास के ही वंश में, उनके प्रपौत्र के रूप में १५३३ ई० में सार्थक नामा, भक्तसाधक एकनाथ ने जन्म ग्रहण किया।

एकनाथ के पिता का नाम सूर्यनारायण तथा माता थीं रुक्मिणी बाई। एकनाथ जब छोटे वयस के ही थे, तब उनके माता-पिता दोनों का स्वर्गवास हो गया। इसके उपरान्त पितामह एवं पितामही के ही आश्रय में उनका लालन-पालन हुआ।

शुभ-संस्कार लेकर ही उन्होंने जन्म ग्रहण किया था, इसलिए बाल्यकाल से ही एकनाथ के जीवन में भगवद् भक्ति का प्रकाश दृष्टिगोचर होने लगा। खेल-कूद में कोई उत्साह नहीं तथा स्वभाव में भी चंचलता का अभाव। सौम्य-शांत बालक, अवसर मिलते ही ग्राम के सन्निकट शिव मंदिर में जाकर उपस्थित हो जाता तथा सारा दिन वहीं व्यतीत कर घर वापस आ जाता।

बालक अत्यन्त मेधावी भी था। मंदिर में जो भी पुराण-पाठ एवं शास्त्रों की व्याख्या-विश्लेषण होता, उसे कंठस्थ हो जाता। धर्म जीवन की कहानियाँ सुनकर वह मत्त हो उठता तथा ध्रुव-प्रह्लाद की पुण्यकथा सोचते-सोचते उसका मन, भाव-विभोर हो उठता।

उस समय एकनाथ की अवस्था बारह वर्ष से अधिक नहीं थी। एक दिन जन-विरल मार्ग से शिवमंदिर से घर वापस आ रहे हैं। सहसा, कानों में एक दैवी आदेश मिला, "क्योंरे, व्यर्थ समय क्यों नष्ट कर रहा है, देवगढ़ के जनार्दन स्वामी के पास चला जा। वे ही तुम्हारे निर्दिष्ट सद्गुरु हैं। तुम्हारे जीवन की कुंजी उन्हीं के हाथों में है।"

बालक के मर्मस्थल को मानों किसी ने बुरी तरह झकझोर दिया। अज्ञात लोक का अदृश्य इंगित, मन को बार-बार उच्चकित एवं उद्भ्रान्त करने लगा। उसी दिन पितामही के स्नेहनीड़ का त्याग कर तथा किसी से कुछ भी न बतला कर वे पैदल देवगढ़ की ओर उन्मुख हुए।

ये जनार्दन स्वामी कौन हैं तथा उनका क्या परिचय है, कुछ भी एकनाथ को ज्ञात नहीं था। रास्ता चलते-चलते लोगों के मुंह से उन्होंने सुना कि वे देवगढ़ के किलेदार हैं तथा मुसलमान राजा के एक विश्वासपात्र व्यक्ति हैं। जिस तरह उनकी युद्ध-कुशल एवं राजनीति-विशारद के रूप में ख्याति है,

स्वामी एकनाथ

उसी तरह साधक के रूप में भी वे विख्यात हैं। सुप्रसिद्ध महापुरुष, नृसिंह सरस्वती उनके गुरु हैं। समर्थ गुरु की कृपा तथा अपने साधन के बल से जनार्दन के सांसारिक एवं अध्यात्म जीवन में एक आश्चर्यजनक सामंजस्य आ गया है। हिन्दू, मुसलमान दोनों संप्रदाय के लोग उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं तथा हृदय से प्रेम करते हैं।

किले के भीतर, जनार्दन स्वामी से साक्षात्कार हुआ। साष्टांग प्रणाम करके एकनाथ ने कहा, "प्रभु, मैं पैठन का निवासी, भानुदासजी का प्रपौत्र, एकनाथ हूँ। ईश्वर क्या वस्तु है तथा किस तरह उसकी प्राप्ति की जा सकती है, मैं कुछ भी नहीं जानता। परन्तु पता नहीं क्यों, एक प्रचंड व्याकुलता का वेग मुझे केवल धक्के देकर आगे बढ़ाता जा रहा है।"

"भानुदास के तुम प्रपौत्र हो? यह सुनकर हर्ष हुआ। वे परम वैष्णव एवं हम सभी के पूज्य थे। फिर भी वत्स, इतने साधु संतों के रहते हुए, तुम मेरे-जैसे किलेदार के पास आये ही क्यों, यह तो बताओ?" जनार्दन स्वामी ने प्रश्न किया।

"मुझे अंतर से आदेश मिला है कि आप ही गुरु हैं तथा मेरे इहकाल, परकाल की कुंजी आपके ही हाथों में है।"

"बालक, तुझे किस तरह ज्ञात हुआ कि यह प्रत्यादेश सत्य है?"

"मेरी अंतरात्मा पुकार-पुकार कर कह रही है, कि यह दैवी आदेश मेरे परम कल्याण के लिए ही आया है।" कुछ देर नीरव रहकर अश्रुपूरित नेत्रों से एकनाथ ने कहा, "प्रभु, शैशवावस्था में पिता-माता को खोकर असहाय-सा हो गया था, ईश्वर की कृपा से पितामही का आश्रय मिला। आज भी फिर उसी तरह असहाय होकर यह बालक आपके आश्रय की याचना करता है। क्या आप कृपा नहीं करेंगे?"

"वत्स, शांत हो। मैं तुम्हें आश्रय प्रदान करूंगा। वास्तविक रूप से तुम्हारा आगमन मेरे लिए अप्रत्याशित नहीं है। तुम्हारा चित्र, पहले से ही मेरे मानस-पट पर प्रस्फुटित हो उठा था। तुम्हारे भीतर जन्मांतर के पवित्र संस्कार हैं। इसी से तो, इस अवस्था में ईश्वर के लिए इतने व्याकुल हो उठे हो!"

यत्नपूर्वक, जनार्दन स्वामी ने एकनाथ को दीक्षा प्रदान की। उसी के साथ ही भक्ति साधना के निगूढ़ उपदेश प्रदान किए। बालक शिष्य के शास्त्र, पुराणों के अध्ययन पर भी बल दिया गया। शीघ्र ही ज्ञानेश्वरी गीता एवं भागवत के तत्व समूह पर एकनाथ का पूर्ण अधिकार हो गया। इसके

अलावा, एकनिष्ठ साधना के फलस्वरूप भक्ति के नवधा लक्षण भी उनकी साधनसत्ता में प्रकट होने लगे।

गुरु-गृह में लगातार ६ वर्ष व्यतीत हो गये। क्रमशः बालक शिष्य ने यौवन में पदार्पण किया। उसमें शास्त्रज्ञान, प्रेमावेग एवं काव्य-प्रतिभा का अपरूप स्फुरण दृष्टिगोचर होने लगा। अपार स्नेह एवं ममता के साथ गुरुजी एकनाथ के जीवन को संवार रहे हैं। उसका यह रूपान्तर देखकर एक दिन उन्होंने उसे एकांत में बुला कर कहा, "वत्स एकनाथ, तुम्हारी साधना एवं शिक्षा काफी हद तक बढ़ चुकी है। अब तुम्हें जीवन के एक दुरूह अध्याय का समारंभ करना होगा। साधन जीवन तथा अध्यात्म जीवन को लेकर दूर एकांत में खिसक जाने से काम नहीं चलेगा। इस साधन की भित्ति दृढ़ हो गयी है या नहीं, उसे दैनिक व्यावहारिक जीवन में परखना होगा। श्रीमद्-भागवत् के परमतत्त्व की उपलब्धि हस्तगत करनी होगी। सच्चिदानन्द विग्रह कृष्ण ही सृष्टि के प्रत्येक वस्तुओं में रुपायित हो रहे हैं। जैसे सर्वघट में महाकाश व्याप्त है, वैसे ही सारी वस्तुओं में कृष्ण विराजित हैं। इसीलिए तुम्हारी कृष्ण-सेवा सर्वत्र परिव्याप्त होगी। इस तत्त्व तथा साधना को जीवन में रूपान्तरित करने हेतु व्यावहारिक जीवन किंवा सांसारिक जीवन के प्रत्येक कर्मों को कृष्ण के कर्म समझ कर ही करना होगा। मैं सोच रहा हूँ, कि तुम्हारी अध्यात्म साधना के साथ-साथ तुम्हें मैं व्यावहारिक जीवन की भी शिक्षा दूंगा। दोनों को मिलाकर यदि चल सको, तभी तुम्हारी यह भागवत-भित्तिक धर्म-साधना सार्थक हो सकेगी।"

इसके उपरान्त गुरु ने एकनाथ को सरकारी कार्यों की नाना प्रकार की शिक्षा प्रदान की। दुर्ग के भी छोटे-मोटे कार्य धीरे-धीरे उन पर न्यस्त कर दिए गये।

जनश्रुति है, कि इस समय की एक घटना में तरुण साधक एकनाथ ने, जिस साहस, बुद्धिमत्ता एवं प्रत्युत्पन्नबोध का परिचय दिया था, उसके फलस्वरूप देवगढ़ किले की रक्षा हो सकी थी और किलेदार जनार्दन स्वामी भी एक भयंकर विपत्ति टालने में सफल हो सके थे।

एक दिन गंभीर रात्रि के अंधकार में, नितान्त आकस्मिक रूप से, शत्रु की एक सेनावाहिनी, देवगढ़ पर आक्रमण कर बैठी। उस समय जनार्दन स्वामी किले के अभ्यन्तर में एक निर्जन कक्ष में ध्यानाविष्ट बैठे थे। शुत्र-सेना रणहुंकार करते हुए प्राणपण से गोलियां बरसा रही है, और उनमें से दो-एक टोलियां पहाड़ के रास्ते दुर्ग में प्रवेश करने की भी चेष्टा कर रही हैं। इस

संकट की घड़ी में किले के नायक के दर्शन नहीं हो रहे हैं और किले के रक्षक सैनिक किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर, इधर-उधर भाग-दौड़ कर रहे ह।

तरुण एकनाथ को इस आकस्मिक विपत्ति के गुरुत्व का भान हो गया। गुरुदेव को ध्यानासन से उठाने का कोई उपाय नहीं है, इसलिए शत्रु से मोर्चा लेना ही होगा। बिजली की गति से वे जनार्दन स्वामी के कक्ष में घुस पड़े, तथा उन्होंने उनके जिरहबख्तर, शिरत्राण तथा अस्त्र-शस्त्र को धारण किया। उसके बाद दुर्ग प्राचीर पर खड़े होकर, एक दक्ष नायक जैसे उन्होंने प्रत्याक्रमण का आदेश देना शुरू किया। रात्रि के अंधकार तथा युद्ध की चीख पुकार एवं उत्तेजना में एकनाथ को कोई पहचान नहीं पाया। सभी ने यही सोचा कि दुर्ग के नायक, जनार्दन स्वामी ही, सैनिक वेश धारण कर उन्हें कौशलपूर्ण सामरिक निर्देश दे रहे हैं।

तीव्र प्रतिरोध के फलस्वरूप, शत्रु-सेना का मनोबल टूट गया और परास्त होकर वे पलायन करने लगे।

इसी अवधि में जनार्दन स्वामी का ध्यान भंग हुआ। वाह्य ज्ञान प्राप्त होते ही, उन्हें घटना के गुरुत्व का ज्ञान होने में देरी नहीं लगी। इस घोर विपत्ति के समय एकनाथ की बुद्धि, वीरता एवं नेतृत्व ने ही असंभव को संभव कर दिखाया। शत्रु-सेनाके विध्वस्त होने से ही दुर्ग वासियों की प्राण रक्षा संभव हो सकी थी।

एकबार जनार्दन स्वामी, सरकार के एक जटिल हिसाब को लेकर बड़ी विपत्ति में पड़े। हिसाब में कोई भयानक भूल थी, परन्तु इसका सूत्र पकड़ में नहीं आ रहा था। कई दिनों तक वे अविरल चेष्टा करते रहे, परन्तु समस्या का समाधान नहीं हो पाया। एकनाथ का एक विशेष गुण यह था, कि जब भी जो कार्य वे हाथ में लेते, निष्ठा एवं दायित्व के साथ उसे संपन्न करते। जनार्दन स्वामी ने इस हिसाब के संशोधन का भार अंततः अपने शिष्य के ऊपर दिया।

एकनाथ एकाग्र होकर, इस हिसाब को लेकर, बैठे तथा काफी परिश्रम करने के पश्चात् उन्हें इस भूल का सूत्र मिला। जनार्दन स्वामी अत्यन्त प्रसन्न हुए। कहा, "वत्स एकनाथ, तुम्हारी निष्ठा एवं संयम प्रशंसनीय है। इसी तरह अध्यात्म साधन से ऊपर भी मन को केन्द्रीभूत करना होगा। अब तुम्हें मैं एक निगूढ़ साधन दूँगा। किले के बाहर जो वन है, उसी में बैठकर इस प्रक्रिया का तुम दीर्घकाल तक अनुष्ठान करो। आशीर्वाद देता हूँ, तुम्हारी साधना शीघ्र फलवती हो उठे।"

गुरु का यह आशीर्वाद सफल हो उठा तथा भक्तिप्रेमसिद्ध, एकनाथ, श्रीहरि के दर्शन-लाभ से कृतार्थ हुए।

शिष्य की इस सफलता से जनार्दन स्वामी के आनंद की सीमा नहीं है। स्नेहपूर्ण स्वर में उन्होंने कहा, "वत्स एकनाथ, अब तुम्हारा मेरे पास रुकने का कोई प्रयोजन नहीं है। इष्टदेव के नाम का स्मरण करते हुए निकल पड़ो, तथा देश के प्रधान-प्रधान देव-मंदिर तथा तीर्थों के दर्शन करो।"

पितृतुल्य ममता से गुरु ने कई वर्षों तक एकनाथ को प्लावित कर रखा था तथा गुरु रूप से उनके साधन जीवन को भी उद्दीपित किया था। अब विच्छेद का लग्न उपस्थित है।

साश्रुनयनों से हाथ जोड़कर एकनाथ ने कहा, "प्रभु, इन कई वर्षों से आपके सान्निध्य लाभ से उपकृत होता रहा। कभी सोच भी नहीं सकता था, कि इस तरह आप मुझे दूर कर देंगे।"

"नहीं वत्स, दूर मैं कभी भी नहीं रहूँगा। दीक्षामंत्र में ही तो गुरु का निवास रहता है तथा इष्टध्यान में ही ओतप्रोत होकर वे निहित रहते हैं। तुम्हारा, मेरा विच्छेद कभी भी नहीं होगा, इसके अलावा तीर्थ परिक्रमा में एक बहुत बड़ा लाभ भी है।"

"मुझे स्पष्ट समझा कर कहें, प्रभु !"

"इस परिक्रमा के लिए रास्ते-रास्ते वन-अरण्य में तुम्हें कितना भटकना होगा तथा साधु, तस्कर, योगी-भोगी सभी से तुम्हारी भेंट होगी। पर्यटन की अवधि में तुम्हें कितने सुख-दुःख, उत्थान-पतन तथा विचित्र-विचित्र अनुभव प्राप्त होंगे। इस उत्थान-पतन के समय, नाम-जप तथा इष्टध्यान में कोई व्यवधान तो नहीं पड़ता तथा इष्ट की उपलब्धि और दृढ़ होती है या नहीं, इसकी भी परख हो जायगी।"

परिव्राजन तथा तीर्थ-दर्शन में कई वर्ष व्यतीत हो गये। उसके बाद एकनाथ पुनः देवगढ़ में गुरु के पास वापस आये। गुरु-शिष्य के पुनर्मिलन से दिव्य आनंद का प्रवाह आ गया।

स्नेहपूर्ण स्वर में जनार्दन स्वामी ने कहा, "वत्स, तुम्हारे ऊपर मैं प्रसन्न हूँ। तुम्हें ईश्वर की उपलब्धि में और दृढ़ता आयी है, तथा साधना में तुम सफल-काम हुए हो। अब अपने घर वापस चले जाओ तथा विवाह करके संसारी बनो।"

इस बात को सुनते ही एकनाथ चौंक पड़े। उनके कुछ बोलने से पहले ही जनार्दन स्वामी ने हँसते हुए कहा, "इसमें विस्मित अथवा क्षुब्ध होने की कोई

बात नहीं है, एकनाथ। मेरे गुरुदेव श्री नृसिंह सरस्वती ने साधन जीवन में ज्ञान, भक्ति एवं कर्म के समन्वय को स्फुरित करने का उपदेश दिया था। उसके कुछ अंश का तुमने देवगढ़ निवास की अवधि में प्रत्यक्ष किया है। तुम्हें भी उसी तरह जीवन यापन करना होगा। तुम विवाह करो तथा अनासक्त कृष्ण भक्त का जीवन यापन करो। कृष्ण तथा कृष्ण द्वारा रचित इस विश्वसंसार, इन दोनों का ही अवलम्बन किए रहो। कृष्ण भक्त बने रहो तथा प्रत्येक भक्त-मनुष्य के हृदय में एक कृष्ण मंदिर की स्थापना की चेष्टा करो। मेरा एक और निर्देश है। साधारण भक्त मनुष्यों के लिए उपयोगी तथा बोधगम्य भक्ति ग्रंथादि की तुम रचना करो। पुराण शास्त्रों के तत्व एवं कहानियाँ जनसाधारण के लिए ग्रहणीय रूप में प्रस्तुत कर उनका प्रचार करो।"

एकनाथ ने गुरु के निर्देश को शिरोधार्य कर लिया। पैठन वापस जाकर उनका वृद्ध पितामह तथा पितामही से पुनर्मिलन हुआ। इसके उपरान्त बीजापुर के एक सद्ब्राह्मण की कन्या से उन्होंने विवाह किया। उनका नाम गिरजा बाई था। गिरजा बाई ने एकनाथ की साधना एवं धर्माचरण की पवित्रता में चिरकाल तक बिना किसी बाधा के सहयोगिता की।"

पैठन में निवास करते हुए एकनाथ ने बहुत से भक्तिमूलक ग्रन्थों की रचना की। इनमें से उनकी भागवत की व्याख्या, साहित्य, दर्शन एवं भावसंपदा की दृष्टि से सबसे विशिष्ट रचना है। इसका आधार भागवत का एकादश स्कन्ध है। मराठी जनसमाज इस ग्रन्थ को एकनाथी भागवत के नाम से पुकारता है। बीस हजार पदों से पूर्ण, यह महान ग्रन्थ, मराठी साहित्य की एक अक्षय कीर्ति है।

इसके अलावा एकनाथ की एक विशिष्ट आध्यात्मिक साहित्य कीर्ति है, भावार्थ रामायण। एकनाथ ने स्वयं कहा था कि रामभक्ति की एक दैवी प्रेरणा से उद्बुद्ध होकर उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना शुरू की थी। परन्तु युद्ध काण्ड के चतुर्दश अध्याय तक ही वे इसे लिख पाये। उनके प्रिय शिष्य, गाबोआ ने इसे समाप्त किया। उनकी एक और उल्लेखयोग्य रचना है, रुक्मिणी स्वयंवर। यह कृष्ण-रुक्मिणी के प्रेम-रस से परिपूर्ण है। इसके अलावा, उनकी अन्य रचनाएँ हैं—चतुःश्लोकी भागवत, स्वात्मसुख एवं कई सौ मधुर अभंग पद। इन सभी रचनाओं द्वारा मात्र एकनाथ की अध्यात्म अनुभूति एवं जीवन दर्शन ही दृष्टिगोचर नहीं होता, वरन् उनकी कवित्व शक्ति की महिमा भी आश्चर्यजनक रूप से प्रस्फुटित हो उठी है।

उनके पूर्ववर्ती ज्ञानदेव एवं नामदेव का प्रभाव एकनाथ पर यथेष्ट है। ज्ञानदेव की ज्ञानेश्वरी गीता, अमृतानुभव एवं नामदेव की प्रेम-भक्ति से परिपूर्ण अभंगों की स्पष्ट छाप उनके ऊपर दृष्टिगोचर होती है। फिर भी उनके साहित्य में उनकी अपनी विशिष्टता स्पष्ट है। ज्ञानदेव तथा नामदेव दोनों ही भक्ति-रसात्मक साहित्य की सृष्टि करते हुए अपने गुरु नाथयोगियों के दार्शनिक मतवाद से मुक्त नहीं हो पाये थे। परन्तु एकनाथ के समय महाराष्ट्र के भक्ति आन्दोलन में रामायण, महाभारत इत्यादि पुराण शास्त्रों का प्रचार बढ़ गया था और भक्ति-धर्म का स्रोत अवतार पुरुषों की लीला कहानियों से प्रकट हुआ। इसी स्रोत से तथा विशेष कर भागवत पुराण से एकनाथ ने अपने अध्यात्म साहित्य के मूल रस का संग्रह किया। उसके बाद गुरु के निर्देशानुसार सरल भाषा में उसे जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत किया। इसके फलस्वरूप अल्प काल में ही एकनाथ एक भक्ति सिद्ध आचार्य के रूप में प्रसिद्ध हो गये। उनको केन्द्र करके सारे देश में नये ढंग से हरिकथा एवं हरिभक्ति का रस प्रवाह निर्गत होने लगा। महाराष्ट्र में पौराणिक भक्ति धर्म उन्हीं की जीवन साधना तथा साहित्यिक कृतियों के माध्यम से पुनर्जीवित हो उठा।

अध्यापक पटवर्धन ने एकनाथ के साधन जीवन एवं कवित्व शक्ति की व्याख्या-विश्लेषण करते हुए, एक स्थान पर कहा है—एकनाथ की रचनाओं में अंतर के आवेग तथा भावरसों के साथ भक्ति साधना के परमतत्त्वों का अपूर्व मिश्रण है। इसीलिए यह स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है कि एकनाथ, मात्र एक भक्ति सिद्ध महापुरुष ही नहीं थे, वरन् वे एक उच्च कोटि के भावुक कवि भी थे। प्रधानतः इसी कारण, एकनाथ, एक अतिशय जनप्रिय धर्म-गुरु के रूप में प्रतिष्ठित हुए।[1]

भक्तकवि एवं सिद्धपुरुष एकनाथ की ख्याति पैठढ़ एवं पंढरपुर क्षेत्रों में दूर-दूर तक फैल गयी। उनकी कीर्तन गोष्ठियों में सहस्रों की तायदाद में लोग आकर भीड़ करने लगे। महाराष्ट्र में सर्वत्र, वे एकनाथ स्वामी के नाम से परिचित हो उठे।

एकनाथ द्वारा रचित अभंग पदों में सर्वत्र गुरु भक्ति तथा गुरु के चरणों में आत्मसमर्पण की बात बार-बार कही गयी है। एक अभंग में कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए वे कहते हैं—

गुरु प्रदत्त विपुल ऋण से
किस प्रकार मुक्ति मिलेगी एकनाथ को इस जीवन में ?

१—अध्यापक पटवर्धन : विल्सन फिलासोफिकल लेक्चर्स

गुरु ने एक चमत्कारी इन्द्रजाल का दिग्दर्शन कराया है—
शिष्य एकनाथ के अहंबोध का तीव्र विष
उन्होंने स्वतः पान कर डाला है,
दृष्टि मोड़ दी है निःसीम अंतर की ओर,
जहाँ उद्भासित है वह दिव्य आलोक—
जिसका नहीं है कभी उदय या अस्त। (अभंग–४)

गुरु कृपा, पारस पत्थर होती है, जिसके मात्र स्पर्श से शिष्य धन्य हो जाता है, तथा उसकी सारी सत्ता में रूपान्तर घटित होता है। एक और पद में, एकनाथ, गुरुदेव जनार्दन स्वामी की महिमा का ज्ञापन करते हैं :

यह कैसे परम विस्मय की सृष्टि गुरु ने कर डाली मेरे लिए,
हृदय कन्दरा में उन्होंने भगवान के दर्शन करा डाला।
ऐसे कृपालु हैं वे
कि त्याग एवं दुःख के चरम मूल्य से
मुझे दे डाली मुक्ति !
सुनो, गुरु कृपा का गोपन रहस्य।
इस कृपा के आलोक में सर्व वस्तुएँ एवं सर्व चराचर
हो उठता है ईश्वरमय।
जो भी होता है दृष्टिगोचर या जहाँ भी करता हूँ कर्णपात्,
जिह्वा से जो भी करता हूँ आस्वादन,
सर्वत्र पाता हूँ, परिचय ईश्वर का। (अभंग–८)

भक्ति एवं नाम-साधना के संदर्भ में एकनाथ की वाणी अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। उनके मतानुसार, जीवन-प्रभु ईश्वर का निरंतर स्मरण ही जीवन है और ईश्वर-विमुखता एवं उनका विस्मरण ही मायाविभ्रम है।

स्मरण, मनन तथा जप-कीर्तन जिस किसी साधन की अमोघ शक्ति से श्री भगवान का आकर्षण किया जाय, वे इस धूलिप्लावित धरणी पर दौड़ते हुए चले आते हैं। एक अभंग पद में एकनाथ गाते हैं—"सर्वदा अनुध्यान के फलस्वरूप ही तो उन्होंने रक्षा की, जब क्रोधी ऋषि एवं उनके ब्राह्मण शिष्य गण भोजन के लिए अन्न की याचना करने आये। अर्जुन की भावना में कृष्ण सर्वदा जाग्रत थे। तभी तो प्रभु ने उनकी बार-बार रक्षा की थी। भक्ति से मात्र भगवान दर्शन ही नहीं देते, वरन् भक्त के वश में भी हो जाते हैं। ऐसा है उनका महत्व और ऐसा है भक्ति साधना का माहात्म्य" :

सर्वदा भक्त के वश में हैं परम प्रभु—
द्रौपदी का किया उद्धार उसकी चरम विपत्ति से,
सुदामा का दारिद्रय दुःख क्षण भर में किया दूर,
परीक्षित की मात्रिजठर में रक्षा की किसने
यदि होता नहीं उनका कृपाधन दृष्टिपात ?
गोवर्धन धारण कर, नीचे गिरीधर ने
रक्षा की गौओं और गोप-गोपियों की !
गोर कुम्हार के साथ बैठ प्रभु मेरे
सुखा डाले मिट्टी से भींगे पात्र ।
दृष्टि मूंदते ही साथ चराये पशुओं के दल,
सांवता, माली के पास बैठ, काटे घास ।
कबीर के साथ वैठ बुन डाले कपड़े,
रैदास के साथ चमड़े में लगाये रंग,
सजन कसाई हित मांस विक्रय
और स्वर्णकार नरहरि के लिए सोना गलाने के कार्य
हाथ बढ़ा डाले कृपाल प्रभु ने ।
जनाबहि का गोबर आनंदपूर्वक वहन किया,
फिर भूमिका ग्रहण की दामाजी के दौत्य की ।

महाराष्ट्र का जनसाधारण पौराणिक संस्कृत साहित्य के साथ भली-भांति परिचित नहीं था । एकनाथ स्वामी ने अपने एकनाथी भागवत तथा रामायण भाष्य के माध्यम से उसका परिचय देने में सफल हुए ।

एकनाथ के साधन जीवन एवं साहित्यिक कृतिओं के ऊपर ज्ञानदेव की ज्ञानेश्वरी गीता का प्रभाव यथेष्ट था । एकनाथ ने स्वयं उसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया है । परन्तु तथ्यों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट रूप से दृष्टि-गोचर होता है, कि गुरु द्वारा अदिष्ट, भागवत-समर्थित जिस भक्ति-प्रेम की साधना को उन्होंने ग्रहण किया था, तथा गुरु कृपा के फलस्वरूप जिस साधन-में सिद्ध हुए थे उत्तरकाल में उनके व्यक्तित्व एवं जीवन-दर्शन में अत्यन्त अधिक परिमाण में प्रतिफलित हो उठी थी ।

अपनी प्रेम-भक्ति की साधना के विशिष्ट स्रोत भागवत के संबंध में एकनाथ की उक्ति बड़ी ही मनोरम है । उनका कथन है : "श्री भागवत एक बहुत बड़ा खेत है । सर्वप्रथम ब्रह्मा ने इसके लिए शास्त्र बीज प्रदान किए । नारद इस खेत के अधिकारी थे । इन शास्त्र बीजों का उन्होंने अपने निपुण

हाथों से वपन किया। व्यासदेव ने इस खेत के सुरक्षा की व्यवस्था की। उन्होंने दस मेड़ों से इसे चारों ओर से बांध डाला। इसके फलस्वरूप, यह स्थान दिव्य आनंद एवं शांति की फसल से भर उठा। शुक ने इस फसल के पहरा देने का भार ग्रहण किया। उन्होंने हरिनाम का अविरत निक्षेप किया, जिसके कारण पाप-रूप पक्षी दूर भाग गये। भक्त उद्धव ने कटी हुई फसल से दाने निकाले और कृष्णजी की वाणी के परम मूल्यवान दाने इससे बाहर निकाल कर संग्रह किए। इन दोनों से तैयार हुए हैं, दिव्यलोक का सौरभ बिखेरने वाले अनेक व्यंजन। उसके बाद परीक्षित का अभ्युदय हुआ। संसार से विच्छिन्न होकर, उन्होंने शुकदेव के मुख से पवित्र भागवत कथा सुन कर, भागवती आनंद की सुधा का पान किया। उनके पदचिह्नो का अनुसरण करते हुए श्रीधर ने भागवत के निगूढ़ मर्म कथाओं के ऊपर दृष्टिपात किया, तथा दिव्य आनंद का लाभ कर वे कृतार्थ हुए। जनार्दन स्वामी की प्रिय मक्षिका एकनाथ अपने मराठी भाषा के दोनों पंखों द्वारा उड़कर इस लुभावने आहार्य वस्तु पर बैठ गयी है, तथा तृप्तिपूर्वक इसका भोजन कर धन्य हो गयी है।"

भक्ति-साधना के विषय में एकनाथ स्वामी का मत था—परम-धाम जाने का प्रशस्त राजकीय पथ। श्री हरि स्वयं ही इस पथ पर रक्षा करने वाले हैं। इस मार्ग पर वे स्वयं चक्र हाथों में लेकर खड़े रहते हैं, तथा आक्रमण-कारी दस्यु एवं वैरियों कर हनन करते हैं। अपने अस्त्र से प्रभु एक और बड़ी कृपा का कार्य करते हैं। साधन-पथ में साधक का सबसे बड़ा शत्रु, उसका अहंबोध है। इस अहंबोध को कृपालु प्रभु, अपनी गदा के आघात से चूर्ण कर डालते हैं। उनके मंगल शंख की ध्वनि से भक्त का अंतर शुचि शुभ्र हो उठता है, तथा उसकी सहायता से ज्ञान लोक में प्रवेश करता है। फिर श्री-हस्तों में स्फुटित कमल द्वारा आप्तकाम भक्त की वे अभ्यर्थना करते है।

आदर्श भक्त एवं उनकी भक्ति सिद्धि का जो वर्णन एकनाथ ने किया है, उसका आधार, भागवत ही है :

—इस चरम अवस्था में पथ तथा लक्ष्यवस्तु एक हो उठते हैं—ईश्वर द्वारा वरणीय, कृपा प्राप्त दो चार साधकों में इसका घटन दृटिगोचर होता है। एक-निष्ठा एवं शरणागति के फलस्वरुप, साधक गुरु की कृपा लाभकर धन्य होते हैं, तथा आत्मा के स्वरुप की उपलब्धि करते हैं। उनको स्पष्ट हो जाता है कि सारे मनुष्यों के ही हृदय में श्रीहरि का मंदिर विराजमान है। वे श्रीहरि को अंतर में तथा बाहर सारी वस्तुओं में देखते हैं। फिर ध्याता तथा ध्येय में

कोई पार्थक्य नहीं रह जाता । भक्त स्वयं ही भगवान हो जाता है, जो सारे विश्व ब्रह्माण्ड में ओत-प्रोत हैं । इस अवस्था में उनका निवास, चलना-फिरना सभी भगवान में ही हो जाता है और वे भगवान का सारुप्य लाभ करते हैं । नाम-रूप कार्यकारण का विभेद समाप्त हो जाता है । इस अवस्था में सारी वस्तुओं के मध्य प्रवृत भगवत्-सत्ता को ही देख पाते हैं । सृष्टि के इतने वैचित्र्य तथा वैषम्य भेद के बीच भी वे एक और अद्वितीय, परमवस्तु श्रीभगवान को ही निरंतर प्रत्यक्ष करते हैं । एकनाथ कहते है कि सर्व भूतों में भगवत् दर्शन—यही है भक्ति साधना की चरम परिणति । परन्तु यह अवस्था भक्त तब तक लाभ नहीं कर पाता जब तक प्रभु की कृपा का आलोक उसके हृदय में उद्भासित नहीं होता ।[1]

गुरु जनार्दन स्वामी की कृपा और अपने साधन-बल से एकनाथ स्वामी एक भक्ति सिद्ध महापुरुष के रूप में परिणत हुए । अपने जीवन में यह सिद्धि किस तरह आयी तथा उस समय की उनकी अतीन्द्रिय अभिज्ञता क्या थी, ये तथ्य उनके अनेक अभंग पदों में निहित हैं ।

एक पद में वे गान करते हैं :

अन्तरात्मा में अध्यात्म सूर्य का दीप्तिमय प्रकाश प्रस्फुटित हुआ
प्रत्यक्ष किया, इस प्रकाश में उषा की आभा नहीं,
मध्याह्न अथवा अस्ताचल भी नहीं ।
कोई आदि और अन्त भी नहीं हुआ दृष्टिगोचर ।
मेरे समक्ष आत्मिक सूर्य का चिर उद्भासन हुआ,
पूर्व पश्चिम का पार्थक्य चिरकाल के लिए समाप्त हो गया ।
कर्म वा कर्महीनता दोनों ही हो गये अर्थहीन,
दिवा आकाश में चाँद की छाया जैसे ।

एकनाथ स्वामी भक्ति सिद्ध महापुरुष थे । अनेक लोगों द्वारा वंदित तथा अनेक लोगों के साधन-मार्ग के दिग्दर्शक । परन्तु गुरुदेव जनार्दन स्वामी के आदेशानुसार उन्होंने सतत जन-समाज में ही निवास किया तथा साधारण भक्त वैष्णव गृहस्थ के रूप में ही जीवन-यापन किया । घृत-प्रदीप जैसे यह जीवन पवित्रता एवं स्निग्धता से परिपूर्ण रहा । यह प्रदीप लगभग चालीस वर्षों तक समाज को आलोकित करता रहा । महाराष्ट्र के सहस्रों भक्तों का साधन जीवन इस कल्याणमय आलोक की दीप्ति से उज्वल हो उठा ।

---

१ रानाडे : मिस्टिसिजम इन महाराष्ट्र—पृ० २४६

पैठन में एकनाथ की दिनचर्या इस तरह थी : प्रातः उठ कर, वे कुछ समय ध्यान-भजन में व्यतीत करते। उसके बाद, नदी पर जाकर अपना स्नान तर्पण समाप्त करते। अब शास्त्र-पाठ का समय हो जाता। भागवत तथा गीता के पाठ एवं व्याख्या के समय अंतरंग भक्त-मंडली एकत्रित होती। दिव्य भाव से आविष्ट, परम वैष्णव के मुख से निर्गत वाणी एवं उपदेश सभी ध्यानपूर्वक सुनते। मध्याह्न भोजन का एक विशेष अंग था, अतिथि सत्कार। अतिथियों को साथ बैठा कर मिताहारी एकनाथ भोजन संपन्न करते। विश्राम के पश्चात् अपराह्न में फिर ग्रन्थों का पाठ होता। अपने दो प्रिय ग्रन्थों—ज्ञानेश्वरी, गीता अथवा भागवत की ही वे प्रायः आलोचना करते। उस अवधि में श्रोताओं के हृदय में प्रेम-भक्ति-रस का प्रवाह उमड़ पड़ता। सबसे आर्कषक था, एकनाथ का सांध्य संकीर्तन। स्वरचित अभंग पदों को गा-गा कर, एकनाथ स्वामी, भावरस से मत्त हो उठते, तथा भतों के मध्य भक्ति-प्रेम की प्रबल उद्दीपना जाग्रत हो उठती। दूर-दूर से इन वैष्णव महात्मा के दर्शनार्थ बहुत-से दर्शनार्थियों का आगमन होता।

एकनाथ, वास्तविकरूप से वैष्णव थे। भक्त भगवान के अपने लोग हैं; प्रियजन, इनके मध्य वर्ण वैषम्य रहेगा, यह उनके लिए असहनीय कल्पना थी। कीर्तन की जमात में ऊँच-नीच, ब्राह्मण-अन्त्यज, सभी के साथ वे एक साथ बैठते। जिस किसी जाति के भक्तों के साथ वे बिना बिचार के भोजन पर बैठते और उनका यह आचरण गाँव के ब्राह्मणों को सह्य नहीं था। वे लोग कठोर भाषा में एकनाथ के इस आचरण के विरुद्ध कटुक्तियां देते।

एकनाथ, इस विषय में बिलकुल निर्विकार थे। स्वरचित एक अभंग पद में उन्होंने गाया है—

हो कां वर्णाभाजी उग्रणी।
जो विमुख हरिचरणी।
त्याहुनी श्वपच श्रेष्ठ मानी—
जो भगवत् भजनी प्रेयल।

श्री हरि के चरण कमलों से जो विमुख है, वर्ण की दृष्टि से भी अग्रणी होकर वह निष्फल एवं व्यर्थ है। उससे तो वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है जो प्रेम-पूर्वक भगवद् भजन करता है।

पैठढ़ तथा उसके आस-पास में ग्राम के उच्च वर्ण के लोग स्वभावतः ही परंपरावादी थे। एकनाथ स्वामी का नृत्य-कीर्तन एवं धर्म-उपदेश से समाज में विच्छृंखलता आ रही है, तथा समाज को ध्वंस के मार्ग पर ले जा रहा है, यह

कह-कह कर उन्होंने बावेला मचाया। जनसाधारण में भी एकनाथ का प्रभाव दिन-दिन वृद्धि पर है, इससे भी उन्हें कम ईर्ष्या नहीं थी। निन्दा खूब जोर-शोर से शुरु हुई। विरोधियों ने यह प्रचार करना शुरू कर दिया कि एकनाथ का गुरु करण ही नहीं हुआ। वास्तविक रूप से उनके पास कोई साधना अथवा सिद्धि भी नहीं है। यश एवं लोभ के कारण उन्होंने आचार्यगिरी शुरू कर दी है, तथा लोगों को ठग रहे हैं।

इन सभी आक्षेपों को एकनाथ स्वामी ने सुना परन्तु, वे लेश मात्र भी विचलित नहीं हुए।। उदार, क्षमाशील साधक ने जो इसके उत्तर में लिखा है, वह किसी भी साधक वा समाज के समक्ष चिरकाल तक स्मरणीय है।

निन्दक कामाचा कामाचा।
गड़ी आत्मारामाचा।
निन्दक आमुची गंगा।
आमूची पातकें नेते भंगा।
निन्दक आमुचा सखा।
आमूची वस्त्रे धूनो फुका।
निंदक आमूची काशी।
आमूची पातकें अवघी नाशी–
निंदक आमूचा गुरु।
एका जनार्दन थोरु।[1]

निंदक मेरे अति प्रिय हैं। कारण वे एक ही आत्माराम द्वारा सृष्ट हैं। निंदक गंगा की पवित्र धारा-जैसे हैं, जो कि हमारी सब पाप राशि को वहन करते हैं। निंदक हमारे सखा हैं जो कि हमारे कलुषित वस्त्र बिना मूल्य के धो डालते हैं। निंदक हमारे लिए काशी-जैसे हैं, जो हमारे सभी पापों को विनष्ट करते हैं। निंदक हमारे गुरु तुल्य हैं, कारण वे ही मुझे जनार्दन स्वामी के शिष्य रूप बना देने के लिए सक्षम हैं।

साधक-कवि के रूप में एकनाथ स्वामी के दो अवदान धर्म-संस्कृति के इतिहास में अमर होकर रहेंगे। प्रथमतः अपनी रचनाओं के माध्यम से वेदान्त के तत्त्वों को उन्होंने साधारण मनुष्य के लिए बोधगम्य बना डाला है। द्वितीयतः मराठी भाषा में, उनके भक्ति-साहित्य के रचित होने के फलस्वरूप, मराठी जनसाधारण का अशेष कल्याण हुआ है।

१. उज्जीवन, आषढ़ १३७५, मध्ययुगेर भारतीय भक्ति साहित्य।

पहले वेदान्त के उच्चतर तत्वों की आलोचना, मात्र मुट्ठी भर संस्कृत शिक्षित मनुष्यों के लिए सुलभ थी। अब उसकी लोकप्रियता में वृद्धि होने लगी और समाज के प्रत्येक स्तर में उसकी छाप पड़ने लगी। एकनाथ के अभंग पद, ग्राम-ग्राम, नगर-नगर, में गाये जाने लगे। अनेक धर्म-सभाओं में एकनाथी भागवत एवं रामायण का पाठ होने लगा। स्वभावतः ही उसके तत्त्व एवं आदर्श का प्रचार द्रुतवेग से बढ़ने लगा।

उनके पूर्ववर्त्ती ज्ञानदेव ने अपने गीता भाष्य में वेदान्त तत्त्व की आलोचना यथेष्ट की थी। परन्तु ज्ञानदेव का दार्शनिक तत्व तथा उनकी भाषा अत्यन्त जटिल एवं दुर्बोध्य थी। उनकी दर्शन-व्याख्या मेघलोक-जैसे धुँए जैसी थी, साधारण मनुष्य के पहुँच से परे। परन्तु एकनाथ की व्याख्या अत्यन्त प्रांजल थी, जिससे गाँवों के साधारण मनुष्यों के लिए भी उसका रसास्वादन करना कठिन नहीं होता था। मर्त्य मनुष्य के समीप स्वर्गीय सुधा वे निर्विचार एवं अकृपण भाव से बिखेरते रहे।[1]

मराठी में रचित, एकनाथ के धर्मसाहित्य की प्रशंसा में मुखर होकर अध्यापक पटवर्धन लिखते हैं : "पंडितों के लिए लिख कर, नाम-यश के अधिकारी होने की इच्छा, एकनाथ को नहीं थी। इन्होंने समाज के सभी स्तरों में सत्य-बोध एवं ज्ञान के आलोक के विस्तार के लिए ही लिखा था। स्त्रियों, शूद्रों एवं अशिक्षित जनसाधारण के कल्याण के लिए ही उन्होंने लेखनी धारण की थी। पंडितों की घृणा को वे घृणित समझते तथा लाखों निरक्षर देशवासियों के दावे को मान्य करते हुए सर्वदा क्षेत्रीय भाषा में ही लिखते रहे।

"देशज भाषा के लिए उन्हें असीम साहस के साथ जूझना पड़ा था, तथा इतने काल के व्यवधान के बाद आज भी हमें देशज भाषा की लड़ाई चलाते रखना पड़ रहा है। उन दिनों के संस्कृत के विद्वान पंडितगण घमंड से भरे हुए थे। मराठी भाषा, उनके लिए मराठी अशिक्षित तथा निम्न स्तर के ग्रामीण लोगों की भाषा थी। इस भाषा में लिखकर अपने को हेय क्यों किया जाय, यही उनका मनोभाव था। एकनाथ, अपने पूर्ववर्त्ती ज्ञानदेव का ही अनुसरण कर चलते रहे। अन्ध, मूक जनसाधारण के लिए उनका हृदय क्रंदन कर उठा था। उन्होंने स्पष्ट रूप से अनुभव कर लिया था कि इस हतभाग्य जनसमाज के हृदय में प्रवेश का मार्ग उनकी मातृभाषा ही थी। इसी कारण उन्होंने उसी भाषा में अपने भक्ति साहित्य की रचना की।"

---

१. रानाडे : मिस्टिसिज़म इन महाराष्ट्र—पृ० २५०

देशज भाषा में धर्मग्रन्थ की रचना के लिए काशी के शास्त्रविद् पंडितों ने बड़ी कठोर भाषा में उन्हें धिक्कारा था। महाराष्ट्र की पारंपरिक विरोधिता भी बार-बार उनके विरुद्ध उग्र हो उठी थी। यहाँ तक कि घर के भीतर भी अपने पुत्र का तिरस्कार भी कम सहन नहीं करना पड़ा था। इस प्रतिकूल वातावरण में भी जिस दृढ़ता एवं आत्मविश्वास के साथ उन्होंने अपने द्वारा आरम्भ किए हुए व्रत का उद्यापन किया, वह विस्मयकर था।

पुत्र, हरि शास्त्री ने संस्कृत शास्त्रों का अध्ययन किया था, तथा ब्राह्मण-समाज में उनकी यथेष्ट प्रतिष्ठा थी। एक दिन पिता को पकड़ कर उन्होंने कहा : "पिता, हमलोगों का जन्म शास्त्रज्ञ ब्राह्मण वंश में हुआ है। सारे देश के एक श्रेष्ठ साधक रूप में तथा सुविज्ञ आचार्य के रूप में, आपका कितना सम्मान है। आपके जैसे लोग मराठी भाषा में धर्म-ग्रन्थ लिखेंगे तथा भाषण देंगे? उत्तर तथा दक्षिण के पंडितगण इसके लिए आपकी कितनी निन्दा कर रहे हैं!"

"यह सब तो मुझे पूर्ण रूप से ज्ञात है। वत्स तुम्हारी असली बात क्या है, यह तो कहो?" एकनाथ स्वामी ने शांत स्वर में कहा।

"मेरा वक्तव्य तथा सारे देश के पंडित-समाज का वक्तव्य एक ही है। अबसे आप अपने धर्मग्रन्थों की रचना संस्कृत भाषा में ही करें। आवश्यकतानुसार मराठी साहित्यिकगण उससे अनुवाद कर लेंगे। हमलोगों का विशेष अनुरोध है कि अबसे आप मराठी भाषा में लिखना तथा वक्तव्य देना—दोनों ही बन्द कर दें।"

"यह अनुरोध तो अन्याय है, तथा जाति एवं देश के लिए कल्याणकर नहीं है, वत्स।"

इसके बाद एक स्वरचित अभंग पद के माध्यम से एकनाथ ने देशवासियों को उपरोक्त प्रश्नों का उत्तर दिया :

संस्कृत वाणी देवें केली—
प्राकृत उरीं चोरापासुनी झाली
असोत जा अभिमान तुली।
बृथा बोली काम काज—
आतां संस्कृता अथवा प्राकृता।
भाषा आतमी जे हरिकथा
ते पावना चे तत्वताँ
सत्य सर्वथा मानली—

देवासि नाहीं वाचाविभान
संस्कृत प्राकृत ताय समान।
ज्या वाणी जास्लें ब्रह्म कथन
त्या भाषा श्रीकृष्ण संतोषे ।।

अर्थात् :

संस्कृत भाषा क्या है देवता की सृष्टि ?
और प्राकृत सृष्टि की है चोरों ने ?
वास्तव में अहंबोध के जाल में
भूल से कही गयी है ऐसी बात।
वास्तव में संस्कृत या प्राकृत जो भी हो,
जिस भाषा में वर्णित है हरि कथा—
पवित्र एवं सत्य वाणी रूप में
सभी हमारे लिए सम्मानित है।
भाषा हित देवता का कोई पक्षपात नहीं,
संस्कृत तथा प्राकृत दोनों समकक्ष है, उसके पास।
ब्रह्मवाणी, ब्रह्मज्ञान वर्णित है जिसकी भाषा में
उससे ही होता है प्रभु श्रीकृष्ण को संतोष।

पैठण एवं पंढरपुर को केन्द्र करके एकनाथ स्वामी ने प्रायः चालीस वर्ष व्यतीत किए। इस कर्ममय एवं साधनमय जीवन में, उनको घेर कर एक विशाल भक्तों का दल गठित हुआ। सहस्रों भक्त साधकों को उन्होंने अंतरंग भक्ति साधन देकर कृतार्थ किया, एवं सहस्रों मनुष्यों ने उनके भाव समृद्ध कीर्तन, भाषण एवं धर्म साहित्य से प्रेम-भक्ति की उद्दीपना का लाभ किया।

१५९९ ई०, में ६६ वर्ष की अवस्था में, अपने घर के आंगन में, हरिकथा कहते-कहते इन हरिमय भक्ति सिद्ध महापुरुष ने सज्ञान अवस्था में ही अमर लोक की ओर प्रयाण किया।

———

तिब्बती बाबा

शिव चतुर्दशी की पुण्य तिथि है, और घर में सभी पूजन की सामग्री संग्रह करने में व्यस्त है। बालक नवीनचन्द्र को भी बिलकुल अवकाश नहीं है। सारा दिन माता के पीछे-पीछे दौड़ भाग कर रहे हैं और आदेशानुसार नाना प्रकार के कार्य करने में व्यस्त हैं। संध्या के उपरान्त जननी ने कहा, "बेटा नवीन, पूजा का समय हो आया है, पुरोहित महाशय अब आने ही वाले हैं। मैं खिड़की वाले तालाब से चटपट स्नान करके आ जाती हूँ। जबतक तुम ठाकुर घर में बैठ कर पहरा दो। ध्यान रखना, मेरा यह सारा आयोजन नष्ट न हो जाय।"

जननी स्नान करने गयी हुई हैं तथा नवीन चुपचाप पूजा वाले कमरे में एकाकी बैठे हुए हैं। सारे दिन की दौड़-भाग से शरीर क्लान्त है, इसलिए थोड़ी देर बाद उसने दीवार का सहारा ले लिया। उसके बाद निद्रा आने में भी देर नहीं लगी।

माता भी इस बीच वापस आ गयी हैं। पूजन सामग्री की ओर देखते ही वे चौंक पड़ीं। यह क्या काण्ड हो गया। कई चूहों ने नैवेद्य की थाली के ऊपर चढ़कर चावल तथा केला खाना भी शुरु कर दिया है। पीछा करते ही वे सब लिंग विग्रह के ऊपर से होकर न जाने कहाँ अदृश्य हो गये।

वृद्धा जननी ने बालक नवीन को जगाया। भर्त्सना करते हुए उन्होंने कहा, "किस कुसमय में तुम्हें मैंने यहाँ पहरे पर रख कर स्नान करने के लिए प्रस्थान

किया था । तुम्हें सोने का और कोई समय नहीं मिला ? देखो तो, चूहों ने सभी नैवेद्य उच्छिष्ठ कर दिया है । मुझे अब फिर से थाली सजानी होगी । तुम इतने बेकार हो !"

थोड़ी देर मौन रहने के बाद बालक ने दृढ़ स्वर में उत्तर दिया, "अच्छा मां, जो ठाकुर अपने भोग के चावल-केले की रक्षा नहीं कर सकता, उसकी पूजा का क्या फल होगा, यह क्या तुम मुझे बता सकोगी ?"

"यह क्या रे, क्या कुलक्षण की बात कह रहा है ? क्या तू अन्ततः नास्तिक ही हो जायगा ?"

"नहीं माँ—नास्तिक नहीं, यह तो आस्तिकता की बात है । ईश्वर को इस कोठरी में चावल-केला, फूल-बेलपत्र देकर घेरकर बैठाये रखने को मेरा मन नहीं करता । मेरा मन कहता है—जल, स्थल, अन्तरीक्ष तथा अनन्त कोटि ग्रह ताराओं में वे विराजमान हैं । हाँ माँ, मैं उसी ईश्वर की बात सोचता हूँ ।"

"इस अल्प अवस्था में इतनी बड़ी-बड़ी बातें करने को कहाँ से सीख गया–" मां ने हँसते हुए कहा ।

इसी अवधि में पुरोहित स्मृतिरत्न महाशय ने पूजा गृह में प्रवेश किया । कुछ देर खड़े रहकर उन्होंने, माता-पुत्र के वार्तालाप को सुना । आगे बढ़ कर उन्होंने नवीन की माँ से कहा "नहीं माँ, बड़ी-बड़ी बातें नही, तुम्हारा पुत्र अपने संस्कार के अनुरूप ही बातें कर रहा है । उसके सारे शरीर में अपूर्व सात्विक चिह्न विद्यमान हैं । निश्चित रूप से पूर्व जन्म के त्याग वैराग्यमय साधन संस्कार लेकर ही इसने जन्म ग्रहण किया है । मुझे विश्वास है कि बड़ा होकर यह वंश को उज्ज्वल करेगा ।"

बालक नवीन अब तक पूजाघर से बाहर निकल चुका है । जननी ने धीर एवं शांत स्वर में कहा, 'स्मृतिरत्न महाशय, सोच रही हूँ सम्भवतः आपकी बात ठीक ही है । बहुत दिन पहले की बात है, एक परिव्राजक सन्यासी हमलोगों के घर आकर उपस्थित हुआ था । ज्योतिष विद्या में उसकी प्रचुर गति थी । मेरी हस्तरेखा देखकर उन्होंने कहा था–माँ तुम्हारे ६ ठे गर्भ से एक पुत्र संतान होगा जो कि संसार त्यागी महात्मा होगा । नवीन मेरी वही संतान है । सचमुच मुझे बराबर ही भय रहता है कि कहीं उस अभ्यागत सन्यासी की भविष्यवाणी फलित न हो जाय ।"

मां की यह आशंका सत्य में ही परिणत हुई । दो वर्षों के अंदर ही नवीन, पिता-माता एवं आत्मपरिजनों की माया अनायास ही तोड़कर अध्यात्म

जीवन के मार्ग पर अग्रसर हो गया। उत्तर काल में वह एक महाशक्तिधर एवं समर्थ महापुरुष के रूप में परिणत हो गया। दिग्दिगंत में उसने तिब्बती बाबा के नाम से प्रसिद्धि लाभ की।

बंगलादेश के अंतर्गत सिलहट शहर से थोड़ी ही दूर पर अधुना नामक एक ग्राम में लगभग १८२० ई० में तिब्बती बाबा ने जन्म ग्रहण किया। पिता रामचन्द्र चक्रवर्ती एक दस हजार रुपये आय वाले साधारण जमीन्दारी के मालिक थे। इस क्षेत्र में दान, ध्यान एवं जनकल्याण कार्यों में चक्रवर्ती परिवार की प्रचुर ख्याति थी। रामचन्द्र की सहधर्मिणी परम भक्तिमती थीं। अतिथि सेवा, गृहदेवता की पूजा एवं धर्म कर्म के कार्यों में उनके निष्ठा तथा उत्साह की कोई सीमा नहीं थी।

पुत्र नवीनचन्द्र उस समय स्थानीय स्कूल में अध्ययन कर रहे हैं, अवस्था होगी, लगभग पन्द्रह वर्ष। उनका स्वभाव अपने अन्य पांच भाइयों जैसा नहीं है। जैसे खेल-कूद में तबियत नहीं लगती वैसे ही स्कूल की पढ़ाई-लिखाई में भी कोई उत्साह नहीं है। संसार से विरक्ति दिन पर दिन बढ़ती ही चली जा रही है। एक दिन जननी को बुलाकर कहा, "देखो माँ, कुछ दिनों से कितने ही प्रश्न मेरे मानस पर उठ रहे हैं, जिनका उत्तर मैं नहीं खोज पा रहा हूँ। कहाँ से मनुष्य आता है और पुनः कहाँ वापस चला जाता है? इस सृष्टि के मूल में कौन विद्यमान है? उसका स्वरूप क्या है? पता नहीं, क्यों ये सारे प्रश्न भूत की तरह मेरे पीछे लग गये हैं? मैं यह भी समझ रहा हूँ कि संसार का पूर्णतया त्याग करके नहीं निकलने से मेरे जीवन की इन जिज्ञासाओं का कभी उत्तर नहीं मिलेगा।"

"यह सब तू पागलों-जैसा क्या बक रहा है? घर में बैठकर क्या धर्म नहीं होता! शास्त्रपाठ करो, साधन-भजन करो, उसीसे तुम्हें परम वस्तु का लाभ होगा"—जननी ने करुणस्वर में कहा।

"नहीं माँ, ऐसा नहीं हो सकेगा। मैंने अपने जीवन का सिद्धान्त स्थिर कर लिया है। आज रात को ही मैं अपने नवीन जीवन के पथ का पथिक होकर निकल पड़ूँगा।

जननी कुछ देर तक वज्राहत-सी चुपचाप बैठी रहीं। उसके बाद शांत स्वर में उन्होंने कहा, "बाबा, मैं समझ रही हूँ, प्रारब्ध का खण्डन नहीं किया जा सकता। तुम्हारे मुँह से यह बात सुनने को मिलेगी, इसी आशंका में इतने दिनों से थी। अब समझ सकी हूँ कि तुम्हारे जन्म से पूर्व अभ्यागत सन्यासी ने जो भविष्यवाणी की थी, वही फलीभूत होने जा रही है। मन में

भय अवश्य था, परन्तु साथ ही साथ अपने को मैंने आश्वस्त कर लिया था। ईश्वर के संधान में जा रहे हो—मैं इसमें बाधक नहीं होऊँगी। आशीर्वाद देती हूँ कि कुल को पवित्र एवं उज्वल करो।''

''माँ, तुम्हारी इतने दिनों की देवपूजा सार्थक है। सत्य ही तुम महान हो।'' यह कहते हुए नवीन ने माता के चरणों में साष्टांग प्रणाम निवेदित किया।

पिता एवं अन्यान्य आत्म-परिजनों से विदा लेकर, उसी रात मुमुक्षु किशोर ने घर का परित्याग कर दिया।

यही, सर्व त्यागी किशोर उत्तरकाल में शक्तिधर महापुरुष तिब्बती बाबा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। योग एवं तंत्र-साधना में सिद्धकाम होकर उत्तर भारत तथा तिब्बत में सर्वत्र उन्होंने सहस्रों आर्त एवं मुमुक्षुओं को परमाश्रय प्रदान किया है।

यात्रा से पूर्व जननी ने कहा, ''बाबा, नियति के आह्वान पर त्याग एवं तितीक्षामय जीवन का वरण कर तुम घर छोड़कर चले जा रहे हो। इस मार्ग पर संभवतः दुःख, कष्ट सभी कुछ सहन करना पड़ेगा। परन्तु मैं तुम्हारे कंगाल-जीवन की बात सोच भी नहीं पा रही हूँ। अस्तबल में एक छोटा टट्टू घोड़ा है, उसे लेता जा। उसी पर बैठकर परिव्राजन करो। और यह कुछ रुपये भी लेता जा। इससे तुम्हारे भोजन का कुछ दिनों तक प्रबन्ध हो जायगा। एक और निर्देश का पालन करना—गृहस्थ के अन्न की कभी भिक्षा नहीं करना। उससे हीन संस्कार से ग्रस्त हो जाना पड़ता है। अगर भिक्षा ग्रहण करनी ही पड़े, तो मठ-मंदिर अथवा अखाड़े की भिक्षा ग्रहण करना।''

माता के अनुरोध की रक्षा करने का वचन देकर पुत्र ने सर्वदा के लिए उनसे विदा ली।

नवीनचन्द्र का गन्तव्य स्थल था अन्ततः गंगा तीर स्थित सिद्ध पीठ काली-घाट। पिता की अतिथिशाला में प्रायः परिव्राजक साधु-संन्यासियों का आगमन होता। इन्हीं के मुख से उन्होंने सुन रखा है--उत्तर, पश्चिम एवं दक्षिण भारत के सभी बड़े-बड़े महात्मागण इस सिद्धपीठ के दर्शन करने हेतु आते हैं। नवीन ने मन ही मन सोचा कि सर्वप्रथम वहीं जाकर वे उपयुक्त गुरु का संधान करेंगे। अगर वहाँ गुरु की प्राप्ति नहीं हुई तो वे पश्चिम की ओर अग्रसर होंगे।

कलकत्ता नगरी उस समय तक बहुत साधारण ही थी, और भवानीपुर तो अरण्यवेष्ठित एक साधारण ग्राम मात्र था। इसी ग्राम के एक अंचल में भागीरथी के तीर पर जाग्रत सिद्ध पीठ, कालीघाट अवस्थित था। दूर-दूर से बहुत से साधु-संन्यासी इस साधन क्षेत्र में आकर उपस्थित होते रहते। कोई देवी-दर्शन के पश्चात् सन्निहित निर्जन वनभूमि में साधन-भजन करते तथा कोई-कोई सागरद्वीप अथवा कामाख्या पहाड़ के मार्ग पर अग्रसर हो जाते।

कुछ दिन तक इस क्षेत्र में घूम-फिर कर नवीन गया में आकर उपस्थित हुए। दीनदयाल उपाध्याय गया के एक शीर्षस्थानीय कविराज थे। शास्त्रविद् पंडित के रूप में भी इस शहर में उन्होंने प्रचुर ख्याति अर्जित की थी। अकस्मात्, तरुण परिव्राजक नवीनचन्द्र पर एक दिन उनकी नजर पड़ गयी। उपाध्यायजी ने कहा, "बेटा, तुम्हारे मुख पर प्रतिभा की दीप्ति है। भविष्य में तुम कर्मठ (कृती) पुरुष के रूप में सर्वत्र सम्मानित होगे। इस तरह घूम-फिर कर अपना अमूल्य जीवन नष्ट क्यों कर रहे हो ? मेरी कुटिया में आकर निवास करो तथा दर्शन एवं आयुर्वेद शास्त्र की शिक्षा प्राप्त करो। इससे तुम्हारा मंगल ही होगा।"

"परन्तु मैं तो बैठे-बैठे बिना किसी कार्य के आपका अन्न भक्षण नहीं कर पाऊँगा। इसके अलावा गृहस्थ के अन्न की भिक्षा ग्रहण करने का मेरी माता का निषेध भी है।"—नवीनचन्द्र ने उत्तर दिया।

"मातृ-आज्ञा का तुम पालन करते रहो बेटा, यही तो मैं चाहता हूँ। ठीक है, तुम उपार्जन करते हुए ही अपने भोजन की व्यवस्था करो। मेरे औषधालय में सहायता देने के लिए एक कर्मचारी की आवश्यकता है। तुम उस कार्य को करो और उसके पारिश्रमिक के रूप में मेरे घर पर दोनों समय भोजन करो। इसमें तुम्हारी किसी आपत्ति का सवाल ही पैदा नहीं होता। इस सुयोग से तुम कविराजी शास्त्र के पठन-पाठन का अवसर पा जाओगे। तुम जब दूसरे के अन्न को ग्रहण करने के इच्छुक नहीं हो तब ऐसी एक अर्थकरी वृत्ति को सीख लेना क्या तुम्हारे लिए लाभप्रद नहीं होगा ?"

नवीन राजी हो गये। मन में सोचा कि जननी द्वारा प्रदत्त रुपये तो अब शेषप्राय हैं। कुछ तो थैली से चोरी हो चुका है तथा बाकी पिछले कई महीने की खाद्य सामग्री क्रय करने में व्यय हो चुका है। टट्टू घोड़ा भी गंगा पार होने से पूर्व ही त्याग कर दिया है। संभव है, कविराजी विद्या थोड़ी-बहुत सीख लेने से कुछ सुविधा ही हो जाय। परिव्राजक जीवन में लोगों के चिकित्सा के

व्रती होने पर परोपकार भी होगा, साथ ही जीविका की भी कुछ व्यवस्था हो जायगी। भिक्षा के लिए किसी के पास हाथ भी फैलाना नहीं पड़ेगा।

गया के उपाध्याय जी के पास एक के बाद एक करके तीन वर्ष व्यतीत हो गये। अब नवीन बहुत दुविधा में पड़े। वैद्यक शास्त्र की थोड़ी-बहुत जानकारी तोउन्हें हो चुकी है तथा औषधि इत्यादि देने की पद्धति का भी उन्हें ज्ञान हो चुका है। इससे उनके जीविका निर्वाह की समस्या तो थोड़ी सुलझ गयी है, परन्तु मुमुक्षा की जो आकांक्षा लेकर उन्होंने गृहत्याग किया था, उसका तो कोई समाधान नहीं मिला! इस तरह समय नष्ट करने का तो कोई औचित्य नहीं है। दूसरे दिन ही वे चुपचाप खिसक गए और वाराणसी के मार्ग पर अग्रसर हुए।

परिव्राजन एवं उपयुक्त गुरु के संधान का नशा उन पर पूरी तरह छाया हुआ है। वाराणसी में विश्वनाथ दर्शन के बाद उन्होंने साधुओं के मठों और अखाड़ों में घूम-फिर कर कुछ समय व्यतीत किया। उसके बाद तीर्थयात्रियों के एक दल के साथ पैदल ही वृन्दावन धाम में प्रविष्ट हुए।

कुञ्ज-कुञ्ज तथा मठ-मंदिर या गलियों में सर्वत्र केवल 'जय राधे' ध्वनि मुखरित हो रही है। यहाँ का साधु-समाज कृष्ण-राधारानी की सेवा-पूजा तथा लीला-चर्चा में विभोर है। वृन्दावन धाम भक्तिरस से प्लावित है। परन्तु पता नहीं, यह परिवेश नवीन को अनुकूल नहीं लगा। उन्होंने निश्चय किया कि जल्दी ही वे कश्मीर की यात्रा पर चल देंगे।

यमुना घाट पर भ्रमण करते समय एक दिन उनकी मुलाकात एक मित्र से हो गयी। युवक का नाम जगन्नाथ चौधरी है तथा यहाँ के एक प्रभावशाली जमींदार का पुत्र है, नवीन का चेहरा तथा भावभंगी से आकृष्ट होकर उसने उनसे घनिष्टता स्थापित कर ली। नवीन के जैसे ही उसके हृदय में भी संसार से विरक्ति उत्पन्न हो गयी है। वह भी किसी शक्तिमान गुरु से दीक्षा लेने के लिए कृतसंकल्प हो चुका है।

बातचीत में ही उसने नवीन से एक दिन कहा, "भाई, मेरे तथा तुम्हारे जीवन का उद्देश्य प्रायः एक ही है। इसीसे तुमसे एक गुप्त बात मैं खोलकर कहता हूँ। कुछ दिनों से मैं एक कापालिक महात्मा के संपर्क में आया हूँ। शक्ति साधना में ये सिद्ध पुरुष हैं। मात्र यही नहीं, मृत देह में ये प्राण संचार भी कर देते हैं। मैं समझता हूँ कि हम दोनों उन्हीं से चलकर मंत्र-दीक्षा ग्रहण करें। शक्ति साधना के मार्ग से मोक्ष लाभ भी काफी जल्दी हो जाता है। मेरे साथ क्या इस महापुरुष के दर्शन करने चलोगे?"

नवीन चटपट राजी हो गये। सोचा, ये कई वर्ष तो व्यर्थ घूमने-फिरने में ही नष्ट हो गये। सही अर्थों में किसी शक्तिमान साधक का दर्शन उनके भाग्य में अबतक हुआ ही नहीं। चौधरी जो कुछ कह रहे हैं, वह यदि सत्य है, तो इन्हीं महापुरुष का आश्रय वे ग्रहण करेंगे।

उनके पूछने पर ज्ञात हुआ कि शक्तिसाधक वृन्दावन के दूसरी तरफ, यमुना के उस पार धारवाड़ के निविड़ अरण्य में निवास करते हैं। वहाँ के प्राचीन मंदिर के निर्जन परिवेश में, वे एक संकल्प लेकर तपस्या कर रहे हैं। महात्मा की अनुमति पाकर सुविधानुसार चौधरी एक दिन नवीन को साथ लेकर वहाँ उपस्थित हुए।

कृष्ण वर्ण तथा आजानु लम्बित बाहुवाले वह एक भीमकाय महापुरुष हैं। माथे पर रुक्ष जटाओं का भार है तथा दोनों रक्तवर्ण नेत्र प्रज्वलित वह्नि शिखा-जैसे देदीप्यमान हैं। मानों स्वयं कालभैरव इस निर्जनवन में मूर्त हो उठे हैं।

भीति एवं संभ्रम मिश्रित अंतर से नवीन ने इन महापुरुष को साष्टांग प्रणाम किया। उस दिन कुछ विशेष बातचीत नहीं हुई। जल्दी ही दोनों को विदा लेनी पड़ी।

कापालिक के दर्शन करके नवीन के उत्साह की सीमा नहीं है। भक्ति का पथ उन्हें विशेष पसन्द भी नहीं है। उन्होंने सोचा कि इस शक्तिधर महापुरुष का आश्रय पाकर वे कृतार्थ हो जायेंगे।

थोड़े ही दिनों के बाद की बात; चौधरी दौड़ते-भागते नवीन के पास आकर उपस्थित हुए। उत्साहपूर्वक वे उनसे कहने लगे, "हमदोनों के जीवन में एक बहुत बड़ा सुयोग आ गया है। महात्मा से अभी-अभी मिलकर आ रहा हूँ। उन्होंने कहा है कि परसों रात्रि में, अमा निशा के मध्य प्रहर में वे शक्ति साधना की एक विशेष क्रिया सम्पन्न करेंगे। उसके बाद शव देह में जीवन का संचार करके इस क्रिया की समाप्ति होगी। इस अवसर पर उन्होंने कृपा करके हमदोनों को उपस्थित रहने की अनुमति दी है। इसके अलावा उन्होंने निर्देश दिया है कि हमलोग यमुना में स्नान करके तथा नवीन वस्त्र धारण करके ही वहाँ जायँ। क्या पता संभव है कि हमदोनों पर कृपा करके उसी समय दीक्षा तथा साधन के निर्देश का दान करें।"

निर्धारित समय से कुछ पहले यमुना पार करके दोनों ने धारवाड़ जंगल में स्थित मंदिर में प्रवेश किया। भीतर का कक्ष मशाल के प्रकाश से आलोकित

है। भीमकाय महापुरुष का चेहरा आज तो और भी उग्र तथा भयंकर है। गले में हड्डी की माला लटकी हुई थी तथा ललाट पर बहुत बड़ा रक्त चन्दन का टीका है। कारणवारि पान कर लेने के फलस्वरूप दोनों नेत्र और भी रक्ताभ हो उठे हैं। उकड़ू बैठकर तथा मुंह फेरकर वे एक मृत्तिका-पात्र में क्रिया साधन के उपचार सजाने में व्यस्त हैं। तरुण भक्तों के कक्ष में घुसते ही उन्होंने गंभीर स्वर में कहा, "तुम लोग आ गये हो, यह बड़ा अच्छा हुआ। पास ही पास जो दो आसन रखे हुए हैं, उन पर बैठ जाओ।"

नवीन तथा चौधरी दोनों ही ने चुपचाप बिना किसी वार्तालाप के यंत्र-चालित-सा आसन ग्रहण कर लिया।

पार्श्व में ही एक वृहदाकार मृत्तिका दीपाधार में प्रदीप जल रहा है। हाथ में पकड़े हुए भाण्ड को नवीन की ओर बढ़ाते हुए कापालिक ने कहा, "सतर्क रहो तथा ध्यान रखना, दीप बुझने न पावे। तेल कम होने पर इस भाण्ड में रखा हुआ तरल पदार्थ दीप में डाल देना।"

भाण्ड को हाथ में लेते ही एक भयानक दुर्गन्ध से नवीन विचलित हो उठे। उन्हें नाक पर जोर से कपड़ा लगाना पड़ा।

महापुरुष ने निर्विकार भाव से कहा, "आतंकित होने का कोई प्रयाजन नहीं है। वह मृतक के माथे की चर्बी है, जो कुछ दिन पूर्व संग्रह की गई थी। इसी कारण थोड़ी दुर्गन्ध आ गई है। कोई उपय भी नहीं है। इस अनुष्ठान में तेल अथवा घृत बिलकुल निषिद्ध है। इसी वस्तु का व्यवहार करना आवश्यक है।"

दीपाधार में तेल डालकर नवीन अपने आसन पर स्थिर होकर बैठ गये। अब उनकी सामने की ओर दृष्टि पड़ी। मंदिर के गर्भ से टंगा हुआ एक जोड़ा मोटी रस्सी उन लोगों के आसन की एक ओर दीवार से लगी हुई है। दोनों रस्सियों में रक्त जवा पुष्प की माला लगी हुई है। अबतक कापालिक के आयोजन पूर्ण हो चुके हैं। अनुष्ठान की सामग्री एक डाली में सजाकर तथा उसके ऊपर एक खड्ग रख कर उसने दोनों के सामने रखा।

दोनों बन्धु रस्सियों की ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से देख रहे हैं। उनके मनोभाव को समझते हुए कापालिक ने कहा, "वत्सगण इन रस्सियों का प्रयोजन शीघ्र ही समझ जाओगे। मंदिर गर्भ तक यह सीढ़ी की तरह चला गया है। मंत्र द्वारा संजीवित एक शव, अभी इस रज्जु के सहारे धीरे-धीरे अवतरण करेगा और तुमलोगों के पास ही आवेगा। घबराना नहीं। अपने-अपने आसन पर स्थिर होकर बैठे रहो।"

अब कापालिक मंदिर के गर्भगृह में प्रवेश करके गंभीर स्वर में थोड़ी देर तक मंत्र उच्चारण करते रहे। क्षण भर बाद ही मंदिर के विस्तृत कक्ष में एक अप्रत्याशित दृश्य उद्घाटित हुआ। दोनों समानान्तर रज्जुओं के सहारे एक सिंदूर-चर्चित कृष्णवर्ण मनुष्य का शव सामने से आगे आ रहा है। मात्र इतना ही नहीं, इस शव में जीवन के लक्षण भी दृष्टिगोचर हो रहे हैं। उसके दोनों हाथों में दो वृहत्काय खड्ग है। संजीवित मृतदेह उत्तेजित होकर विकट किड़मिड़ शब्द कर रहा है तथा दोनों खड्गों को आन्दोलित कर रहा है।

नवीन और चौधरी आतंक से अस्थिर हो उठे हैं। शरीर रोमांचित हो उठा है। आँखें फटी रह गयी हैं तथा हृदय पर मानों बार-बार हथौड़े की चोट पड़ रही है।

भीमकाय जीवन्त शव प्रायः उनके आसनों के सम्मुख आ चुका है। नहीं! अब क्षण भर भी देरी करना उचित नहीं है। यह शव अभी उन दोनों बन्धुओं को अविलम्ब शव बना डालेगा।

जगन्नाथ चौधरी बलवान एवं साहसी पंजाबी युवक है। क्षण भर में ही उसने अपने कर्तव्य का निश्चय कर डाला। डाली के ऊपर रखे खड्ग को उठा कर उसने दोनों रस्सियों के ऊपर जोर से प्रहार किया। साथ ही साथ दोनों बंधु बिजली जैसी गति से मंदिर के प्रांगण से बाहर आ गये तथा अंधकार-पूर्ण जंगल के बीच से जान लेकर भागे।

कापालिक, क्रोध तथा उत्तेजना से उन्मत्त हो उठा। मशाल हाथ में लेकर तथा हुंकार करते हुए उसने दोनों युवकों का पीछा किया। अंततः विफल मनोरथ होकर उसने पीछा करना छोड़ दिया।

दोनों बंधु भागते-भागते खरोपा के जंगल के छोर पर आ गये। अब उस पार जाना होगा। इतनी रात को नदी पार करना भी विपज्जनक है, परन्तु इतना सोचने-समझने का अवसर ही कहाँ है? दोनों बन्धु अपने इष्टों के नाम का स्मरण करते हुए नदी में कूद पड़े।

काफी कष्ट से जब वे उस पार वृन्दावन के तट पर पहुँचे तो उनके शरीर थकावट से चूर हो चुके थे। सामने ही एक वैष्णव साधु की छोटी-सी झोंपड़ी थी, जिसके आंगन में जाकर उन्होंने चैन की सांस ली और निश्चिन्त हो गये।

थोड़ी देर बाद ही झोंपड़ी का द्वार खुला। रात प्रायः शेष हो चुकी थी। भगवान का भजन गाते-गाते एक प्रवीण साधक बाहर आये। आंगन में सोये

हुए नवीन और चौधरी को देखकर उन्होंने स्नेह भरे कण्ठ से कहा, "तुम लोग कौन हो बच्चा ? रात्रि के अंतिम प्रहर में यहाँ इस तरह ठण्ढी जमीन पर क्यों सोये हुए हो ?"

दोनों तरुणों की थकावट अबतक काफी कम हो चुकी है। भूमिशय्या का त्याग कर, उन दोनों ने सौम्यमूर्त्ति बाबाजी को प्रणाम निवेदित किया तथा संक्षेप में अपने साथ घटी पिछली रात की सारी घटनाओं का वर्णन किया।

बाबाजी ने धीरे स्वर में कहा, "बेटा, तुम लोगों का भाग्य अच्छा था। निश्चित मृत्यु से तुम लोग बच निकले हो। जिस शक्ति साधक की तुमलोग बात कर रहे हो, उसकी सारी बातें मैं जानता हूँ—वह एक नरघातक कापालिक है। उसने संकल्प ले रखा है कि नौ नरमुण्डों का संग्रह करना है, और नवमुण्डी आसन पर तपस्या करके उसे सिद्धकाम होना है। अबतक उसने सात मुण्डों का संग्रह कर लिया है। अबकी तुम दोनों के मुण्ड प्राप्त कर लेने पर उसकी इतने दिनों की मनोकामना पूर्ण हो जाती। कापालिक में कुछ सिद्धाई अवश्य है, इसके अलावा वह शव के साथ कुछ बाजीगरी दिखाकर भी अपने कुकार्य सिद्ध करता है।"

दोनों बंधुओं का परिचय प्राप्त कर लेने के बाद नवीन की ओर देखते हुए वैष्णव तपस्वी ने कहा, "बाबा, गुरु अन्वेषण के लिए तुम्हारी इतनी उतावली क्यों ? इतने अल्प वयस में तुम त्याग और तितिक्षामय जीवन की ओर अग्रसर हो रहे हो यह बड़े आनन्द का विषय है। मैं कामना करता हूँ, तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी। सद्‌गुरु तुम्हारे ऊपर कृपा करेंगे।"

अगले दिन ही जगन्नाथ चौधरी जी के पिता पुत्र से सारी बात सुनने के बाद क्रोधोन्मत्त हो उठे। वृन्दावन के वे अत्यन्त प्रभावशाली जमींदार हैं, तथा धन एवं मान दोनों दृष्टि से संपन्न हैं। सत्वर उन्होंने काफी लोगों को साथ लेकर धारवा जंगल में, उस नराधम कापालिक की खोज में, प्रवेश किया। उन्होंने संकल्प कर लिया था कि एक बार पकड़ लेने पर वे उसके नरमुण्ड-संग्रह की वासना का सर्वदा के लिए अंत कर देंगे। किन्तु कापालिक का कहीं पता नहीं लगा। प्राचीन मंदिर में घुसने पर दीख पड़ा कि कक्ष के भीतर पिछली रात के सारे उपचार इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। कापालिक कहीं गायब हो चुका था और वन में काफी खोज करने के बाद भी उसे पकड़ना संभव नहीं हो सका।

कुछ और समय वृन्दावन में व्यतीत करने के बाद नवीनचन्द्र ने फिर अपना परिव्राजन आरम्भ किया। कुरुक्षेत्र, पुष्कर, ज्वालामुखी इत्यादि की परिक्रमा शेष करके वे कश्मीर के प्रसिद्ध तुषारतीर्थ अमरनाथ पहुँचे।

अमरनाथ से वापसी में भाग्यवश उनका एक शक्तिधर योगी से साक्षात्कार हुआ। योगिवर की कृपादृष्टि नवीन के ऊपर पड़ी। मुमुक्षु तरुण को कुछ दिनों तक अपने साथ रखकर उन्होंने योग साधना की अनेक प्रक्रियाएँ बता दीं। इस तरह कुछ दिन और बीत गये।

इसके उपरान्त नवीन को एक दिन पास बुलाकर योगिवर ने स्नेह भरे स्वर में कहा, "बेटा, अब मैं यहाँ से डेरा-डण्डा उठाऊँगा, तुम्हें भी अब मेरा साथ छोड़ना होगा।"

नवीन पर मानों वज्रपात हुआ। कातर स्वर में उन्होंने कहा, "प्रभु, किंचित कृपा-भिक्षा दान करने के बाद ही आप मुझसे बिमुख क्यों हो रहे हैं? कृपया, अनुमति दें कि अपना यह नगण्य जीवन मैं आपकी सेवा में ही उत्सर्ग करके धन्य होऊँ।"

"ऐसा नहीं होगा बेटा, मैं तुम्हारा गुरु नहीं हूँ। तुम्हारी एकाग्रनिष्ठा तथा तुम्हारा शुद्ध आधार देखकर मैं थोड़ी-बहुत सहायता करने से अपने को नहीं रोक पाया। तुम्हारे गुरु तिब्बत में हैं। तुम अब उसी तरफ परिव्राजन आरंभ करो। एक बात ध्यान में रखना। तिब्बत में प्रवेश करना बड़ा कठिन और विपज्जनक है। सर्वप्रथम तुम नेपाल जाओ। वहाँ के प्रधान मंत्री मेरे निकटतम भक्तों में हैं। मेरे नाम का उल्लेख करके उनसे सहायता की याचना करो। इससे तुम्हारा तिब्बत क्षेत्र में प्रवेश काफी सुगम हो जायगा।"

विपन्न हृदय से नवीनचन्द्र ने कश्मीर से बिदा ली। उसके बाद घूमते-घूमते वे नेपाल दरवार में उपस्थित हुए। वहाँ के प्रधान मंत्री की सहायता मिलने में भी उन्हें विलम्ब नहीं हुआ। कई सप्ताह तक नेपाल के प्राचीन मंदिरों तथा साधन-पीठों के दर्शन करने के बाद, राजपुरुषों की व्यवस्था के अनुसार, व्यवसायियों की एक टोली के साथ वे तिब्बत में उपस्थित हुए।

काफी खोजबीन के बाद उन्हें एक सुसंवाद मिला। निकटस्थ पर्वत की गोद में भरत गुहा अवस्थित है। वहीं एक प्रचीन, शक्तिमान शैवताँत्रिक साधक अवस्थान करते हैं। दुर्गम चढ़ाई पार करके नवीनचन्द्र इन साधक के समक्ष उपस्थित हुए।

साधक-समाज में ये महापुरुष परमानन्द ठक्कर के नाम से परिचित थे। उच्च स्तर के लामा साधुओं की भी इन पर विशेष श्रद्धा थी। योग बल तथा

तांत्रिक सिद्धाई के ये अधिकारी थे और इसी दिव्य शक्ति की सहायता से वे कई सौ वर्षों से शरीर धारण किये हुए थे। इन्हीं ठक्कर बाबा से ही नवीन चन्द्र ने दीक्षा लाभ किया। दीर्घकालीन कठोर साधना के उपरान्त उन्होंने योग तथा तंत्र में असामान्य विभूतियों का लाभ किया। साधना तथा सिद्धि के आलोक से उद्भासित, तरुण साधक, अल्पकाल में ही तिब्बती बाबा के नाम से परिचित हो गए।

बाद के दिनों में कलकत्ता के एक भक्त के घर में तिब्बती बाबा अपने गुरु परमानन्द ठक्कर के साधन-ऐश्वर्य एवं दीर्घ आयुष्काल की बातों का वर्णन किया करते थे। ठक्कर बाबा की आयु कई सौ वर्ष हो चुकी है, यह सुनकर एक तार्किक विचारों वाले भक्त ने पूछा, "बाबा, किसी मनुष्य की अवस्था कई सौ वर्ष हो चुकी है, ऐसी बात कहने पर आजकल के शिक्षित, विचारशील मनुष्य विश्वास नहीं करेंगे। मात्र इतना ही नहीं, कुटिल मुस्कान बिखेरते हुए यह भी कहेंगे कि यह सब बच्चों की कथाएँ हैं!

तिब्बती बाबा क्रोध में बरस पड़े। कहा, "देखो, जो ऐसी बातें कहेंगे वह तुम्हारे जैसे ही महामूर्ख होंगे, और क्या? याद रखो—निश्वास और प्रश्वास का नाम ही जीवन है। इन दोनों क्रियाओं के बन्द करने का कौशल जो जानता है वही जीवन के गति का स्तंभन कर सकता है, तथा वही सैकड़ों वर्ष जीवित रह सकता है। इसमें आश्चर्य प्रकट करने की तो कोई बात नहीं है। समर्थ योगी पुरुषगणों में अनेक इस तरह अपनी आयु बढ़ा सकते हैं। आत्म-भोला, निराशक्त मन में अगर सहसा कभी एक संकल्प जग उठे तो श्वास-प्रश्वास की क्रिया निरुद्ध हो जायगी तथा जीवन की परिधि बढ़ जायगी। मेरे गुरुदेव की शक्ति का ज्ञान तुम सालों को क्या होगा? वे विपुल आध्यात्मिक शक्तियों के आधार होकर सैंकड़ों वर्षों तक विद्यमान थे।"

उसी समय बाबा के श्रीमुख से तिब्बत के उच्च कोटि के साधकों की योग विभूति की कथा एवं कई निगूढ़ यौगिक क्रियाओं की व्याख्या सुनकर भक्त श्रोतागण अवाक् रह गए।

तिब्बती बाबा के गुरु तंत्र एवं योग युग्मरश्मियों के धारक थे। नवागत तरुण शिष्य को उन्होंने इन दोनों साधनाओं में पारंगत बना दिया था। शिष्य के साधन जीवन के मूल में पूर्व जन्मों के सात्विक संस्कारों की भी दृढ़ भित्ति थी। इसके अलावा साधना के प्रति उनकी अखण्ड निष्ठा भी विद्यमान थी। इसीलिए शुद्ध-सत्व एवं शक्तिमान इस तरुण के आधार पर अकृपण भाव से अपने साधन ऐश्वर्य को ढालने लगे।

क्रमशः सात वर्ष कृच्छ्र एवं अक्लांत साधना की समाप्ति पर ठक्कर बाबा ने कहा, "वत्स, तुम्हें मैं अपने हृदय से आशीर्वाद देता हूँ। इतने दिन बाद तुम आप्तकाम हो चुके हो। अब तुम्हारा भरत गुहा में बैठ कर साधना करने का प्रयोजन शेष हो चुका है। अब तुम तिब्बत के जाग्रत देवस्थान एवं साधना-पीठों में बैठ कर तपस्या करो और पूर्ण आत्मज्ञान का लाभ करो।"

इसी परिव्राजनकाल में स्थानीय जनसाधारण में तिब्बती बाबा के साधन-ऐश्वर्य की ख्याति प्रचारित हो गयी। उनका प्रभाव उच्च स्तर के लामाओं जैसा ही स्थापित हो गया। मात्र इन्हीं दिनों ही नहीं, काफी समय व्यतीत हो जाने के बाद भी तिब्बत के जनमानस पर इन बंगाली महात्मा की पवित्र स्मृति अम्लान ही रही।

स्वनामधन्य पंडित सत्यचरण शास्त्री महाशय एक बार तिब्बत परिव्राजन हेतु गये थे। उनसे वहाँ के पर्वत पर स्थित एक मठ के मठाधीश ने प्रसंग-वशात् तिब्बती बाबा के विषय में जिज्ञासा की थी। उस समय तक बंगाल में तिब्बती बाबा की प्रसिद्धि नहीं हुई थी। इसलिए शास्त्री महोदय उनके संबंध में कुछ कहने में असमर्थ ही रहे।

मठाधीश लामा ने तब इन महापुरुष के संबन्ध में अपने प्रत्यक्ष एवं व्यक्तिगत अनुभवों का वर्णन किया था। बाद में उन्होंने साश्चर्य कहा था, "पंडितजी मुझे बड़ा विस्मय हो रहा है कि ऐसे शक्तिमान महात्मा की बात से आपके देश के लोग अभी तक अवगत नहीं हैं।"

प्रफुल्लचन्द्र गुह नामक एक विशिष्ट सरकारी कर्मचारी को एक बार दार्जिलिंग के निकट घूम में सिक्किम महाराज के लामागुरु से साक्षात्कार हुआ था। गुह महाशय ने देखा कि लामागुरु की पूजा-वेदी पर तिब्बती बाबा का माला चंदन युक्त एक चित्र स्थापित है। विस्मित होकर उन्होंने प्रश्न किया, "ये तो हमारे तिब्बती बाबा का चित्र है। आप लोग इनकी क्या पूजा करते हैं ?"

इस चित्र को तुरत भक्तिपूर्वक माथे से लगाकर लामागुरु ने कहा, "हाँ, हमलोगों में जो लोग इन महात्मा को जानते हैं, वे भक्तिपूर्वक इनकी पूजा करते हैं। बहुत-से तिब्बती साधक तथा गृहस्थ इनको एक परम श्रद्धेय लामा ही मानते हैं। काफी दीर्घ अवधि तक तिब्बत-प्रवास के कारण वे इस देश के वासियों के आत्मीय हो गये हैं।"

इन शक्तिधर महापुरुष का वास लगभग बत्तीस वर्षों तक तिब्बत में रहा। इस दीर्घ अवधि में इन्होंने मात्र प्राचीन योगियों तथा साधकों का ही सान्निध्य

लाभ नहीं किया वरन् शक्तिमान लामा एवं बौद्ध तांत्रिकों के भी घनिष्ट संपर्क में आये, तथा उनसे साधना की बहुत-सी निगूढ़ क्रयायें भी सीखीं।

किशोर अवस्था में गया में रहते हुए तिब्बती बाबा ने वैद्यक शास्त्र का थोड़ा ज्ञान लाभ किया था। उनकी बराबर यही इच्छा थी कि इस शास्त्र का और अधिक ज्ञान अर्जन करके असहाय दीन दरिद्र नर-नारियों का कुछ क्लेश निवारण करेंगे। तिब्बत के दीर्घ प्रवास एवं संपर्क ने यह सुयोग प्रदान किया। लामा एवं बौद्ध तांत्रिकों के मठों में प्राचीनकाल से ही औषधि संबन्धी प्रचुर गवेषणा अनुष्ठित होती रही है। यहाँ के साधकों द्वारा बहुत-सी विस्मयकर औषधियाँ आविष्कृत होकर व्यवहृत होती रही है। अपार निष्ठा एवं धैर्य के साथ तिब्बती बाबा ने इन प्रसिद्ध मठों से इससे संबन्धित तथ्यों का संग्रह किया तथा तिब्बती वैद्य शास्त्र एवं भेषज विज्ञान में असामान्य ज्ञान अर्जित किया। उत्तरकाल में उनके आचार्य जीवन के समय इस भेषज ज्ञान ने बहुत-से लोगों का कल्याण किया था।

तिब्बत वास के अंतिम सात वर्षों में ये महापुरुष ध्यान की गहराइयों में निमज्जित हो गये थे। कभी गगनचुंबी हिममंडित गिरिगुहाओं में, तो कभी द्रुतवेगी निर्झरणियों के किनारे या कभी सर्प-व्याघ्रपूर्ण निबिड़ अरण्यों में समाधिस्थ अवस्था में ये अपना समय व्यतीत करते। तिब्बत के लामा एवं पहाड़ी लोग इन तपस्यापरायण महात्मा को खूब अच्छी तरह पहचानते थे। दूर से ही वे लोग इनको भक्तिपूर्वक प्रणाम करके अपने दैनिक कार्यों में चले जाते। इन पहाड़ियों में से अनेक उनको पागल बाबा के नाम से संबोधित करते और कुछ लोगों के लिए वे तिब्बती बाबा के नाम से भी परिचित हो गये।

इन सात वर्षों की अनवरत तपस्यामय जीवन के शेष होने पर तिब्बती बाबा ने अपनी बहु आकांक्षित सिद्धि प्राप्त की और वे पूर्ण मनष्काम हो गये। इस पूर्णता के बाद वे मध्य एशिया के नाना दुर्गम तीर्थों की यात्रा के लिए निकल पड़े।

कैलाश के सन्निकट च्यां ट्यां क्षेत्र से ही इनकी यह पदयात्रा आरम्भ हुई। इस परिव्राजन से संबन्धित तथ्यों का संग्रह करके एक भक्त निबंधकार ने आकर्षक वर्णन किया है[1]—

1. तिब्बती बाबा : अमियलाल मुखोपाध्याय—हिमाद्रि २० माघ १३६२

"च्यांग् ट्यांग से तिब्बती बाबा विदेशी साथियों के साथ प्राचीनकाल के प्रशस्त उत्तरगामी वाणिज्य पथ से मंगोलिया की राजधानी उर्गा नगर की ओर अग्रसर हुए। योग पारंगम होने से उन्हें विजातीय भाषा-भाषियों के साथ व्यवहार में कोई असुविधा नहीं हुई। उर्गानगर वासी गणों ने भी इस श्रेणी के एक भारतीय हिन्दू पर्यटक को अतिथिरूप में पाकर अपने को कृतार्थ अनुभव किया, और उनकी इच्छानुसार उन्हें साइबेरिया भ्रमण में भी सुविधा तथा सुयोग प्रदान किया।

मंगोल लोग स्वभावतः ही अतिथिपरायण होते हैं। किसी विदेशी अपरिचित अतिथि के आते ही उसकी सादर अभ्यर्थना करते हैं तथा पूजा-पार्वण उत्सवादि में कभी-कभी अतिथि-अभ्यागतगण को साथ लेकर साइबेरिया क्षेत्र के निकटवर्त्ती स्थान पर भोजन एवं आमोद-प्रमोद करते हैं। उर्गा नगर की, बौद्धों में एक विशिष्ट तीर्थ के रूप में, गणना है। विभिन्न देशों से यात्रियों के दल का यहाँ प्रायः आवागमन रहता है।

तिब्बती बाबा ने इस स्थान से उत्तर स्थित साइबेरिया में प्रवेश किया। उर्गा से पेमात् चीन होकर प्राचीन राजपथ उत्तर ओर बैकाल झील तक गया है। इसी झील के निकट एक पवित्र पर्वत के ऊपर विशाल यज्ञभूमि है। वहाँ बुरकान देवता के लिए भारतीय वैदिक अश्वमेध यज्ञ-जैसा, समय-समय पर यज्ञ अनुष्ठित होता है। यज्ञ के वृहत् कुण्ड में उपयुक्त रूप से अग्नि प्रज्वलित करके उसमें चारों पैर बाँध कर जीवित अश्व की आहुति दी जाती हैं और उसके साथ ही तारासुन नामक देशी सुरा भी (वैदिक सोम जैसे) ढाल दी जाती है। इस क्षेत्र में वैदिक वज्रदेवता इन्द्र भी विभिन्न नामों से पूजित हैं। चीन में भी पुरातन काल में इसका उल्लेख मिलता है।

तिब्बती बाबा साइबेरिया से पूर्व चीन आये। इस तरह भ्रमण करते हुए कैलाश से काराकोरम, क्विलिन, आलटिन इत्यादि पर्वतीय रास्तों का संकट झेलते हुए दुर्गम जंगलों से पूर्ण तथा हिंस्र जन्तुओं की वासभूमि तथा पर्वतीय नदो-नालों को उन्होंने पार किया। चांट्याग होते हुए उर्गा पहुँचने तक लग-भग उन्होंने तीन हजार मील का पदव्राजन किया।

बहुत साल बाद, कलकत्ता में रहते समय, एक बार तिब्बती बाबा की एक पुरानी झोली से रूसी, चीनी तथा मंगोलियन भाषा में लिखे अनेक पत्र तथा मानपत्र निकले थे। इनमें क्या लिखा है, यह पूछने पर उन्होंने मुस्करा कर उत्तर दिया, "अगर तुम्हें यह जानने का उत्साह है तो जो ये भाषायें जानता है उससे इसका अर्थ समझ लो।"

प्रायः बीस वर्षों तक इन महात्मा ने कलकत्ता नगरी तथा उसके आसपास निवास किया था। परन्तु यह दुःख की बात है कि उपरोक्त मध्य एशियाई भाषाओं में लिखित पत्रादिकों का अर्थ जानने की किसी भक्त या गवेषक को कोई उत्साह या तत्परता नहीं हुई।

चीन, मंगोलिया तथा साइबेरिया भ्रमण में तिब्बती बाबा ने लगभग ६ हजार मील का लम्बा रास्ता तय किया और उसके बाद बर्मा में आकर उपस्थित हुए। अकिंचन सन्यासी और अपरिग्रही, भिक्षा के रूप में किसी से उनका कुछ ग्रहण करने का स्वभाव नहीं था—इस अवस्था में इस दीर्घ पथ का उन्होंने किस तरह अतिक्रमण किया तथा किस तरह अपने शरीर का भरण-पोषण किया, यह अत्यन्त विस्मयजनक है। बाद के समय में बाबा ने अपने भक्तों से कहा था, "तिब्बती लामाओं से जो भेषज विद्या तथा द्रव्यगुण की जानकारी जो मैंने सीखी थी, उसी से मध्य एशिया भ्रमण में मैं अपनी प्राण-रक्षा कर सका।"

रास्ता चलते-चलते बहुत-से जगहों पर वे असाध्य रोगियों की चिकित्सा भी करते। उनके लिए इन आर्त पुरुषों में जैसे दीन-दरिद्र ग्रामवासी एवं भिक्षु थे वैसे ही धनी गृहस्थ, व्यवसायी एवं शासक कुल के लोग भी थे। इन्हीं लोगों की कृतज्ञतापूर्वक अर्पित सहायता से तिब्बती बाबा के परिव्राजन एवं देह-निर्वाह के सारे व्यय पूरे हो जाते।

बर्मा प्रवास के समय तिब्बती बाबा के साथ रामरतन बंद्योपाध्याय नामक एक भक्त बंगाली से परिचय हुआ। कुछ दिन बाद इन्हीं भक्त के प्रबल आग्रह पर वे मद्रास आ गये। इसी समय मद्रास के क्षेत्र में उनको केन्द्र करके धीरे-धीरे एक साधन आश्रम खड़ा हो गया और कुछेक मुमुक्ष व्यक्ति महापुरुष से साधन तथा उपदेश ग्रहण करके धन्य हुए।

मद्रास के आश्रम में तिब्बती बाबा के भेषज विद्या तथा रासायनिक प्रक्रिया के भी नाना चमत्कारी प्रयोग दृष्टिगोचर हो जाते। आर्त भक्तों के रोना-धोना मचाते ही वे तिब्बत से प्राप्त अपने रासायनिक ज्ञान का उनके आरोग्य के लिए प्रयोग करते। इस तरह चिकित्सा विद्या में पारंगत होने की उनकी ख्याति धीरे-धीरे चारों ओर फैल गयी। इन्हीं दिनों एलोरा के राजा एक भयानक एवं दुरारोग्य व्याधि से पीड़ित थे। उनकी अवस्था धीरे-धीरे संकटापन्न होती चली गयी तथा राज दरबार से तिब्बती बाबा के लिए बार-बार आकुल आह्वान आने लगा।

अंततः बाबा का हृदय करुणा विगलित हो गया और वे एलोरा प्रासाद में जा कर उपस्थित हुए। उनके द्वारा प्रदत्त एक भेषज से मृतकल्प राजा व्याधि से छुटकारा पा गये, और थोड़े दिनों में ही पूर्णतया स्वस्थ हो गये। इस घटना के बाद तिब्बती बाबा दाक्षिणात्य के अभिजात क्षेत्रों में पूर्णतया परिचित हो गये।

इन्हीं दिनों हैदराबाद के निजाम ने अपने प्रासाद में बड़े समारोह से एक सर्वजनीन धर्म सभा का अनुष्ठान किया। एलोरा के राजा से तिब्बती बाबा के साधन-ऐश्वर्य की बात सुनकर उन्होंने इन महापुरुष को अपनी धर्मसभा में सादर आमंत्रित किया। भक्त एवं अनुयायियों के प्रबल आग्रह के कारण बाबा इस आमंत्रण को अस्वीकार नहीं कर सके तथा यथासमय उन्होंने सभा के मंच पर आसन ग्रहण किया।

हैदराबाद कालेज के तत्कालीन अध्यक्ष, तथा स्वनामधन्या नेत्री सरोजिनी नायडू के पिता, डाक्टर अघोरनाथ चट्टोपाध्याय इस महती सभा के एक विशिष्ट सदस्य थे। इस सभा में तिब्बती बाबा ने किस तरह भाग लिया तथा उनकी किस तरह अभ्यर्थना हुई, इसका विवरण[1] प्रत्यक्षदर्शी डाक्टर चट्टोपाध्याय ने अपने कलकत्ता के मित्रों के समक्ष यों दिया था :

निजाम हैदराबाद के प्रासाद में भव्य समारोह के साथ इस धर्म सभा का शुभारंभ हो रहा है। विभिन्न वक्तागण अपने-अपने धर्म एवं समाज के आदर्शों की व्याख्या कर रहे हैं, तथा उनके वैशिष्ट्य एवं माहात्म्य का उद्घोष कर रहे हैं। आयोजनकर्ताओं के अनुरोध से तिब्बती बाबा को भी एक छोटा भाषण देना पड़ा। यह भाषण जितना ही विद्वत्तापूर्ण था, उतना ही हृदयस्पर्शी। प्राचीन हिन्दू धर्म के स्वरूप को समझाते हुए उन्होंने वेदान्त के महान आदर्शों को जन साधारण के समक्ष प्रस्तुत किया। गंभीर स्वर में उन्होंने कहा—'हिन्दू धर्म कोई सांप्रदायिक धर्म नहीं है, वरन् यह सनातन धर्म है। हमारे सत्यद्रष्टा ऋषियों ने मानवात्मा एवं परमात्मा के अभेदत्व तथा ऐक्य का ही प्रतिपादन किया है। सत्य सर्वदा अपरिच्छिन्न एवं अविभाज्य है—इस आदर्श को प्रस्तुत करने में अन्य धर्मों-जैसा इसमें विरोधाभास नहीं है। मेरा धर्म यह स्पष्ट घोषणा करता है कि अविद्या हननकारी, वही परमात्मा जीवदेह में हंसरूप में विराजमान है। जो कुछ भी, ऊपर, नीचे, दक्षिण या बायीं ओर, सम्मुख या पीछे है, वे वही हैं।—स एवेदः सर्व :। सब कुछ वही हैं। उन्हीं का

१ हिमाद्रि : तिब्बती बाबा, १८ फाल्गुन १३६२; डॉ० कुञ्जेश्वर मिश्र रामायणबोध—मुखबन्ध।

स्वरूप मैं हूँ और मैं ही सब कुछ हूँ ।—अहमेवेदः सर्वः । हमलोगों का धर्म निर्भीक भाव से यह घोषणा करता है—मैं आत्म-स्वरूप हूँ, मैं स्वाधीन हूँ । किसी से भय करने का मुझे कोई प्रयोजन नहीं है । मात्र इतना ही नहीं—वरन् मैं ही अविनाशी परम सत्य हूँ ।

तेजस्वी महासाधक के गुरुगंभीर कण्ठ की हुँकार एवं परम सत्य की निर्भीक घोषणा से सभा-कक्ष प्रतिध्वनित होता रहा । श्रोता-गण मंत्र-मुग्ध जैसे, इन महापुरुष की ओर निर्निमेष दृष्टि से देखते रहे । सभा के समापन पर स्वयं निजाम तिब्बती बाबा के समक्ष आये और बार-बार अपनी श्रद्धा के सुमन उन पर अर्पित करने लगे । उन्होंने बहुमूल्य खिलअत प्रदान करने का प्रस्ताव किया ।

तिब्बती बाबा ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया, "निजाम बहादुर, आपके इस प्रस्ताव के लिए धन्यवाद, परन्तु ये सब वस्तुएँ ग्रहण करना तो मेरे लिए संभव नहीं है । वास्तविक साधु और गृहस्थ के मनोभाव में काफी अंतर है । आप जिसे धन, ऐश्वर्य के नाम से पुकारते हैं, वह मेरी दृष्टि में बंधन मात्र के सिवा और कुछ नहीं है ।"

अपने भक्त-मंडली के साथ तिब्बती बाबा ने सभास्थल का त्याग किया और उपस्थित जन-समूह इन तेजस्वी महापुरुष की ओर प्रशंसा भरी दृष्टि से देखता ही रह गया ।

मद्रास क्षेत्र में थोड़े दिनों तक अपनी कृपा-लीला प्रस्तुत करने के बाद, तिब्बती बाबा, उत्तर भारत की ओर चले आये । नैमिषारण्य, अयोध्या इत्यादि पुण्यतीर्थों के दर्शन के बाद वे काशीधाम में आकर उपस्थित हुए ।

तिलभाण्डेश्वर मंदिर के सम्मुखस्थ, जनविरल गली में एक दिन अपने मन की मौज में घूम-फिर रहे थे । सहसा एक ब्रह्मचारीवेशी भीमकाय साधक पथरोध करते हुए उनके सम्मुख उपस्थित हुए । प्रणाम निवेदित करने के बाद उन्होंने हाथ जोड़कर कहा, "बाबा, मैं मुमुक्षु होकर देश-देशांतर में भ्रमण कर रहा हूँ । आपको देखकर मुझे यह प्रतीत हो रहा है कि आप ही मेरे निर्दिष्ट गुरु हैं ! कृपा करके मुझे दीक्षा दें जिससे यह जीवन सफल हो ।"

पथ चलते-चलते त्योरी चढ़ा कर स्वाभाविक कठोर स्वर में तिब्बती बाबा ने कहा—देखते ही सद्‌गुरु की पहचान हो गयी ? तुम तो बाबा, खूब चतुर हो ! दीक्षा, शिक्षा लेने से पहले ही तुमने उसका फल प्राप्त कर लिया है और शक्तियाँ भी अर्जित कर ली हैं ?"

"अपने चक्षुओं से नहीं वरन्, आप जैसे ही एक शक्तिधर महात्मा के चक्षुओं से मैंने आपको पहचान लिया है। कुछ दिन पूर्व हिमालय क्षेत्र में परिव्राजन कर रहा था। वहीं बड़े रहस्यमय ढंग से इन महात्मा से परिचय हुआ। उन्होंने ही कह दिया—"जल्दी काशीधाम पहुँचो। पहुँचने के दूसरे ही दिन तुम्हें अपने निर्दिष्ट गुरु का दर्शन मिल जायगा। पहचानने में तुम्हें कोई कष्ट नहीं होगा।" उसके बाद उन्होंने चेहरे का भी वर्णन किया और उसी से आपका चेहरा हूबहू मिल गया। इसीलिए तो कृपा-भिक्षा चाहता हूँ।"

"अच्छी बात है, परन्तु बाघ से लड़ाई करने का शौक अकस्मात मिट कैसे गया?

"बाबा, आप सर्वज्ञ हैं। यह सत्य है कि मैंने मात्र अपने शारीरिक बल के गर्व के नशे में हिंस्र बाघों के साथ लगातार लड़ाई की है। पता नहीं, कैसे मेरा वह नशा एकदिन अनायास लुप्त हो गया। अब वन के व्याघ्र के स्थान पर अपने मन के व्याघ्र को पददलित करने की बात ही सोच रहा हूँ। परन्तु इस कला से तो मैं सर्वथा अनभिज्ञ हूँ।"

"वन का बाघ ही अच्छा था, रे! मन के बाघ पर लगाम लगाना अधिक कठिन है। जानते हो, वायु पर विजय प्राप्त करके मन को वश में करना होता है। यह वायु तो बाघ नहीं, वरन् सिंह है। वश में आते ही तो तुम सिद्धि के द्वार में पहुँच जाओगे, तथा वश में न आने पर कभी-कभी इसी के हाथों प्राण भी विसर्जित कर देने पड़ते हैं।"

"इसीलिए तो मैं आप-जैसे शक्तिमान एवं दक्ष कर्णधार के शरणापन्न हुआ हूँ।"

"शिष्य के कान कभी-कभी खूब जोर से ऐंठने पड़ते हैं। उस समय पलायन तो नहीं कर जाओगे?"

"चरणों में एकबार आश्रय देकर परीक्षा तो लीजिए!"

"घबराओ नहीं, तुम्हारा कार्य होगा। तुम सही स्थान पर ही आ गये हो। हिमालय के जिन माहात्मा की बात तुम कह रहे हो, उनकी सारी बातें मुझे ज्ञात हैं। उनके निर्देश से तुम आ रहे हो, इससे भी मैं अनभिज्ञ नहीं था। इतनी देर से यहाँ पर तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहा था।"

इन साधनेच्छु मुमुक्षु साधक का नाम था श्यामाकान्त वन्द्योपाध्याय, तथा ये ढाका जिले के रहने वाले थे। उनकी शारीरिक शक्ति, पराक्रम एवं साहस अतुलनीय था। जंगली बाघ से मल्लयुद्ध करने की अद्भुत क्षमता उन्होंने अर्जित की थी। अपनी सर्कस पार्टी थी, उसी को लेकर श्यामाकान्त देश-विदेश में

भ्रमण करते और अपने असामान्य शौर्य एवं मनोबल का प्रदर्शन करके असंख्य दर्शकों को विस्मयाभिभूत कर डालते। सर्कस के पंडाल में सीना तानकर बाघ के सामने जाकर खड़े होते और मात्र अपने वज्र तुल्य मुष्टिकाघात से अपने प्रतिद्वन्दियों को पददलित कर डालते। इन भीमकर्मा पुरुष के पराक्रम को देखकर जनसाधारण आनंदविह्वल हो उठता और उनका बार-बार अभिनंदन करता।

उत्तर भारत के अनेक नगरों में हजारों दर्शकों के सम्मुख श्यामाकान्त ने इस अद्‌भुत लड़ाई का प्रदर्शन किया था।

अकस्मात् एक दिन श्यामाकान्त ने अपने मल्ल-जीवन का समापन कर दिया, तथा घर-संसार छोड़कर मुक्ति-साधन के पथ की ओर अग्रसर हो उठे।

अनेक स्थानों का भ्रमण करते हुए वे हिमालय की तराई में, एक सिद्धपीठ में, आकर उपस्थित हुए। एक वृद्ध महात्मा रास्ते के किनारे ही एक झोपड़ी डाल कर तपस्या करते थे। रास्ता चलते-चलते अकस्मात् श्यामाकान्त की दृष्टि उस ओर पड़ी। नजदीक जाकर उन्होंने हाथ जोड़कर प्रणाम निवेदित किया।

मुस्कराते हुए महात्मा ने कहा, "शाबाश बेटा, कितना शक्तिमान तुम्हारा शरीर है!"

"जी, थोड़ी शक्ति थी अवश्य"—महाबली श्यामाकान्त ने सविनय निवेदन किया।

"इस समय उस शक्ति का कितना अवशिष्ट है, यह तो बताओ?"

"बाबा, किसी साधारण मनुष्य से तो अधिक ही है, इसमें क्या संदेह?"—इतने दिनों की शारीरिक शक्ति का गर्व शरीर तथा मन से दूर नहीं हो पाया था, पुराना गर्व अभी अवशिष्ट था। श्यामाकान्त उसी अभ्यास के अनुसार सीना फुलाकर वीरदर्प से तन कर खड़े हो गये।

आसन के पास ही कन्द-फूल खोदने वाला एक बड़ा-सा चिमटा था। इस चिमटे को उठाकर वृद्ध तपस्वी ने जोर से उसे मिट्टी में गाड़ दिया। मुस्करा कर उन्होंने कहा, "शारीरिक शक्ति का गर्व कर रहे हो? ठीक है, चिमटे को उखाड़ सको तो मैं समझूँ।"

इसमें कौन-सी बात है! आगे बढ़कर अवज्ञापूर्वक श्यामाकान्त ने चिमटे को पकड़ा और उखाड़ते समय विस्मित हो उठे। जमीन में वह मात्र कुछेक इंच ही गड़ा था, परन्तु बार-बार जोर लगाने पर भी उसे उखाड़ सकना संभव

नहीं हो रहा है। पूरे मल्ल जीवन में ऐसी हास्यास्पद स्थिति तो कभी नहीं हुई। यह कैसा अद्भुत एवं अविश्वसनीय काण्ड है!

बहुत देर तक खींचातानी करने के बाद लज्जित हो उठे और चिमटा पूर्ववत् मिट्टी में ही गड़ा रहा।

महात्मा के मुख पर कुटिल हास्य की रेखा थी। स्नेहपूर्ण स्वर में उन्होंने कहा, "बेटा, तुम देख तो चुके, तुम्हारी शारीरिक शक्ति कितनी नगण्य है। और इसी को लेकर इतने दिनों तक गर्व से फूले हुए थे।"

"प्रभु, अपराध क्षमा करें, तथा इसके साथ ही कृपा भी करें। आपके इस अलौकिक शक्ति के सामने मेरी यह शारीरिक शक्ति कितनी नगण्य है, इसे मैं अच्छी तरह जान गया। फिर भी प्रबल संस्कार आसानी से मिट नहीं पाता। मेरी प्रार्थना है, आप मुझे अपने चरणों में आश्रय दें। संन्यास दीक्षा तथा साधन देकर मुझे मुक्त करें।"

प्रत्युत्तर में महात्मा ने श्यामाकान्त को अवगत करा दिया कि उनके निर्दिष्ट गुरु वे नहीं हैं। उनके गुरु इन दिनों वाराणसी में निवास कर रहे हैं। गुरु की पूरी हुलिया बताने के बाद उन्होंने फिर कहा कि उनके दर्शन होते ही श्यामाकान्त को उन्हें पहचानने में कोई असुविधा नहीं होगी।

महात्मा के निर्देशानुसार शीघ्र ही उन्होंने अपने गुरु तिब्बती बाबा का संधान पाकर उनके समक्ष आत्मसमर्पण किया। इन आत्मज्ञानी महापुरुष से श्यामाकान्त ने संन्यास दीक्षा ग्रहण की तथा सन् १८९९ में दीक्षा दान के बाद तिब्बती बाबा ने उनका नवीन नामकरण किया — सोहंस्वामी।

संन्यास ग्रहण के उपरान्त सोहंस्वामी के तपस्या का अध्याय प्रारम्भ हुआ। उनके जीवन में गुरु प्रदत्त मंत्र चैतन्य के फलस्वरूप एक अपूर्व ध्यान तन्मयता दृष्टिगोचर होने लगी। उनका यह ध्यानस्थ भाव लगातार छः मास तक रह पाया।

जन कोलाहल से दूर एक निर्जन कुटिया में सोहंस्वामी की कठोर तपस्या अनवरत चलती रहती। एक बार नवदीक्षित शिष्य को अपने आहार तथा निद्रा का भी ज्ञान नहीं रह गया था। इन दिनों तिब्बती बाबा पुत्रवत् स्नेह से उनके भोजन, वस्त्र तथा रक्षा की व्यवस्था करते। इतना ही नहीं, शिष्य के शौचक्रिया के बाद वे उनके मल-मूत्र की अपने हाथों से स्वयं सफाई करते।

छः मास पूरे होने पर शिष्य को हाथ पकड़ कर उठाते हुए उन्होंने कहा, "साला, मैं क्या तुम्हारा मेहतर हूँ? और कितने समय तक ये सब कार्य

करूँगा जाओ, काफी आगे बढ़ चुके हो, अब तुम अपना मार्ग स्वयं प्रशस्त करो। मैं भी अब अपनी इच्छानुसार निकलूँगा।"

साष्टांग प्रणाम निवेदित करते हुए सोहंस्वामी ने कहा, "गुरुदेव, आपके वियोग से मुझे कष्ट अवश्य होगा, परन्तु साथ ही मैं यह भी जानता हूँ कि आपका विधान मेरे लिए कल्याणकारी ही सिद्ध होगा। जाने से पहले इतना आदेश तो अवश्य देते जायँ कि भविष्य में मेरी दिनचर्या किस प्रकार चलेगी।"

गुरु-गंभीर कण्ठ से तिब्बती बाबा ने कहा, "फिर ध्यान से सुनो। जीवन की सारी प्रतिष्ठा, सारे माया-मोह के बन्धन काटकर आत्मज्ञान लाभ के लिए निकल पड़े हो। इसके लिए निरंतर आत्मचिन्तन की आवश्यकता है। शक्ति एवं विभूतियाँ सभी अग्रसर होते हुए साधकों के जीवन में आती हैं। इनके जाल में कभी न फसना। आगे बढ़ते रहना – मात्र आगे बढ़ते रहना।

"कहाँ रहकर तपस्या करूँगा। किस तरह जीवन-यापन करूँगा, इसका भी निर्देश आप देते जायँ।"

"अभी नैमिषारण्य जाकर कुछ दिनों तक साधन-भजन करो। उसके बाद कहीं हिमालय में जाकर अपना डेरा जमाओ। यह भी ध्यान रखना, संन्यासी-गण प्रायः ही भिक्षा ग्रहण को लेकर माथापच्ची करते हैं। वैसा कभी मत करना। जाने से पूर्व मैं तुम्हें कई असाध्य रोगों की दवा बतला जाऊँगा। उससे लोगों की प्राण रक्षा होगी, तथा तुम्हें भी जीविका के विषय में कुछ नहीं सोचना पड़ेगा।

गुरु से शेष उपदेश तथा इन सब औषधियों का ज्ञान प्राप्त करके सोहं-स्वामी ने वाराणसी का त्याग किया। कुछेक मास नैमिषारण्य में साधन भजन करने के उपरान्त उन्होंने हिमालय की ओर प्रस्थान किया। जीवन की संध्या में, साधनरत अवस्था में, नैनीताल के समीपस्थ गेठिया गाँव स्थित अपने आश्रम में उनका शरीर-पात हुआ।

वाराणसी क्षेत्र के भक्तों पर कृपा वितरण के पश्चात् तिब्बती बाबा कलकत्ते में आकर उपस्थित हुए। इस महानगरी तथा इसके निकटस्थ क्षेत्रों के बहुत-से मुमुक्षु तथा रोग-शोक से आर्त नर-नारी उनका आश्रय पाकर कृतार्थ हुए।

कलकत्ता को केन्द्र बनाकर तिब्बती बाबा बीच-बीच में अन्यान्य क्षेत्रों में भ्रमणार्थ जाया करते। इन सभी स्थानों में मधुपुर उनका अत्यन्त प्रिय स्थल था। मधुपुर अवस्थान के समय सतीश बन्धोपाध्याय महाशय बाबा के अत्य-

धिक कृपापात्र हो गये। श्री बन्द्योपाध्याय एक विशिष्ट ब्रह्म नेता तथा कुशाग्रबुद्धि पत्रकार थे। महापुरुष के अंतरंग हो जाने पर उन्हें व्यक्तित्व, जीवन दर्शन एवं दिनचर्या संबन्धी विचार विश्लेषण करने का यथेष्ट सुयोग मिल सका।

लेखक से उन्होंने कहा था, "तिब्बती बाबा के चेहरे पर तथा आचार-व्यवहार एवं बोल-चाल में सर्वदा एक अपूर्व व्यक्तित्व एवं उन्मुक्त भाव बराबर ही दृष्टिगोचर होता। उनकी कथावार्ता एवं दार्शनिक आलोचना सुनकर ज्ञान होता कि वे निरीश्वरवादी किंवा शून्यवादी बौद्ध हैं, अथवा उसी तरह के कोई साधक हैं। परन्तु वास्तविक रूप में ऐसा नहीं था। यथार्थतः वे ईश्वर के सम्बन्ध में मौन रहना ही पसन्द करते थे। और साधन के सम्बन्ध में आत्मचिंतन को ही सर्वाधिक प्रधानता देते।"

इन महापुरुष के जीवन-दर्शन का दूसरा पहलू, जनकल्याण था। कितने जटिल तथा असाध्य रोगों से उन्होंने मुक्ति दिलायी है तथा कितने मृतकल्प मनुष्यों के मुख पर उन्होंने स्मित हास्य की रेखा फैला दी है, इसकी तो कोई गणना ही नहीं है। इस प्रसंग में सतीश बन्द्योपाध्याय ने कहा है, "बाबा की अपूर्व प्रतिभा का स्फुरण असाध्य रोगों की चिकित्सा में दिखलाई पड़ता। द्रव्य गुण के ऊपर उनका असामान्य अधिकार था। जब कोई रोगी एकबार उनका आश्रय ग्रहण कर लेता, ये ज्ञानपंथी कठोरी साधक सम्वेदना से करुणा विगलित हो जाते। दरिद्र रोगियों की चिकित्सा व्ययसाध्य होने पर, वे पास खड़े धनी भक्तों को आदेश देकर उसकी व्यवस्था करवा देते। औषधि के रूप में कभी-कभी तिब्बती बाबा को कृष्ण सांढ़ का चमड़ा, बादुर का मांस, भैंसे का सींग इत्यादि अद्भुत उपकरण भी व्यवहार करते देखा जाता। एक बार एक कुष्ट रोगी बाबा की शरण में आया। आर्त स्वर में उसने रोना-धोना शुरू किया। बाबा करुणा से विगलित हो उठे। उसी समय बाजार से एक बड़ी हाँड़ी मंगायी गयी। कितनी ही दुष्प्राप्य औषधियों के साथ उसमें उन्होंने मांस डाल दिया। उनके निर्देशानुसार शिष्यों ने उस हाँड़ी को मिट्टी के नीचे गाड़ दिया। कई दिन बाद यह हाँड़ी फिर निकाली गयी। औषधि की सँड़ाध तथा दुर्गन्ध भयानक थी। इसी औषधि का कुछ दिनों तक व्यवहार करके उस कुष्ट रोगी ने पूर्ण रूप से आरोग्य लाभ किया था।"

श्री बन्द्योपाध्याय ने इसी प्रसंग में एक उल्लेखनीय बात लिखी है—"सारी बातें देखने-सुनने के बाद मेरी यह धारणा हो चली थी कि जहाँ तक चिकित्सा का प्रश्न था, तिब्बती बाबा धन्वन्तरी स्वरूप ही थे। जटिल से जटिल रोग का

उपचार वे द्रव्यगुण के आधार पर ही करते थे। तन्त्र-मन्त्र का प्रभाव रहने पर भी मैंने कोइ ऐसी बात वहाँ नहीं देखी।"

भारत के वैद्य-शिरोमणि श्यामादास वाचस्पति महाशय तिब्बती बाबा के अत्यन्त कृपापात्र थे। श्रीयुत् सतीश बन्द्योपाध्याय से ही लेखक ने सुना है कि वाचस्पति महाशय के अनुरोध को अस्वीकार न करते हुए बाबा ने उन्हें कई असाध्य रोग; जैसे-यक्ष्मा, उदरी, कुष्ट इत्यादि की औषधियाँ तथा उनके प्रयोग की विधियाँ लिखकर भेज दी थीं।*

वर्धमान के पालितपुर में एक बार तिब्बती बाबा की करुणा लीला का एक प्रकाश दृष्टिगोचर हुआ। भूतनाथ दा वहाँ के एक धनी तथा प्रसिद्ध व्यक्ति थे। उनका एकमात्र पुत्र उन दिनों असाध्य यकृत के रोग से आक्रान्त था। रक्त की कमी एवं प्रबल ज्वर के निरन्तर भोग के कारण रोगी अस्थि-चर्म का ढाँचा मात्र रह गया था। अन्त में प्रसिद्ध डाक्टरों ने भी जवाब दे दिया और भूतनाथ बाबू तथा उनकी स्त्री पर वज्रपात हो गया।

तिब्बती बाबा से उनका सामान्य परिचय था। उसी परिचय के आधार पर भूतनाथ बाबू तथा उनकी स्त्री इन महापुरुष के सम्मुख आकर रोने, गिड़-गिड़ाने लगे। पैर पकड़ कर उन्होंने कहा, "बाबा, जिस तरह से भी हो, हमारे इस एकमात्र पुत्र को प्राणों की भिक्षा देनी ही होगी। अगर आप ऐसा नहीं करेंगे तो हम दोनों यहीं आपके पैरों पर माथा पटक कर प्राण दे देंगे।"

बाबा करुणार्द्र हो उठे। आर्त्त दम्पति के साथ उसी दिन पालितपुर आकर उपस्थित हुए।

उनके आदेशानुसार रोगी के कमरे मे एक सफेद रंग का स्वस्थ भेड़ का बच्चा लाया गया। वे स्वयं भी सारी रात वहीं रुके तथा उन्होंने एक गूढ़ तांत्रिक क्रिया का अनुष्ठान किया। प्रभात वेला में कमरे का द्वार खुलते ही सभी ने विस्मयपूर्वक देखा कि सफेद भेड़े का सारा शरीर पीत वर्ण हो गया है। किसी को भी यह समझने में देरी नहीं लगी कि बालक का असाध्य यकृत तथा पाण्डु रोग रातोंरात इस भेड़े के शरीर में स्थानान्तरित हो चुका है। भेड़ा उस समय ज्वर के कारण चेतनाशून्य होकर जमीन पर पड़ा हुआ है।

*श्यामाकान्त वाचस्पति महाशय के पुत्र कविराज विमलानन्द तर्कतीर्थ महाशय लेखक के श्रद्धेय बन्धु हैं। उनके पास अनुसंधान करने पर ज्ञात हुआ कि तिब्बती बाबा द्वारा लिखित उन सब औषधियों के नुस्खे प्राप्य नहीं हैं। अगर वे मिल जाते तो मानव-समाज का काफी उपकार हो जाता।

तिब्बती बाबा के एक अन्तरंग भक्त उस समय वहाँ उपस्थित थे। उनके स्पष्टवादिता की काफी प्रसिद्धि थी। उन्होंने कहा, "बाबा, अगर बुरा न मानें तो एक प्रश्न करूँ।"

"जो कहना है, निर्भय होकर कहो।"

"बाबा, आपके पास तो असीम विभूतियाँ हैं, फिर मात्र एक मनुष्य को बचाने के लिए आपने इस मेषशावक को मार डालने की तैयारी क्यों कर डाली है? हमलोग तो यही समझते हैं कि आप-जैसे आत्मज्ञानी महापुरुष में पूर्ण समदर्शिता होगी। फिर मनुष्य और मेष में भेद क्यों?

क्रोधपूर्ण स्वर में तिब्बती बाबा ने उत्तर दिया, "मूर्ख, तुम कुछ भी नहीं समझते हो और बेकार की बक-बक करते हो। थोड़ा धैर्य रखो सब कुछ मालूम हो जायगा।"

क्षण भर बाद ही देखा गया कि बाबा तीव्र ज्वर से आक्रान्त होकर काँपते-काँपते शय्या पर सो गये। दोनों नेत्र पीत वर्ण के हो उठे। इसके बाद उनके शरीर में प्राणघाती हिक्का रोग दृष्टिगोचर हुआ। इसी समय सभी ने विस्मय-पूर्वक देखा कि जमीन पर पड़ा हुआ मेषशावक धीरे-धीरे स्वस्थ होता जा रहा है।

कई घंटे बाद तिब्बती बाबा ने पूर्ण रूप से स्वस्थ हो जाने पर अपनी दैनिक दिनचर्या आरम्भ की। बाद में उन्होंने बातचीत में ही प्रसंगवशात् कहा, "यकृत के रोगी की उस समय चिन्तनीय अवस्था हो गयी थी। इसीलिए भेड़े को ले आकर जल्दी-जल्दी यह क्रिया करनी पड़ी।"

पालितपुर के जमीन्दार धर्मदास मंडल तथा पूर्वोक्त श्री भूतनाथ दा की चेष्टा एवं अर्थ व्यय से पालितपुर में ही तिब्बती बाबा के लिए एक स्थायी आश्रम का निर्माण हुआ और उसका नाम पड़ा प्रज्ञामंदिर। इसी आश्रम में बाबा ने अपने शेष जीवन का अधिकांश भाग व्यतीत किया।

सन् १९३० की १८ नवम्बर को १८२ वर्ष की अवस्था में पालितपुर के प्रज्ञामंदिर में प्रज्ञानमन इन महात्मा ने नश्वर शरीर का त्याग किया। साथ ही भारत के अध्यात्म आकाश से एक ज्योतिर्मय नक्षत्र का अस्त हो गया।

विशुद्धानन्द सरस्वती

उत्तर भारत के साधक एवं सारस्वत-समाज में स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती का एक अत्युज्ज्वल व्यक्तित्व था। उन्नीसवीं सदी के द्वितीय पाद से आरम्भ कर पचास वर्षों से भी अधिक काल तक आध्यात्मिक-भारत के प्राण-केन्द्र वाराणसी में इन महात्मा का निवास रहा, जहाँ से इन्होंने अपनी तपस्या का आलोक विस्तारित किया। संन्यासी तथा गृहस्थ—दोनों के दल के दल इन महात्मा के चरणों में शरण लेते तथा त्याग, वैराग्य एवं ज्ञान के हरिहर मूर्त्ति इन महासाधक के जीवन से मुक्ति पथ के पाथेय का संग्रह करते।

विशुद्धानन्द के पूर्वाश्रम के पिता का नाम था संगमलाल एवं माता का यमुना देवी। उत्तर प्रदेश के बौड़ी ग्राम में एक सदाचारी ब्राह्मण-वंश में संगमलाल का जन्म हुआ था। आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। रोजी की तलाश में देश के नाना स्थानों में घूमते-फिरते अंततः वे हैदराबाद क्षेत्र के कल्याणी नामक स्थान पर आकर उपस्थित हुए। यहाँ, सबसुखराम नवाब सरकार के एक उच्चपदस्थ व्यक्ति थे। इन्ही के आश्रय में रहकर संगमलाल सरकारी कार्य में नियुक्त हुए। कुछ दिनों के बाद सबसुखराम की भगिनी, यमुना देवी से इनका विवाह हुआ।

१८०९ ई० के भाद्र मास में जन्माष्टमी के पुनीत दिन, मातुल गृह में विशुद्धानन्द का जन्म हुआ। गौरवर्ण, अत्यन्त सुन्दर इस नवजात शिशु को पाकर सभी के आनन्द की सीमा नहीं रही।

जन्माष्टमी के पवित्र दिन को जन्म हुआ था, इसीलिए सोच-विचार कर शिशु का नाम वंशीधर रखा गया। पिता संगमलाल जी भागते हुए शहर के एक ज्योतिषी के पास जाकर उन्हें बुला लाये। इससे पहले उनके दो बच्चे पैदा होने के कुछ दिनों बाद ही मर चुके थे। इसीलिए नवजात शिशु के लिए परिवार को बहुत चिन्ता थी। परन्तु जन्म लग्न विचार करके ज्योतिषी जी ने कहा, "आपलोग घबरायें नहीं। मैं स्पष्ट देख रहा हूँ, कि यह शिशु दीर्घजीवी होगा। इतना ही नहीं, यह सहस्रों मनुष्यों का आश्रय-दाता होगा।"

लगभग एक वर्ष बाद बड़ी धूमधाम से वंशीधर का अन्नप्राशन-उत्सव सम्पन्न हुआ। शिशु के कल्याण के लिए पूजा, होम एवं याग-यज्ञ के भी अनुष्ठान कम नहीं किये गये। परन्तु दुर्भाग्यवश थोड़े ही समय में वंशीधर एक दुस्चिकित्स्य रोग से आक्रान्त हो गया। उसके शरीर में मूर्छा तथा अपस्मार रोग प्रकट होने लगा। इन आक्रमणों के पश्चात् शरीर दुर्बल होता एवं टूट-सा जाता।

दिन-दिन शिशु का शरीर क्षीण होने लगा। सभी की यही धारणा होने लगी कि यह मृगी रोग अब छोड़ने वाला नहीं है। सारे घर पर विषाद एवं हताश का अंधकार छा गया।

मामा सबसुखराम वंशीधर को बहुत प्यार करते थे। अवसर मिलते ही बीच-बीच में उसे लेकर बाहर निकलते तथा नाना किस्से-कहानियों से उसे प्रसन्न रखने की चेष्टा करते।

वंशीधर की अवस्था उन दिनों चार वर्ष की थी। मामा के साथ एक दिन वह भ्रमण के लिए बाहर निकला। रास्ता चलते-चलते अनायास बालक में एक विलक्षण रूपान्तर दृष्टिगोचर होने लगा। दोनों आँखें फटी-फटी-सी है, तथा भावावेग से सारा शरीर थर-थर काँप रहा है। मातुल का हाथ जोर से पकड़ कर सहसा वह रुक गया। व्यग्र दृष्टि से देखते हुए सबसुखराम ने प्रश्न किया, "क्यों रे वंशीधर, क्या हुआ है? ऐसा क्यों कर रहा है? मुझे कुछ बतलायेगा भी?"

"मामा जी, मामा जी! मेरी किताब कहाँ है?" उत्तेजित स्वर में बालक वंशीधर कहने लगा।

"कौन किताब, किसकी किताब, अच्छी तरह सोच कर बता, मैं अभी तुम्हारे लिए खरीद देता हूँ।"

"मेरी अपनी वही किताब ला दो। उसके पाते ही मेरी बीमारी ठीक हो जायगी। मैं चंगा हो जाऊंगा"—मोहग्रस्त-जैसा वह इस बात को बार-बार कहने लगा।

सबसुखराम ने सोचा कि रोग भोगते-भोगते बालक के मस्तिष्क की धारण-शक्ति क्षीण हो गयी है। मस्तिष्क में अनायास एक ख्याल आ गया है कि एक पुस्तक चाहिए। उसी के लिए वह इस तरह उत्तेजित है। घर वापस आकर दो-चार रंग-बिरंगी पुस्तकें वे क्रय कर लाये। परन्तु उनके लिए वंशीधर को कोई आकर्षण नहीं था। उनको दूर फेंक कर वह पता नहीं किस काल्पनिक पुस्तक के लिए रोता ही रहा।

मातुल ने सांत्वना दी, "ठीक ही है वंशी, तुम्हारी पुस्तक मैं ला दूँगा, परन्तु वह कहाँ है, यह तो बताओगे !"

अश्रुपूरित नेत्रों से बालक ने उत्तर दिया, "वह मेरी कुटिया में है। शीघ्र ही तुम उसे खोज कर ला दो। नहीं मिलने से मैं बचूँगा नहीं।" इस अद्भुत वार्ता का क्या रहस्य है, कौन जाने ? घर के लोगों ने, इसके लिए और माथा-पच्ची नहीं की।

रोग से किस तरह छुटकारा मिलेगा, इस चिंता से जननी को चैन बिलकुल ही नहीं था। साधु-संतों का पता पाते ही, भाग कर वे उसके पास जातीं। शास्त्रज्ञ ब्राह्मण देखते ही, उन्हें घर लाकर उनसे शांति एवं स्वस्ति पाठ करातीं। परन्तु किसी तरह भी कार्य नहीं हो पा रहा है। यमुना देवी लगभग हताश हो गयीं।

कल्याणी में एकबार एक सतीदाह अनुष्ठित हुआ। एक क्षत्रिय रमणी ने पति की चिता पर आरोहण का संकल्प लिया है। सूचना मिलते ही लोगों के दल के दल श्मशान की ओर चल पड़े।

साधारण मनुष्यों की धारणा है कि चिता-शय्या पर उपविष्ट, सती नारी का आशीर्वाद बिलकुल अमोघ है। वह कभी व्यर्थ नहीं जाता। यमुना देवी ने भी स्थिर किया कि वे बालक वंशीधर को लेकर सती के पास जायगी तथा वंशीधर के रोगमुक्ति के लिए उनसे आशीर्वाद मांगेगी।

चिता-शय्या के समीप जाकर, साश्रुनयन पुत्र के जटिल रोग की बात निवेदन करते ही सती बोल उठीं, "बहिन, तुम अपने इस पुत्र के लिए बिलकुल चिंता न करो। इसके शरीर पर सिद्ध योगियों के चिह्न हैं। यह अकाल-मृत्यु कभी प्राप्त नहीं होगा फिर भी तुमलोग इसे गृहस्थी में जकड़ कर नहीं रख सकोगे। घर छोड़कर यह बालक संन्यासी हो जायगा।"

पुत्र को लेकर यमुना देवी घर वापस आ गयीं। जिस किसी कारण हो, काफी लम्बी अवधि तक वंशीधर फिर मूर्च्छा रोग से आक्रान्त नहीं हुआ। परन्तु लगभग एक वर्ष बाद फिर इसकी पुनरावृत्ति शुरू हुई। आत्मीय जनों की चिंता इससे बढ़ती ही चली गयी।

कल्याणी के निकट ही कीर्णा एवं मंजिरा नदियों का पवित्र संगम स्थल है। प्रति वर्ष यहाँ हजारों की संख्या में लोग स्नान करने आते हैं। इस उपलक्ष्य में एक वृहत् मेला भी आयोजित हो जाता है।

सबसुखराम, आत्मपरिजन एवं बंधुओं के साथ मेले में आये हुए हैं। स्नान-तर्पण के पश्चात एक साथी ने कहा, "यहाँ घाट के अत्यन्त निकट ही एक पर्ण कुटीर में एक बड़े महात्मा, एकान्त में निवास करते हैं। उनके दर्शनों के लिए चलोगे ?"

साधु-दर्शन की बात पर सभी को परम उत्साह हुआ। सबसुखराम विलक्षण व्यक्ति हैं। उन्होंने कहा, "इतने लोगों को साथ ले जाकर महात्मा की शांति भंग करना उचित नहीं है। स्त्रियाँ तथा छोटे बच्चे इसी घाट पर बैठे रहें। चलो, बाकी सब लोग वहाँ चलें।"

सभी साथियों ने इसमें सहमति व्यक्त की। परन्तु पांच वर्ष का बालक हठ पकड़ कर बैठ गया। उसने जिद्द पकड़ ली, "नहीं, मैं साधुजी को देखने के लिए जाऊँगा ही। मुझे ले चलो। मैं यहाँ नहीं रुकूँगा।

बालक को समझाने-बुझाने का प्रयास व्यर्थ गया। वह चीख-पुकार करता रहा। मामा को हार माननी पड़ी। वंशीधर के साथ सभी को लेकर वे साधु के आश्रय में उपस्थित हुए।

प्रणाम-निवेदन के पश्चात् साधु ने एक-एक कर सभी को आशीर्वाद दिया। अब वंशी की ओर देखते हुए, मामा सबसुखराम ने हंसते हुए कहा, "वंशी, यहाँ आने के लिए तुमने इतना रोना-धोना मचाया, परन्तु यहाँ आने से तुझे क्या लाभ हुआ, यह तो बता ?"

अबतक बालक भावाविष्ट हो चुका है। पर्ण-कुटीर में इधर-उधर, पता नहीं क्या खोज रहा है। सहसा, दृढ़ स्वर में वह कह उठा, "मामाजी, इसी कुटिया के भीतर ही तो मेरी किताब है। मेरे अपने हाथ की लिखी पुस्तक यहीं है।"

महात्मा की ओर उन्मुख हो, सबसुखराम ने हाथ जोड़ कर कहा, "प्रभु, देखिए यह बालक क्या कह रहा है! उसके अपने हाथ की लिखी एक पुस्तक क्या यहाँ पड़ी है ? इस पुस्तक की बात पहले भी हमलोग उसके मुँह से सुन

चुके हैं। परन्तु मामला क्या है, तथा इसमें कौन-सा रहस्य है, यह हमलोग किस तरह समझ सकते हैं ?"

महात्मा ने शांत स्वर में कहा, "यह बालक और क्या-क्या क ता है, यह मुझे स्पष्ट रूप से बताओ।"

"प्रभु मेरा यह भांजा लम्बी अबधि से मृगी रोग से आक्रान्त है। शरीर अत्यन्त दुर्बल हो चुका है और अधिक दिनों तक बच पायगा ऐसा नहीं लगता। इस पुस्तक के संदर्भ में यह बालक विचित्र बात कहता है। वह पुस्तक इसकी अपनी पुस्तक है, और उसके खोज लेने के बाद वह रोगमुक्त हो जायगा। यहाँ आपके आश्रम में आकर यह दृढ स्वर में कह रहा है कि वह पुस्तक यहीं पड़ी है।"

क्षण भर चुप रहने के बाद साधु महाराज ने कहा, "देखो, यह बालक, वास्तविक बालक भाव से बात नहीं कर रहा है। यह एक दिव्य भाव में आविष्ट है। तुम मेरी कुटिया के चप्पे-चप्पे में अनुसंधान कर डालो। कोई पुरानी हस्त लिखित पुस्तक है या नहीं, देख डालो।"

कुटिया छोटी ही थी। ग्रन्थ पेटिका के अलावा कुछ अधिक सामान नहीं था। अनुसंधान का कार्य शेष हुआ, परन्तु बालक द्वारा कथित पुस्तक की पाण्डु-लिपि कहीं नहीं मिली।

भावाविष्ट वंशीधर का एक नूतन रूप दृष्टिगोचर हुआ। पता नहीं किस अज्ञात आनन्द से वह भरपूर है। सारा शरीर रोमांचित एवं कम्पायमान है। दोनों नेत्रों से पुलकाश्रु निर्गत हो रहे हैं, तथा नासिकाओं से दीर्घश्वास चल रहा है। दृढ़ स्वर में वह कह उठा, "कुटीर के छप्पर के बाँस में भी ठीक से तलाश कर डालो। वहीं मेरी पुस्तक मिल जायगी। कोई भय नहीं है, अब मेरा रोग दूर हो जायगा तथा तुम लोगों को भी अब कोई कष्ट नहीं रहेगा।"

बालक द्वारा निर्देशित स्थान से एक पुरातन जीर्ण हस्तलिखित पोथी प्राप्त हुई जो एक कपड़े के टुकड़े में यत्नपूर्वक लिपटी हुई थी।

बंशीधर के हाथ में पुस्तक का बस्ता देते ही उसका मुख उज्ज्वल हो उठा तथा भावावेश अंतर्हित हो गया। उसके शरीर में बालक के स्वाभाविक भाव फिर दृष्टिगोचर होने लगे।

साधुजी ने ग्रन्थ की सतर्कतापूर्वक परीक्षा की। विस्मय से उनके दोनों नेत्र विस्फारित हो गये। साश्रुनयनों से आवेगपूर्वक उन्होंने कहा, "यह मेरे गुरुदेव की अपने हाथ से लिखी पुस्तक है। गीता का निचोड़ इसमें उन्होंने

लिखा है। यह ग्रन्थ उनको अत्यन्त प्रिय था। पाँच वर्ष पूर्व, अपने देहान्त से पूर्व, इसे उन्होंने बार-बार मांगा था। उस समय ढ़ूढ़ने पर भी यह नहीं मिल सका और इसके लिए मर्माहत होकर उन्होंने अंतिम निश्वास त्याग किया था।"

सारे उपस्थित लोग, इस कहानी को सुनकर अत्यन्त विस्मित हो उठे। सबसुखराम ने कौतूहलपूर्वक प्रश्न किया, "महाराज, उस ग्रन्थ के साथ इस बालक का क्या संबंध है, यह समझ नहीं पा रहा हूँ। इसे थोड़ा स्पष्ट रूप से बताने की कृपा करें।"

"भगवान ने गीता में कहा है, मृत्यु के समय मनुष्य की जो भावनाएँ रहती हैं भावी जीवन में उन्हीं भावों तथा संस्कारों का उदय उसके भीतर दृष्टिगोचर होता है। तुम्हारा यह विचित्र बालक पूर्वजन्म में मेरे गुरुदेव थे। वे इसी आश्रम के अध्यक्ष थे। यहीं से उनका शरीर रोगमुक्त हुआ था। तुम लोग देखोगे की निकट भविष्य में ही इसके सात्विक संस्कार जग उठेंगे और पूर्व जन्म के जैसे ही, इस जन्म में भी ये संयास ग्रहण करेंगे।"

इसके बाद सभी लोगों के साथ, वंशीधर कल्याणी में घर वापस आ गया। इस घटना के बाद से वह किसी दिन भी मूर्च्छा रोग से आक्रान्त नहीं हुआ। क्रमशः वह एक स्वस्थ, सबल, किशोर के रूप में परिणत हो गया।

किशोर वंशीधर के जीवन में इन्हीं दिनों एक महान विपत्ति आयी। थोड़े समय के ही अन्तराल में उसके माता-पिता, दोनों ही स्वर्गवासी हुए। मामा, सबसुखराम, इस किशोर भान्जे को बहुत प्यार करते थे। इस समय से उन्होंने ही वंशीधर के सारे दायित्वों को ग्रहण किया। शिक्षा की सारी सुविधाएँ देते हुए, वे उसे सक्षम मनुष्य बनाने के लिए सचेष्ट हुए।

भट्ट जी, नाम के एक विख्यात पंडित समीप ही रहते थे। उनकी पाठ-शाला में वंशीधर को पढ़ने के लिए भेजा गया। बालक ने अल्प समय में ही संस्कृत व्याकरण, काव्य, अलंकार इत्यादि का पाठ शेष कर डाला। उसकी स्मृति शक्ति अत्यन्त प्रखर थी। एक बार जो कुछ भी सुन लेता उसका कभी विस्मरण नहीं हो पाता। इसी कारण शिक्षा गुरु, भट्टजी उससे अत्यधिक स्नेह करते तथा उसे श्रुतिधर का नाम ही दे डाला था।

कई वर्ष संस्कृत-साहित्य एवं वेद-वेदान्त के पाठ में व्यतीत हो गये। इसके बाद सबसुखराम ने वंशीधर के लिए फारसी एवं मराठी भाषा की शिक्षा की व्यवस्था की। उन दिनों, इन दोनों भाषाओं पर अधिकार न होने पर, दाक्षिणात्य में, किसी सरकारी दफ्तर में उन्नति करना सम्भव नहीं था। इसीलिए, सबसुखराम शीघ्र ही भान्जे को इन दोनों भाषाओं का ज्ञान करा

देने के लिए प्रयत्नशील हुए। प्रतिभाधर वंशीधर शीघ्र ही इन दोनों भाषाओं में भी पारंगत हो गया।

वंशीधर ने यौवन में पदार्पण किया। सुन्दर, स्वस्थ शरीर सहज ही लोगों को आकर्षित कर लेता। खेल के मैदान में भी शारीरिक शक्ति एवं मनोबल की दृष्टि से भी कोई उसके टक्कर का नहीं था।

मातुल, सबसुखराम, नवाब सरकार के सेना विभाग में एक उच्च पदस्थ कर्मचारी थे। इसके अलावा, नबाब मुमताज्जुल उमराह उनसे अत्यन्त प्रसन्न थे। इसीलिए, सबसुखराम ने स्थिर किया कि भान्जे को सेना विभाग में भर्ती करा देंगे। शारीरिक बल, साहस एवं दक्षता, वंशीधर में यथेष्ट थी। इसीलिए उन्हें विश्वास था कि इस विभाग में जल्दी ही उसकी उन्नति हो सकेगी। इन सभी बातों को ध्यान में देखते हुए वे वंशीधर को घुड़सवारी एवं युद्ध-विद्या में भी निपुणता देने के लिए प्रस्तुत हुए। बहुत ही अल्प अवधि में, वंशीधर, एक दक्ष घुड़सवार भी हो गया। उसके बाद, मामा ने अवसर पाकर उसे सेना-वाहिनी के शिक्षा नवीस के कार्य पर भर्ती करा डाली।

नवाब के सैन्य-शिविर में एक तेज अरबी घोड़ा खरीदा गया था। इस बदमाश तथा चंचल घोड़े को जल्दी वश में करना सम्भव नहीं हो पा रहा था। सवार दक्ष नहीं है, यह समझते ही वह उसे पटक देने में विलम्ब नहीं करता। इसीलिए अधिकारियों के लिए, यह घोड़ा एक समस्या बन गयी थी। वंशीधर ने कहा, "आप लोग अगर अनुमति दें तो मैं इस दुष्ट घोड़े को साइस्ता कर डालूँ।"

दुर्धर्ष घोड़े के कारण शिविर के अध्यक्ष की चिन्ता का अन्त नहीं था। कहा, "यह तो बड़ी अच्छी बात है। वंशीधर, तुम अभी इस घोड़े को कुछ देर तक फेरने का यत्न करो।"

वंशीधर से उच्च दो शिक्षानवीस वहाँ खड़े थे। इनमें एक नवाब के पुत्र मेहदी हुसेन तथा दूसरे उनके प्रियपात्र भतीजे बब्बर हुसेन थे। सेना विभाग के नवीन शिक्षार्थियों के बीच वंशीधर का साहस, कौशल एवं दक्षता अद्वितीय थी। इसी कारण उपरोक्त दोनों बन्धु वंशीधर के प्रति ईर्ष्यालु थे। वंशीधर को किसी तरह वे सुयोग देने के लिए इच्छुक नहीं थे। उनको डराते हुए उन लोगों ने कहा, "इस पगले घोड़े पर सवार होकर क्यों अपने प्राण गवाने की चेष्टा कर रहे हो ?"

वंशीधर भी पीछे हटने वाले नहीं थे। उन्होंने हँसते हुए कहा, "एक बार आजमा तो लूँ, कौन जीतता है, घोड़ा या सवार।"

इस अरबी घोड़े पर वह बहुत आसानी से बैठ गया। अद्भुत कौशल से उसने उसे काबू में किया और उसके बाद सरासर चाबुक मारते हुए काफी दूरी पर जाकर अदृश्य हो गया। ऊर्ध्वश्वास छोड़ते हुए कई घंटे अविराम दौड़ने के बाद, घोड़ा क्लान्त हो गया। शिविर में वापस आने पर दृष्टिगोचर हुआ कि उसका पहले का औद्धत्य समाप्त हो चुका है तथा वह बदमाश अरबी घोड़ा, पूर्ण रूप से अपने सवार के वश में आ चुका है। वहाँ उपस्थित अनेक लोग, वंशीधर को साधुवाद देने लगे।

घोड़े को दाना-पानी देकर तथा प्यार करके वंशीधर, घर वापस आ गया। दूसरे दिन सुबह उठते ही उसने एक दुःसंवाद सुना। इतने परिश्रम से जिस घोड़े को उसने वश में किया था, वह गत रात्रि को अकस्मात् मर गया।

शिविर के अध्यक्ष भीत एवं चिंतित हो पड़े। नवाब बहादुर ने बड़े शौक से, तथा काफी पैसे खर्च करके यह तेज अरबी घोड़ा, विदेशी वणिकों से क्रय किया था। इसकी मृत्यु की खबर को सुनकर उनके क्रोध की सीमा नहीं रहेगी।

इधर वंशीधर की सफलता से नवाब के पुत्र एवं भतीजे के शरीर में आग लग गयी। उन्होंने जल्दी-जल्दी नवाब के पास पहुंच कर घोड़े के मृत्यु का संवाद सुनाया। उन्होंने शिकायत भी की, "इसके लिए वंशीधर दोषी हैं। लगातार चाबुक मारते हुए घोड़े को वह दूर-दूर तक दौड़ाता रहा। अत्यधिक थकान के कारण उसकी मृत्यु हुई है।"

नवाब बहादुर क्रोध से पागल हो उठे। वंशीधर को उसी समय वहाँ बुलाया गया। अभियोग सुनकर उसने शांत स्वर में कहा, "हुजूर, कल संध्या के बाद अस्तबल में वापस आकर इस घोड़े ने मेरे हाथ से प्रेम से दाना-पानी खाया। अस्वस्थ होने पर, सहज रूप से पशु कुछ खाना-पीना नहीं चाहते हैं। परन्तु इस घोड़े ने खाते समय कोई अनिच्छा तथा अरुचि नहीं प्रकट की थी। कारण, काफी दौड़ भाग के बाद भी वह अत्यन्त स्वस्थ था। मृत्यु, गहन रात्रि के समय हुई है। संभवतः किसी संक्रामक रोग अथवा सईस के दोष के कारण यह दुर्घटना घटी है। इसके लिए मुझे दोषी ठहराना क्या न्याय संगत है ?"

नवाब क्रोध में थे, इस सफाई पर उन्होंने कर्णपात भी नहीं किया वंशीधर को हाजत में रखने का आदेश हुआ। मामा सबसुखराम भी उपस्थित नहीं थे। अगर वे वहाँ रहते तो दरबार के प्रभावशाली व्यक्ति होने के नाते वे नवाब को समझाने की चेष्टा करते। दुर्भाग्य से वे किसी सरकारी कार्य के संबन्ध में

कई दिनों के लिए हैदराबाद गये हुए थे। अंततः वंशीधर को हाजत में प्रवेश करना पड़ा।

कार्य शेष करके सबसुखराम, कल्याणी वापस आ गये। आद्योपांत सारी घटना को सुनकर वे स्तब्ध रह गये। उसके बाद नवाब बहादुर को काफी समझा-बुझा कर, उन्होंने शांत किया तथा भांजे को हाजत से मुक्त किया।

इधर कई दिनों तक कारागार में निवास करने के फलस्वरूप, वंशीधर के हृदय में विराग का जागरण हुआ। संसार के सभी वस्तुओं से विरक्ति-सी होने लगी। बैठे-बैठे वे केवल यही सोचते रहते, कि जहाँ हर कदम पर इर्ष्या, स्वार्थ-बुद्धि और विश्वासघात संगीन खड़ी है, वहाँ, कहाँ आनंद तथा कहाँ शांति ? नहीं, ऐसे स्थान पर वास करने में कोई सार्थकता नहीं है। इससे तो सन्यासी होकर पहाड़, जंगलों में भटकते रहना अधिक सुखकर है।

कल्याणी के एक किनारे जन-कोलाहल से दूर एक प्राचीन शिव मंदिर है। मन में शांति नहीं है तथा नाना दुश्चिताओं से भाराक्रान्त, वंशीधर, आजकल प्रायः वहाँ चले जाते हैं तथा निर्जन परिवेश में चुपचाप अकेले बैठे रहते हैं। एक दिन वहीं एक जटा-जूट पंडित, सौम्यदर्शन बृद्ध सन्यासी आकर उपस्थित हुए। इस क्षेत्र में वे परमहंसजी के नाम से विख्यात थे। पूर्वाश्रम में वे पेशवा वंश की संतान थे। मोक्ष-लाभ की आशा में बहुत दिन पहले ही वे घर छोड़ कर बाहर निकल पड़े थे तथा कठोर तपस्या के फलस्वरूप आप्तकाम हो चुके थे।

परमहंस जी को देखते ही वंशीधर चौंक पड़े, तथा उन्होंने समीप जाकर साष्टांग प्रणाम निवेदित किया।

आशीर्वाद देते हुए परमहंसजी ने कहा, "वत्स, मुझे स्पष्ट दीख रहा है कि तुम्हारे अंतर में शांति नहीं है। इस दुःसह ज्वाला को क्यों ढो रहे हो ! तुम्हारे ऊपर क्या संकट है, स्पष्ट कहने की चेष्टा करो।"

"प्रभु, आप सर्वज्ञ हैं, तथा सारी बातें आपने स्पष्टरूप से समझ ली हैं। मेरे लिए संसार की सभी वस्तुएँ रिक्त, बेस्वाद एवं अर्थहीन हो गयीं हैं। मैंने निश्चय कर लिया है कि मन के दुःख एवं ज्वाला से मुक्ति पाने हेतु, संन्यासी का जीवन ग्रहण करूँगा।"—वंशीधर ने कातर स्वर में निवेदन किया।

"इस तरुण वयस में, संसार के प्रति तुम्हारी यह विरक्ति क्यों, वत्स !"

"सात वर्ष की अवस्था में, मैं माता-पिता दोनों को ही खो बैठा। बालक-जीवन में ही विधाता का क्रूर आघात मुझ पर पड़ा। उसके बाद मामा के

आश्रय में दिन, प्रायः अच्छी तरह ही, कट रहे थे। परन्तु अब मानो इस जीवन के वास्तविक रूप, निष्ठुर रूप, मेरे समक्ष अधिक दिखलाई पड़ने लगा है।"

"विस्तार से मुझे सारी बातें बताओ, वत्स !"

"जिन्हें मैं अभिन्न बंधु समझता रहा था, उन्हीं के षडयंत्र से मुझे कारागार में जाना पड़ा। देश के शासक एवं प्रतिपालक को मतिभ्रम हो गया, तथा उन्होंने मेरे साथ भयानक अन्याय किया। कुछेक दिनों के कारावास ने मेरे ज्ञान-चक्षु खोल दिए हैं। मुझे भान हो रहा है कि गृहस्थ जीवन, एक प्रकार से बन्दी जीवन ही है। उसमें शांति नहीं, आनन्द नहीं। मात्र वहाँ पड़े-पड़े अदृष्ट की मार खाने के अलावा कोई उपाय नहीं है। इसी कारण तो सन्यास लेने का संकल्प कर चुका हूँ। कृपया आप मुझे इस विषय में सहायता करें।"

"वत्स, जो तुम्हारे, मेरे प्रभु हैं, सबके प्रभु हैं, उन्होंने पहले से ही तुम्हारी क्या अवस्था है इससे मुझे अवगत करा दिया है। इसीलिए, ठीक इसी समय मेरा यहाँ आगमन हुआ है।"

"आपकी बातें सुनकर मुझमें आशा तथा आनंद का संचार हुआ। अब कृपा कर मुझे आदेश दें, मुझे क्या करना होगा।"

"वत्स, संन्यास अत्यन्त कठिन व्रत है। इस व्रत को लेने से पूर्व, यथेष्ट प्रस्तुति की आवश्यकता है। मात्र गृहत्याग करने से काम नहीं चलेगा। सन्यासी को इस जन्म में ही ब्रह्म लाभ करना होगा, और इसके लिए सबसे पहले त्याग-वैराग्य, ब्रह्मचर्य—शास्त्राभ्यास एवं कठोर साधना की आवश्यकता है। प्रस्तुति की इन सीढ़ियों को पार करने के पश्चात् परा-शांति एवं परा-ज्ञान का लाभ हो सकेगा, जिसके लिए अनायास ही तुम्हारा मन व्याकुल हो उठा है।"

"ठीक है प्रभु, आपके कथनानुसार मैं दीर्घ प्रस्तुति के मार्ग पर ही चलने की चेष्टा करूँगा। परन्तु, एक प्रार्थना है। जब आप कृपा करके आ ही गये हैं, तो आप मुझे दीक्षा एवं संन्यास प्रदान करके मेरा जीवन कृतार्थ करें।"

"नहीं वत्स, मैं तुम्हारा गुरु नहीं हूँ। तुम्हारे निर्दिष्ट गुरु उत्तर भारत में निवास करते हैं। यथासमय उनका दर्शन तुम्हें मिलेगा। अब मेरी बात ध्यान से सुनो। सर्वप्रथम तुम पुण्यतीर्थ, नासिक जाओ। वहाँ वैराग्य एवं ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए, वेद-वेदांगों का अध्ययन शुरू करो।"

"आपके दर्शन तथा उपदेश, फिर कब मिल सकेंगे,—प्रभु ?" सजल नेत्रों से वंशीधर ने प्रश्न किया।

"प्रयोजन होते ही तुम्हारे समीप मेरा आगमन हो जायगा।" इतनी बात कहने के पश्चात् परमहंसजी ने मंदिर का त्याग कर शीघ्रता से निकट के वन में प्रविष्ट हो गये। उसके बाद धीरे-धीरे अदृश्य हो गये।

घर वापस आकर वंशीधर ने मामा सबसुखराम के नाम एक पत्र लिखा। सत्रह वर्ष के उस बालक के पत्र का सांरांश निम्न है :

"जीवन का अबतक जितना भी इस अल्प वयस में बोध हुआ उसमें यही अनुभूति हुई है कि यह संसार नितांत दुःखमय है। इसके जटिल जाल में फँस कर, असहाय-जैसे, केवल यातनाएँ ही सहन करनी पड़ती हैं। इसका भी मुझे ज्ञान हो चुका है कि संसार का सब कुछ नश्वर एवं क्षणभंगुर है। एकमात्र ईश्वर ही अविनाशी हैं, और उन्हीं के ध्यान में परम शांति एवं परम आनंद है। मैं ईश्वर-लाभ की आकांक्षा लेकर ही सर्वदा के लिए गृह-त्याग कर रहा हूँ। मेरी तलाश करने की चेष्टा न करेंगे क्योंकि मेरा घर वापस आना किसी तरह भी संभव नहीं है। आपने मेरा लालन-पालन पुत्रवत् किया है, तथा मुझे माता-पिता के अभाव का बोध भी नहीं होने दिया है। आपके स्नेह, ममता और शुभेच्छाओं के ऋण का शोधन करना मेरे लिए कभी भी संभव नहीं हो सकेगा। आप मुझे क्षमा करगें तथा मेरा श्रद्धापूर्ण प्रणाम स्वीकार करेंगे।"

उसी रात्रि को, गुप्त रूप से वंशीधर ने कल्याणी का त्याग किया। पैदल ही नासिक की ओर वे अग्रसर हुए। दूसरे दिन ही उनका पत्र पाकर मामा ने सिर पीट लिया, तथा घर पर नैराश्य का अंधकार छा गया।

नासिक के विद्वान एवं निष्ठावान ब्राह्मण के आश्रय में रहकर वंशीधर ने वेद-वेदांग का अध्ययन प्रारम्भ किया। उनकी प्रतिभा तथा धारणा-शक्ति असाधारण थी। तीन वर्षों की अवधि में उन्होंने अपने शिक्षागुरु के ग्रंथादि पर अधिकार कर डाला। शास्त्र-पाठ के साथ-साथ तपस्या एवं प्रत्यक्ष अनुभूति-लाभ के लिए वे व्याकुल हो पड़े। उनके निर्दिष्ट सद्गुरु कहाँ है, कब उनकी कृपा होगी तथा किस साधना के द्वारा उन्हें अध्यात्म मार्ग पर अग्रसर होना है, ये ही बातें उनके लिए अनवरत चिंता का विषय बन गयीं।

यही वेदना लेकर एक दिन वे गोदावरी के घाट पर बैठे हुए हैं। इसी समय, उनके कल्याणकामी संन्यासी, परमहंसजी ने द्वितीय बार दर्शन दिया। स्नेहपूर्ण स्वर में उन्होंने कहा, "वत्स वंशीधर, तुम अब पदयात्रा करते हुए, उत्तर भारत की ओर निकल पड़ो। मार्ग में ओंकारनाथ के ज्योतिर्लिङ्ग तथा उज्जयिनी के महाकाल का दर्शन करते जाना। ब्रह्मचारियों के लिए महाकाल मंदिर में

बैठकर शिवपंचाक्षर मंत्र का जप, साधना की दृष्टि से कल्याणकर है। तुम भी इस जप का साधन वहाँ बैठकर संपन्न करो।"

ओंकारनाथ तीर्थ की ओर वंशीधर, अग्रसर हुए। उन दिनों मार्ग निरापद नहीं थे। मराठा शक्ति का पतन हो चुका था। इसी कारण चारों ओर राजनैतिक अशांति एवं सामाजिक विच्छिृङ्खलता थी। मार्गों पर ठगी एवं डकैती का उपद्रव वृद्धि पर था। ऐसी अवस्था में कहीं भी एकाकी जाना ही विपत्ति थी। इसीलिए वणिकों के एक दल के साथ सम्मिलित होकर सफर तय करने लगे।

इस दल में कब कुछेक डकैत, व्यापारियों के वेश में घुस पड़े, इसका किसी को भान ही नहीं हुआ। वंशीधर के गौर कांति, सुन्दर शरीर से ही अभिज्ञात वर्ग की छाप टपकती थी। डकैतों ने सोचा कि यह युवक निश्चित रूप से किसी सम्भ्रात जमींदार का पुत्र है, और किसी आवश्यक कार्यवश, दूर देश को जा रहा है। कमरबन्द में प्रचुर धन यह छिपाये हुए है, इसमें कोई संदेह नहीं। उन लोगों ने निश्चय किया कि मार्ग में कहीं उसकी हत्या करके वे उसकी सारी धन-राशि लूट लेंगे।

यात्रियों का दल, दौलताबाद के पास पहुँच गया है। इसी समय एक चट्टी में निवास करते समय दस्युओं ने वंशीधर की खाद्य सामग्री में विष मिला दिया। थोड़े ही समय में वह भूमि पर लोट गया। शरीर निश्चल एवं नीलवर्ण हो गया, तथा मुख से गाज निकलने लगी। साथी किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये, और ऐसी विपत्ति में युवक के सम्बन्ध में और माथापच्ची न करके, वे उसे वहीं छोड़ कर जल्दी-जल्दी प्रस्थान कर गये। डकैतों ने तलाशी लेकर देखा तो उसके पास रुपया-पैसा, कुछ भी नहीं मिला। अंततः वे उसे छोड़कर वहाँ से चंपत हुए।

उसी समय एक स्थानीय, धनी पटेल दौलताबाद की ओर जा रहे थे। चट्टी के सामने आने पर उन्हें सुन्दर युवक, मृतकाय अवस्था में दृष्टिगोचर हुआ। वे उसी उमय, व्याकुल होकर गाँव से एक चिकित्सक को बुला लाये। चिकित्सा एवं परिचर्या के फलस्वरूप, वंशीधर काफी हद तक स्वस्थ हो गये। इस अवधि में युवक से पटेल को बहुत स्नेह हो गया था। उसे वे यत्नपूर्वक अपने दौलताबाद के निवास स्थान पर ले आये एवं सेवा तथा सुश्रूषा की समुचित व्यवस्था की। इस स्नेहपूर्ण परिचर्या से वंशीधर कुछ ही दिनों में स्वस्थ होने लगे।

पटेल की स्त्री ने वंशीधर को आनन्दपूर्वक ग्रहण किया। माँ की ममता तथा स्नेह लिए वे सर्वदा वंशीधर की सेवा में रत रहीं। वंशीधर को उन्होंने स्पष्ट रूप से कह दिया, 'देखो बेटा, भगवान की दया से तुम मृत्यु के मुख से वापस आये हो। तुम्हारे स्वास्थ्य की अवस्था अत्यन्त दयनीय है। साफ कह देती हूँ, तुम्हारा शरीर जबतक पूर्णतया स्वस्थ नहीं हो जाता, हमलोग तुम्हें जाने नहीं देंगे। आनन्दपूर्वक, हमलोगों के पास, कुछ महीने तक रहो। अच्छी तरह खाओ-पीओ, उसके बाद जाने की बात सोचना।"

मात्र स्नेहमयी गृहस्वामिनी ही नहीं, घर के सभी लोगों को वंशीधर से अत्यधिक स्नेह हो गया था। कोई उसे छोड़ने को राजी नहीं था। अन्ततः कुछ दिनों के लिए उन्हें स्थान-त्याग का संकल्प छोड़ना पड़ा।

परम आनन्द में आराम से दिन कटने लगे। इस तरह लगभग तीन मास व्यतीत हो गये। पटेल की वृद्धा माता वंशीधर से अपने पौत्र-जैसा ही स्नेह करती तथा वंशीधर भी इस स्नेह का प्रचुर प्रतिदान करते। प्रतिदिन संध्या समय, वे वृद्धा को भागवत का श्रवण कराते। एक दिन पाठ चल रहा था, और प्रसंगक्रम से जड़भरत का उपाख्यान शुरू हुआ। राजा धन, मान एवं आत्मपरिजन सभी का त्याग करके वनवासी होने के बाद अन्ततः एक हरिण-शावक के मोह से आबद्ध हो गये। अदृष्ट का यह कैसा भयानक परिहास! इस करुण-कथा का वर्णन करते हुए, वंशीधर क्रन्दन करने लगे। नेत्रों से अश्रु-धारा प्रवाहित होने लगी।

वृद्धा चौंक पड़ी। व्याकुल होकर उन्होंने प्रश्न किया, "वंशी, तुम्हें क्या हो गया है? इस तरह तुम रो क्यों रहे हो? किसी ने तुम्हें कष्ट अथवा दुःख दिया है?"

"नहीं दादी, मैंने दुःख तो अपने को स्वतः दिया है। दुःख के सागर में निमग्न होकर इस समय डूबने का उपक्रम कर रहा हूँ। मेरी अवस्था राजा भरत-जैसी ही हो गयी है, वरन् उनसे भी अधिक शोचनीय। आत्मीय स्वजनों के प्रेम की उपेक्षा कर, संन्यास लेने घर से निकला था। परन्तु मेरा चरम दुर्भाग्य है कि यहाँ दौलताबाद आकर, गृह-परिजन की माया में आबद्ध होता जा रहा हूँ। अब सहन नहीं होता। आज ही मैं इस स्थान का त्याग करूँगा तथा अपने पवित्र संकल्प की सिद्धि के लिए निकल पड़ूँगा।"

वृद्धा दादी ने काफी समझाया-बुझाया। पटेल की स्त्री ने भी आकर करुण-विलाप आरंभ किया। परन्तु वंशीधर अपने निश्चय पर अटल रहे।

आंचल से आँखें पोछकर पटेल की स्त्री ने कहा, "ठीक है बेटा, संन्यास के मार्ग पर जब तुम्हें जाना ही है तो जाओ। हमलोग तुम्हें अब बाधा नहीं देंगे। हमलोगों ने तुम्हें अपनी संतान की भांति समझा है, इसलिए इस तरह तुम्हें कंगाल की तरह जाने नहीं देंगे। मेरे पास अपनी जमा की हुई पचास सोने की मुहरें हैं। इन्हें तुम्हें अपने साथ लेना ही होगा। खाने-पीने तथा अपनी सुख-सुविधा के लिए तुम उन्हें खर्च करोगे। इसके लिए तुम कोई आपत्ति न करो, बेटा !"

"मुझे इस पर घोर आपत्ति है। घर-गृहस्थी छोड़कर जो कंगाल संन्यासी का जीवन-यापन करने के लिए प्रस्तुत है, वह मुहरों की राशि किस तरह कमर में बांधकर चलेगा ? क्यों रखेगा ? छिः छिः, ऐसा प्रलोभन आपलोग मुझे देने की चेष्टा न करें। इसके अलावा, इस विषय में तो उस दिन प्रत्यक्ष अनुभव भी कर चुका हूँ। साथ में एक फूटी कौड़ी भी नहीं थी, फिर भी डकैतों ने मुझे विष दे डाला। सोने की मुहर साथ रखना तो और भी विपज्जनक होगा। नहीं, यह सब मुझे न दें।"

साश्रुनयन, घर के सभी लोगों ने वंशीधर को विदा दी। परन्तु स्नेहांध पटेल-गृहणी फिर भी एक काण्ड कर बैठी। प्रचण्ड शीत ऋतु आने ही वाली है। इसलिए वंशीधर की झोली में, बंशीधर के लिए, एक जीर्ण कन्था उन्होंने दे ही डाला। पटेल गृहणी ने गुप्तरूप से पचासो मुहरें जल्दी-जल्दी सिल डालीं। आंतरिक इच्छा यही थी कि राह में पैसों का प्रयोजन होने पर, बंशीधर इनका उपयोग करेंगे।

वंशीधर काफी रास्ता तय कर चुके हैं। अकस्मात् वंशीधर का हाथ इस जीर्ण कंथा के एक ओर टकराया। वह किनारा बहुत भारी मालूम पड़ा। सिलाई खोलने पर तो अवाक् रह गये। उन्होंने देखा कि पचास मुहरें एक के ऊपर एक रखकर वहाँ सिलाई की हुई हैं।

मातृ रूपिणी महिला का यह स्नेह-सिक्त व्यवहार देखकर इनके दोनों नेत्र श्रद्धा एवं कृतज्ञता से अश्रुसजल हो उठे। परन्तु उनके लिए, इसे ग्रहण करना, किसी तरह भी संभव नहीं था। रास्ता चलते-चलते उन्होंने स्थिर किया कि शीघ्र ही वे किसी दरिद्र एवं योग्य पात्र को मुहरों का दान कर डालेंगे।

कई दिनों की यात्रा के पश्चात्, वंशीधर, ओंकारनाथ पहुँचे। पुराणों में वर्णित, सुप्रसिद्ध ज्योतिर्लिङ्ग यहाँ विराजित है। दर्शन करके वंशीधर के आनन्द की सीमा नहीं रही। काफी लम्बी अवधि, उन्होंने मंदिर में ध्यान-जप करके व्यतीत कर डाली। उसके बाद प्रभु से उन्होंने हृदय की इच्छा निवेदित की।

हाथ जोड़कर उन्होंने कहा, "प्रभु, अदृश्य-लोक से तुम्हारे इशारे पर ही मैंने घर-संसार का त्याग किया है। देखो, त्याग-वैराग्य तथा तुम्हारी आराधना के पथ से किसी दिन भी विच्युत नहीं हो पाऊँ।"

साथही-साथ उन्हें कंथा में सिलाई की हुई स्वर्णमुद्राओं की बात स्मरण हो आयी। महेश्वर के चरणों में उन्होंने सानुनय प्रार्थना की, "इन सोने की जंजीरों को अब सहन करना संभव नहीं हो पा रहा है। अपने किसी वास्तविक दरिद्र भक्त को ये सब दे डालो।"

मंदिर से वंशीधर उतर रहे हैं। सहसा प्रांगण में एक ओर उनकी दृष्टि पड़ी। एक दरिद्र एवं वृद्ध ब्राह्मण भावावेगपूर्ण स्वर में शिवस्तोत्र का पाठ कर रहे हैं—ज्योतिर्मयाय पुनरुद्भव वारणाय, दारिद्र्यदुःख दहनाय नमः शिवाय।

पता नहीं, किसने वंशीधर के अंतर में पुकार कर कहा—क्यों रे, यही तो तुम्हारी स्वर्ण-मुद्राओं के भार को सहज ही हल्का कर देने का उपाय है। योग्य पात्र तो सामने बैठा है!

इस वृद्ध ब्राह्मण के पास वे कुछ देर तक नीरव बैठे रहे। उसके बाद स्तोत्र-पाठ समाप्त होने पर उन्होंने सविनय निवेदन किया—

"द्विजवर, देवाधिदेव ने आपकी प्रार्थना सुन ली है। दारिद्र्यदुःख से आपको त्राण दिलाने के लिए, उन्होंने मेरे हाथों आपके पास कुछ अर्थ भेजा है। कृपया आप इसे ग्रहण करें।"

ब्राह्मण ने उत्तर दिया, "देखिये, मैं स्वतः तो परम आनंद में हूँ। शिवधाम में निवास करता हूँ, तथा आकाशवृत्ति ही मेरा संबल है। इसीलिए, प्रभु स्वयं मेरा नित्य का आहार जुटा देते हैं। मेरा स्तोत्र-पाठ एवं प्रार्थना धन के लिए नहीं है।"

"फिर किसलिए है?"

"मेरी एक कन्या काफी दिनों से विवाह योग्य हो चुकी है। एक पात्र का भी संधान मिला है; परन्तु मेरे—जैसे भिक्षुक के लिए, विवाह के व्यय का निर्वाह करने लायक पैसों का साधन नहीं है। इसीलिए तो नित्य यहाँ आकर महेश्वर के चरणों में प्रार्थना करता हूँ।"

"आपकी प्रार्थना सफल हुई, द्विजवर!" कहते हुए, वंशीधर ने जीर्ण कंथा की सिलाई खोलकर चमकती हुई स्वर्ण-मुद्राओं का ढेर ब्राह्मण के पास उड़ेल दिया।

विस्मय विस्फारित नेत्रों से ब्राह्मण अपने आसन की ओर देख रहे हैं। मुँह से कोई बात भी नहीं निकल रही है।

वंशीधर के चेहरे पर तृप्ति की मुस्कान है। कहा, "द्विजवर, निश्चित होकर इसे ग्रहण करें। यह धन अत्यन्त शुद्ध है, तथा किसी असत् उपाय से नहीं अर्जित किया गया है। किसी संपन्न सद-गृहस्थ ने इन मुहरों को जमा किया था। उसने पुत्राधिक स्नेह से मुझे दान किया है। मैं कंगाल हूँ, तथा त्याग-वैराग्य एवं संन्यास के पथ पर बाहर निकल पड़ा हूँ। इसका मैं क्या करूँगा? यह तो अच्छी ही बात होगी कि यह धन आप-जैसे भक्त, दरिद्र ब्राह्मण के कार्य में लग जाय। प्रभु ज्योतिर्लिङ्ग की कृपा से ही हमलोगों की यह भेंट हो गयी है, इसमें सन्देह नहीं।"

अपार ईश्वरीय कृपा का यह स्पर्श पाकर, तथा दारिद्र्यदुःख दहन का यह चमत्कार देखकर ब्राह्मण बिलकुल स्तब्ध रह गये, तथा आवेग से विह्वल हो उठे। दोनों नयनों से मात्र पुलकाश्रुओं की वर्षा होती रहीं।

इसके बाद कई दिनों की पदयात्रा के बाद, वंशीधर, उज्जयिनी तीर्थ में आकर उपस्थित हुए। प्राचीनकाल से ही यहाँ के महाकाल मंदिर की प्रसिद्धि थी। इसके अलावा, साधु-संन्यासी एवं भक्त गृहस्थगण महाकाल विग्रह को परम जाग्रत मानते थे। परमहंस जी ने यहाँ के मन्दिर में वंशीधर को शिव पंचाक्षर मंत्र के जप का निर्देश दिया था। वंशीधर ने परम निष्ठा के साथ उस निर्देश का प्रतिपालन किया। जप-सिद्धि के फलस्वरूप, उनका अंतर परम शांति से भर उठा तथा नवीन अध्यात्म चेतना से उद्दीपित हो उठा।

लगभग एक मास तक उन्होंने महाकाल मंदिर के प्रांगण में निवास किया। कृच्छ्र साधन एवं कठोर तपस्या हेतु उनका मन आकुल था। लगातार पांच दिन निरम्बु, उपवास में ही कट गए। अवशिष्ट दिनों को उन्होंने आकाश-वृत्ति का सहारा लेकर ही व्यतीत किया। इन दिनों एक वृद्धा चनावाली दिन के शेष होने पर, वंशीधर को एक मुट्ठी भींगे हुए चने दे जाती थी। उसीके द्वारा वैराग्यवान तरुण-साधक अपनी क्षुधा की निवृत्ति करते। इन दिनों देवाधिदेव महेश्वर के ध्यान-जप में इतने गंभीर रूप से निमग्न रहते कि दिन-रात कैसे बीत रहे हैं, इसका उन्हें होश ही नहीं रहता।

इन्हीं दिनों उनके जीवन के विशिष्ट पथ-प्रदर्शक, परमहंसजी का एक बार और आविर्भाव हुआ। परमहंसजी ने कहा, "वत्स, अब तुम्हें यहाँ रुकने का कोई प्रयोजन नहीं है। जल्दी, उत्तर भारत में गंगातीर की ओर अग्रसर

होओ। बिठूर में, वाल्मीकि तपोवन में, प्रकांड शास्त्र-वेत्ता एवं प्रवीण साधक राघवेन्द्र स्वामी का निवास है। उनके आश्रय में कुछ दिन रह कर तुम शास्त्रों की उच्च शिक्षा शेष कर डालो। तुम्हारे साधन प्रस्तुति का यह एक बहुत बड़ा अंग होगा। एक और बात का ध्यान रखना, मार्ग में आजकल अनेक गोलमाल होते रहते हैं। अकस्मात् किसी विपत्ति में पड़ जाने पर घबरा न जाना। प्रभु महेश्वर तुम्हारी रक्षा करेंगे।

कई पथचारियों की टोली के साथ, वंशीधर, सिंधिया राज्य से गुजर रहे हैं। उन दिनों वहाँ की शासन-व्यवस्था लगभग बिखर-सी गई थी। उत्तराधिकारीगण में सिंहासन के दावे को लेकर वैमनस्य उठ खड़ा हुआ था। चारों ओर षड्यन्त्र तथा गिरफ्तारियाँ चल रही थीं। संदेहवश वंशीधर कुछ साथियों के साथ पकड़ लिए गये तथा कारागार में डाल दिये गये। कुछ दिनों के बाद जब कर्मचारियों को अपनी भूल का भान हुआ तभी उन लोगों को कारागार से मुक्ति मिल सकी। इस घटना के कुछ दिनों बाद विन्ध्याचल के तीर्थों की परिक्रमा करते हुए वंशीधर, कानपुर के समीप बिठूर पहुँचे।

प्राचीन काल में आधुनिक बिठूर से संलग्न पवित्र भूमि में महर्षि वाल्मीकि का आश्रम अवस्थित था। आदिकवि की पुण्यमय स्मृति को जनमानस में चिर उज्ज्वल रखने हेतु पंडितवर राघवेन्द्रजी ने यहाँ एक उच्चतर शास्त्र-अध्ययन की चतुष्पाठी खोल रखी थी जिसका नाम वाल्मीकि-तपोवन पड़ गया था।

यहाँ पहुँचते ही वंशीधर ने राघवेन्द्रजी के चरणों में प्रणाम निवेदित किया तथा अपने अन्तर की इच्छा प्रकट की। दिव्यकांति एवं वैराग्यवान इस ब्रह्मचारी को देख कर आचार्य प्रसन्न हुए। दो-एक प्रश्न पूछने के बाद उन्होंने प्रसन्न स्वर में कहा, "वत्स ! इस आश्रम में तुम्हें मैं आश्रय प्रदान कर रहा हूँ। साथ-ही-साथ यह भी आशा रखता हूँ कि श्रद्धा एवं निष्ठा के साथ अध्ययन समाप्त करके तुम अपने अध्यात्म जीवन के लिए वांछनीय शास्त्र-भित्ति तैयार कर सकोगे।"

वंशीधर ने बिठूर के इस आश्रम में तीन वर्षों तक अध्ययन किया। उनकी अलौकिक प्रतिभा, मेधा एवं श्रमनिष्ठा को देखकर आचार्य के विस्मय की सीमा नहीं थी। परम यत्नपूर्वक वे अपने द्वारा अर्जित विद्या, शिष्य को दान करते रहे।

इसी समय एक दिन संयोगवश वंशीधर ने अपनी असाधारण गुरुभक्ति का भी परिचय दिया। आचार्य राघवेन्द्रजी प्रायः शिष्यों के साथ संध्या समय

गंगा तट पर घूमने के लिए निकल पड़ते। उस दिन भी ऐसे ही निकल पड़े थे। वर्षा के कारण प्लावन का दृश्य चारों ओर था। गंगा की धार भी प्रखर हो गयी थी। आश्रम के कई छात्रों ने आनन्दपूर्वक स्नान तथा जल-विहार आरम्भ कर दिया। इनमें से एक, थोड़ी ही देर बाद, नदी की प्रखर धारा के साथ बह चला। बचने का कोई उपाय दिखायी नहीं पड़ रहा था। किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होकर सभी शंकित हृदय से उस असहाय छात्र की ओर देख रहे थे।

चरम विपत्ति में अधिक विलम्ब नहीं था। क्षण भर में ही अवसन्न छात्र गंगा के गर्भ में विलीन हो ही जायगा। राघवेन्द्र आचार्य ने उत्तेजित स्वर में छात्रों को सम्बोधित किया, "पुराणों में तो तुम लोगों ने गुरुभक्ति की अनेक कथाएँ पढ़ी हैं। तुम लोगों में क्या ऐसा एक छात्र भी नहीं है जो गुरु के आश्रित इस युवक का उद्धार कर वापस ला सके ?"

वंशीधर नीरव उठ खड़े हुए और क्षण भर में गंगा के उत्ताल तरंगों में कूद पड़े। तैरने का उनको बहुत अच्छा अभ्यास था तथा शारीरिक शक्ति एवं साहस भी प्रचुर था। धारा के साथ-साथ प्रायः एक कोस तक तैर कर जाने के बाद, अन्ततः उन्होंने विपन्न छात्र को पकड़ ही लिया और तट की ओर खींच लाये।

इस अवधि में गंगा के दोनों तट, रात्रि के अन्धकार से, ढँक चुके थे। आचार्य राघवेन्द्रजी, मशाल हाथ में लेकर अन्य छात्रों के साथ, वंशीधर तथा उसके सहपाठी को खोजते हुए बाहर निकल पड़े थे। काफी देर बाद उनकी खोज सफल हुई। सभी को सांस आयी।

बार-बार आशीर्वाद देते हुए गुरु ने कहा, "वंशीधर, तुम धन्य हो। तुम्हारे जैसे कर्त्तव्यनिष्ठ शिष्य को पाकर मुझे आचार्य के रूप में गर्व है। तुम्हारी यह गुरुभक्ति तथा परहित में, प्राण संकट में डालने की क्षमता सभी को उद्‌बुद्ध करे, यही मेरी कामना है।"

शास्त्राध्ययन में अनेक दिन व्यतीत हो चुके हैं, अब वंशीधर के हृदय में योग-साधना की आकांक्षा जग पड़ी। ज्ञान-साधना के ऊपर अधिक बल देते हुए भी, ईश्वर लाभ के अन्यान्य शास्त्र-सम्मत मार्गों की जानकारी की भी उन्हें अपेक्षा थी। इसीलिए बिठूर का त्याग कर वे हिमालय की ओर चले, जहाँ उनके लिए उच्च कोटि के योगी-महात्माओं का अनुसन्धान सम्भव था। कई दिन, हरिद्वार, कनखल तथा ऋषीकेश में काटने के उपरान्त अन्ततः उन्होंने केदार-बदरी के महातीर्थ में प्रवेश किया।

वहाँ रहते हुए उन्हें सूचना मिली कि नीचे विष्णुप्रयाग की एक पर्वत-गुहा में, हठयोग-सिद्ध एक महापुरुष निवास करते हैं। यह क्षेत्र अत्यन्त दुर्गम एवं जन-हीन था। बहुत दुःख-कष्ट एवं मार्ग की बाधाओं को झेलते हुए, वंशीधर योगिवर की गुफा में आकर उपस्थित हुए। भक्तिपूर्वक प्रणाम निवेदित करने के पश्चात् उन्होंने अपने मन की अभिलाषा प्रकट की। इन योगी की कृपा और अपनी अनन्य निष्ठा के फलस्वरूप कुछेक वर्षों के अन्दर ही वे हठयोग में पारंगत हो गये।

हठयोग-साधना के कारण वंशीधर की देहकांति उज्ज्वल हो उठी। शरीर तथा मन में एक अभूतपूर्व शक्ति का अभ्युदय हुआ। सिद्धाइ तथा योग सामर्थ्य भी धीरे-धीरे दृष्टिगोचर होने लगे। परन्तु इस किसी भी वस्तुओं से वंशीधर को आनन्द एवं शांति का लाभ नहीं हुआ। इतने दिनों के परिव्राजन, तपस्या एवं शास्त्रचर्या के फलस्वरूप उनका मन ईश्वर-लाभ एवं ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए अत्यन्त अधीर हो उठा है तथा परम प्राप्ति का संकल्प दृढ़तर हो चला है। परन्तु हठयोग के साधनक्रम के माध्यम से जीवन के उस लक्ष्य की ओर पहुँच पाना तो संभव नहीं हो रहा है।

निरपेक्ष मन से उन्होंने दिन पर दिन विचार करके देखा और अपने संदर्भ में भी कम विचार विश्लेषण नहीं किया। चित्त की जिस शुद्धता, प्रशांति एवं स्थैर्य के साधित होने पर, परा चैतन्य का उदय होता है, हठ योग की साधना से उसका लाभ करना दुष्कर है। वरन् इस योग-साधना के फलस्वरूप जिस सिद्धाई एवं विभूति का स्फुरण होता है उससे नवीन साधक का आत्माभिमान बढ़ने की ही आशंका रहती है। अब उनके हृदय में दृढ़ विश्वास का उदय हो गया कि राजयोग के मार्ग के सिवा, परमप्राप्ति के लिए अन्य कोई मार्ग नहीं है। अब वे दृढ़ निष्ठा के साथ राज योग के राज पथ का ही अनुसरण करेंगे।

इसके उपरान्त, शिक्षादाता हठयोगी महात्मा को हृदय से कृतज्ञता का ज्ञापन करते हुए, वंशीधर, विष्णुप्रयाग से बाहर निकल पड़े तथा ऋषीकेश में आकर उपस्थित हुए।

ऋषीकेश में उन दिनों गोविन्द गुरुजी के आश्रम की प्रचुर प्रसिद्धि थी। इस आश्रम में स्वामी पूर्णाश्रम तथा सतुआ स्वामी नामक दो महात्मा निवास करते थे। वेदान्त के ब्रह्मात्मज्ञान एवं राजयोग के व्याख्या विश्लेषण में ये पारंगत थे। इनकी सहायता एवं सानिध्य का लाभ करने के लिए वंशीधर ने गोविन्द गुरुजी के आश्रम में आश्रय लिया।

सुदर्शन शास्त्रविद्, वंशीधर अल्प समय में ही विख्यात स्वामी द्वय के अत्यन्त स्नेह भाजन हो गये। नवीन साधक हठयोग में पारंगत होकर आये हैं, इसलिए स्वामी जी लोगों में आदरपूर्वक उनका नाम करण किया, वीरभद्र ! यहाँ की शास्त्र चर्चा एवं साधन–अनुकूल परिवेश में वंशीधर ने लगभग तीन वर्ष परमानन्द पूर्वक काट दिए।

इन्हीं दिनों एक बार फिर उनके सम्मुख उनके चिरकल्याणकामी परमहंस महाराज का आविर्भाव हुआ, तथा उन्होंने प्रयोजनीय निर्देश प्रदान किए।

प्रसन्न स्वर में परमहंस जी ने कहा, ' वत्स, वंशीधर, तुम्हारे ब्रह्म लाभ की व्यग्रता देखकर तथा शास्त्रव्युत्पत्ति देख कर मैं बहुत प्रसन्न हूँ। इसी अवधि में तुमने हठयोग का भी साधन ले लिया है, यह अच्छा ही किया है। हठयोग से ब्रह्म लाभ तो नहीं होता, परन्तु ब्रह्म लाभ हेतु जो कठिन तपस्या करनी पड़ती है, उसमें अवश्य सहायता मिलती है। शरीर के हठयोग कुशल एवं दृढ़ रहने पर, कृच्छ एवं त्याग वैराग्य की तपस्या में विशेष कठिनाई नहीं होती। परन्तु वत्स, सर्वदा अपने मूल लक्ष्य पर ही दृष्टि निबद्ध किए रहना होगा और उस ओर तुम्हारी पूर्ण दृष्टि है, यह भी मुझे ज्ञात है। राज योग ही तुम्हारा वास्तविक मार्ग है तथा इस मार्ग को तुमने स्वतः ही चुन लिया है, यह बड़े आनन्द की बात है। हाँ वत्स, इस बार मैं तुम्हें एक नवीन निर्देश दूँगा।"

"महाराज, आपका आशीर्वाद ही मुझे निरंतर अपने मार्ग पर अग्रसर करता जा रहा है। आपकी मेरे प्रति कल्याण कामना ही मेरी सर्वदा ढ़ाल की तरह रक्षा कर रही है। आपका कोई भी निर्देश मेरे लिए शिरोधार्य है।" हाथ जोड़ कर वंशीधर ने निवेदन किया।

"वत्स समय हो गया है। तुम्हारे निर्दिष्ट गुरु तुम्हारे लिए अपेक्षमान हैं। तुम अविलम्ब काशीधाम चले जाओ। वहीं, गुरु के पास तत्व ज्ञान का लाभ करो जिससे ब्रह्मसाक्षात्कार करके तुम्हारा जीवन सफल हो उठे।

परमहंसजी का निर्देश पालन करने में वंशीधर ने किंचित विलम्ब नहीं किया। लम्बी अवधि तक की तितिक्षा, तपस्या एवं आकांक्षा को सफल करने हेतु वे अविलम्ब काशी धाम पहुँच गये।

आनन्द दायिनी काशी, विद्यादायिनी काशी,—मोक्षदायिनी काशी। युग-युग से शाश्वत भारत के शुचि शुभ्र तिलक के रूप में यह पुण्यमयी तीर्थनगरी जाज्वल्यमान है। विश्वनाथ तथा अन्नपूर्णा के इस लीला निकेतन काशी से

गंगा की पवित्र धारा लिपटी हुई है, तथा अगणित ब्रह्मविद् पुरुषों के तपस्या का अनन्त प्रवाह यहाँ विद्यमान है। जैसे तेजपुंज कलेवर ब्रह्मविद् महात्मा, ब्रह्मचारी साधक-दल तथा मुमुक्षुओं का दर्शन यहाँ संभव है, उसी तरह शास्त्र-विद् आचार्य एवं सनातन धर्म तथा समाज के विशिष्ट धारक-वाहकों का भी दर्शन यहाँ हो जाता है। यहाँ के अनेक मठ-मंदिरों में वेदांत एवं ब्रह्मविद्या का अनुशीलन उत्साहपूर्वक चलता तथा नानाधर्म-सभाओं में देश के विभिन्न क्षेत्रों से आगत तर्क शूरों का विचारद्वन्द चलता रहता। अध्यात्म एवं सारस्वत जीवन के सम्मिलित आलोक-छटा से इस पुण्यमयी नगरी का दिग्दिगन्त उद्भासित रहता। इसी कारण काशीधाम में रहते ही वंशीधर के आनन्द की सीमा नहीं रही।

कई दिनों तक घूम-घूम कर उन्होंने नगरी के श्रेष्ठ मठ-मन्दिर-पीठ-स्थान एवं विद्या-केन्दों के दर्शन किए परन्तु कहीं भी आश्रय का स्थान नहीं मिला। ब्रह्मचारी वेश में वे यहाँ-वहाँ घूमते रहते तथा क्षेत्रों में एक बेला के लिए आहार मिल जाता। उसके बाद रात्रि में दशास्वमेध घाट की सीढ़ियों पर, के छाते के नीचे, वे गंभीर निद्रा में निमग्न हो जाते।

काशी में उन दिनों शक्तिधर महात्माद्वय— तैलंग स्वामी एवं भास्करानन्द की खूब प्रसिद्धि थी। वंशीधर ने उत्साहपूर्वक इनका दर्शन किया तथा भक्ति-पूर्वक प्रणाम निवेदित कर वापस आ गये।

उनके अंतर में एक ही प्रश्न था, उनके चिह्नित सद्गुरु कहाँ हैं जिनसे उन्हें सन्यास की दीक्षा मिलेगी, तथा जिनके चरणों में वे सर्वदा के लिए आत्म-समर्पण करेंगे। उनका हृदय राजयोग का साधन ग्रहण करने हेतु उन्मुख हो उठा है। इस साधन को जो प्रदान करेंगे, उन्हें वैराग्यवान, तपस्यापरायण तथा वेदान्त की अद्वैत विचारधारा में पारंगत एवं राजयोग की निगूढ़ साधना में सिद्ध-काम होना होगा। जो साधन-प्रस्तुति अबतक वंशीधर के जीवन में प्रस्फुटित हो चुकी है उसे सार्थक बनाने हेतु ऐसे ही एक महात्मा को खोजकर बाहर करना होगा।

परमहंस जी ने आश्वासन भी दिया है कि इसी काशीधाम ही में गुरु उनके लिये प्रतीक्षारत हैं। ब्रह्मविद् पुरुष का आश्वासन तो कभी मिथ्या नहीं होनेवाला है। आशा में ही वंशीधर के दिन कटने लगे।

इसी अवधि में उन्हें सम्वाद मिला कि गंगातट पर महारानी अहिल्याबाई द्वारा प्रतिष्ठित मठ में एक परमज्ञानी अशेष शास्त्रवेत्ता महापुरुष निवास करते

हैं। विशेष रूप से वेदान्त-विचारधारा एवं राजयोग की साधना में उनके जैसा व्यक्ति, समकालीन उत्तर भारत में कोई नहीं है।

प्रातः गंगास्नान समाप्त कर ललाट को भस्म से विभूषित कर, संन्यासीवर गौड़ स्वामी प्रदीप्त भास्कर—जैसे अहिल्यावाई घाट पर अपने शिष्यों के साथ बैठे हुए हैं। दुरूह साधन-तत्त्व तथा शास्त्र-तत्त्व की व्याख्या एवं आलोचना चल रही है। पुराने तथा अंतरंग शिष्यगण तृषार्त चातक के सदृश स्वामी जी की अमृत वाणी का श्रवण कर रहे हैं।

काफी समय से यह तत्त्वालोचना चल रही है। मण्डली के एक कोने में बैठे हुए, वंशीधर इस प्रज्ञानघन, दिव्योज्ज्वल मूर्त्ति की ओर निर्निमेष दृष्टि से देख रहे हैं। उनके अंतर से बार-बार ध्वनित हो रहा है कि जिस परम वस्तु के लाभ हेतु उन्होंने संसार का त्याग किया है, और जिसके लिए भिखारी-जसे देश-देशान्तर में घूमते फिर रहे हैं, वह इस महान पुरुष के करतलगत है। अगर उन्हें आत्मसमर्पण करना है, तो ऐसे ही महात्मा के चरणों में करना है।

शास्त्र व्याख्या एवं आलोचना के अन्त में वंशीधर उठ खड़े हुए तथा आचार्य गौड़ स्वामी के पैरों पर भक्तिपूर्वक लोट पड़े। उसके बाद अपना परिचय देते हुए उन्होंने हाथ जोड़कर अपने अंतर की आकांक्षा निवेदित की—"प्रभु सारे दक्षिण एवं उत्तर भारत की परिक्रमा करके, इस अभागे का जीवन आज आपके चरणों पर है। आप कृपया इसका भार ग्रहण करें। कृपया मुझे संन्यास-दान करके मेरे लिए मोक्षपथ का द्वार उन्मोचित कर दें।"

अनिन्द्य सुन्दर युवक, चेहरे पर प्रतिभा एवं साधन-निष्ठा की छाप। आचार्य गौड़स्वामी मुग्ध नयनों से कुछ देर तक वंशीधर की ओर देखते रहे। उसके बाद शांत स्वर में उन्होंने प्रश्न करना आरम्भ किया। उनका नाम क्या है, वंशपरिचय तथा कहाँ, किस आचार्य से किस-किस शास्त्र का अध्ययन कर चुके हैं। कौन-सा साधन लेकर कितनी दूर तक अग्रसर हो चुके हैं। लगभग सारे तथ्यों को स्वामी जी ने समझ लिया।

शास्त्र-चर्चा आरम्भ करते ही दृष्टिगोचर हुआ कि तरुण वयस के होते हुए भी, वंशीधर एक असामान्य शास्त्रवेत्ता हैं। दीर्घ दिनों के त्याग-वैराग्य के साथ ज्ञानानुशीलन ने उनके जीवन में युक्त होकर, ब्रह्म-चेतना वृत्ति को एक विराट आधार के रूप में परिणत कर दी है। गौड़स्वामी, बहुत दिनों से अंतर में ब्रह्म साधना के एक ऐसे उपयुक्त अधिकारी पुरुष के लिए अपेक्षमान थे।

तृप्ति एवं प्रसन्नता से आचार्य का गौर कांति मुख और भी प्रदीप्त हो उठा। परन्तु वंशीधर को उन्होंने अपना यह भावान्तर समझने का अवसर नहीं दिया। स्वर में गम्भीरता लाते हुए उन्होंने कहा, "वत्स, यह बड़ी अच्छी बात है। मैं तुम्हें सन्यास दीक्षा दान का सुयोग दूँगा। परन्तु उससे पहले कई महीनों तक तुम्हें मुझसे नये सिरे से वेदान्त का अध्ययन करना होगा। अगर तुम्हारी ग्रहण क्षमता संतोषजनक रही, तभी मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा, नहीं तो तुम्हें किसी दूसरे स्थान पर जाना होगा।"

वंशीधर को तो मानो मुँहमांगी वस्तु मिल गयी। उन्होंने समझ लिया कि आचार्य उनकी कठोरता से परीक्षा ले लेना चाहते हैं। इससे वे पूर्णरूप से सम्मत हो गये।

आचार्य गौड़स्वामी ने आगे कहा, "वत्स, एक और बात है। मेरे इस आश्रम में अभी तुम्हारे लिए स्थान नहीं है। तुम जिस तरह अबतक अपने आवास की व्यवस्था करते रहे हो, वैसे ही करते रहोगे। प्रतिदिन दोनों समय यहाँ आकर यहाँ अपना पाठ ग्रहण करोगे।"

"जो आज्ञा, गुरुदेव। आपका आदेश मुझे शिरोधार्य है।" आचार्य को प्रणाम निवेदित करके निर्विकार भाव से वंशीधर ने स्थान त्याग किया।

गौड़स्वामी के भक्त शिष्यों में कानाफूसी शुरू हुई। आचार्य ने कौतूहल पूर्वक प्रश्न किया, "तुम लोग क्या मुझसे कुछ कहना चाहते हो ?"

"हाँ प्रभु, हम लोगों का एक निवेदन है।" एक प्रधान शिष्य ने सविनय निवेदन किया। आपके इस वृहत् आश्रम में, स्थान का अभाव तो बिलकुल ही नहीं है। राजकीय भंडारा तो प्रायः लगा ही रहता है; फिर इस नवागत ब्रह्मचारी को आपने यहाँ स्थान नहीं दिया, यह बात समझ में नहीं आ रही है। वह तो स्पष्टरूप से वैराग्यवान तथा तपस्यापरायण दृष्टिगोचर होता है।"

"ठीक ही कहते हो। इस युवक के भीतर एक विराट् संभावना छिपी हुई है। आधार विशाल एवं शुद्ध है, इसीलिए तो कठोर परीक्षा की आवश्यकता है। क्षेत्र की सूखी रोटी खाकर तथा घरियाल के छाते के नीचे रात काट देने का श्रम कुछ दिन और चले। त्याग-वैराग्य का शोधन उसे पक्के सोने में परिणत करे, यही मेरी कामना है।"

थोड़ी देर नीरव रहने के उपरान्त गौड़स्वामी, स्वतः ही कहने लगे। अच्छे-बुरे की बात नहीं है—फिर भी एक परिवर्तन का आभास मिल रहा है। काशी के मठ-मंदिर एवं विद्याकेन्द्रों में अबतक दक्षिणी दण्डी संन्यासियों का

ही एकाधिकार था। लगता है, उत्तर भारत का यह प्रतिभाधर युवक, उस धारा को अब उलट कर रख देगा।"

दूसरे दिन से ही वंशीधर ने गौड़स्वामी से पाठ लेना प्रारंभ कर दिया तथा उनकी जीवन-यात्रा, त्याग-वैराग्यमय मार्ग पर, पहले जैसे ही चलती रही।

गौरकांति, स्वस्थ एवं प्रतिभा समुज्वल वंशीधर पर अनेक मठ-मंडली के महन्थों की दृष्टि आकृष्ट हुई। नाना प्रलोभन दिखला कर वे इस शास्त्रविद् तरुण को अपने-अपने दल में सम्मिलित होने की चेष्टा करते रहे। परन्तु उनकी सारी चेष्टाएँ व्यर्थ हुईं। गौडस्वामी अब वंशीधर के जीवन-आकाश के ध्रुवतारा बन चुके हैं। अनन्य निष्ठा के साथ वे इन कृपालु आचार्य के शरणागत होकर अध्यात्ममार्ग के अभियात्रा में अग्रसर होने लगे।

उत्तर भारत में उन दिनों सिपाही युद्ध का घोर ताण्डव चल रहा था। वाराणसी में भी इन दिनों विक्षोभ एवं संघर्ष दृष्टिगोचर होने लगा। शांति रक्षा हेतु अधिकारीगण एवं गोरे सैनिकों का एक दल तैनात था! सेना की एक टुकड़ी बीच-बीच में गंगा में नाव द्वारा गश्त लगाती थी। एक दिन वे इसी तरह बाहर निकले थे। अंग्रेज सेना को देखते ही घाट के सारे लोग भय से दूर खिसक गये। इसी समय वंशीधर घूमते-फिरते वहाँ उपस्थित हुए।

निर्जन घाट पर यह कौन है, तथा उसकी क्या मंशा है? बजरे के अंग्रेज सैनिकों को संदेह हुआ, और वे जल्दी-जल्दी तट पर उतर पड़े। बहिर्वास पहने वंशीधर पर उन्होंने संगीने तान लीं। टूटी-फूटी हिन्दी में उन्होंने प्रश्न की झड़ी लगा दी। वंशीधर ने भी यथासाध्य उत्तर दिए। इस प्रश्नोत्तर का सारांश :—

"तुम अकेले यहाँ क्यों घूम-फिर रहे हो?" गोरे सैनिकों ने जिज्ञासा की।

"क्यों, क्या मैं विद्रोही मालूम पड़ रहा हूँ? मेरे वस्त्रों को देख कर, क्या तुम लोग यह नहीं समझ पा रहे हो कि मैं एक भिक्षाजीवी साधु हूँ?" वंशीधर ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया।

वंशीधर का आपाद-मस्तक निरीक्षण करते हुए तथा उनकी प्रतिभापूर्ण हंसी देख कर गोरे कुछ आश्वस्त हुए। उन्होंने कहा, "नहीं, तुम्हें देख कर ऐसा तो नहीं लगता कि तुम बदमाश हो। क्या तुम साधु हो— ज्योतिषी। तुम ज्योतिष की गणना कर सकते हो?"

"तुम्हारा प्रश्न क्या है साहेब? एक बार चेष्टा तो करूँ कि कर सकता हूँ, या नहीं।" वंशीधर ने कौतुक पूर्वक उत्तर दिया।

"देखो साधु, इलाहाबाद में इस समय जोर की लड़ाई चल रही है। विद्रोही सिपाहियों ने अंग्रेज सरकार का किला घेर डाला है। हम लोग अत्यन्त चिंतित हैं। क्या तुम बता सकते हो कि इस किले का पतन होगा या नहीं ?"

"अच्छी तरह बता सकता हूँ। तुल लोग मेरे पैर के पास मिट्टी में देख कर बताओ, क्या देखते हो ? चींटियों ने ऊंची मिट्टी वाले हिस्से को एक चक्र जैसा घेर रखा है, तथा भीतर नहीं जा पा रही हैं, ऐसा ही तो है ? इलाहाबाद दुर्ग की भी अवस्था ऐसी ही है। सिपाहियों ने दुर्ग को तो घेर डाला है, परन्तु भीतर जाने की शक्ति अभी तक संचित नहीं कर पाये हैं।"

गोरे सैनिक इस संवाद से प्रसन्न हो उठे। कहा "साधु, तुम बड़े अच्छे आदमी हो। जाओ, तुम अपनी इच्छानुसार नदी के घाट पर घूम-फिर सकते हो।"

वंशीधर, निर्विकार भाव से घाट के एक कोने में बैठ गये तथा ध्यान-भजन में रत हो गये।

कई मास बीत चुके हैं। साधना, स्वाध्याय एवं गुरु सेवा के माध्यम से वंशीधर, आचार्य गौड़स्वामी के और घनिष्ट तथा प्रिय हो चुके हैं। परीक्षा के कई अध्याय समाप्त हो चुके हैं। गुरु ने अब नवीन तपस्वी को दीक्षा प्रदान करने का निश्चय किया। उत्तरायण की पूर्णिमा को शुभ नक्षत्र में, यह अनुष्ठान संपन्न हो गया। वंशीधर का सन्यास नामकरण हुआ— विशुद्धानन्द सरस्वती।

यह सत् ब्राह्मण कुल का नवीन शिष्य, अलौकिक मेधा एवं प्रतिभा का अधिकारी था। गुरु ने मन ही मन यह निश्चय कर डाला कि उसे ही गद्दी का उत्तराधिकारी निर्वाचित करेंगे, जो कि उनके सन्यासी मण्डली का भविष्यत् नेता होगा। काशीधाम के सारस्वत समाज एवं शास्त्रविद् सन्यासी समाज में वह शीर्ष स्थान प्राप्त कर सके, ऐसी प्रस्तुति के लिए गौड़ स्वामी ने कोई त्रुटि नहीं की। वे उसे प्राचीन शास्त्र एवं अध्यात्म विद्या में पारंगत बनाने के लिए प्रयत्नशील हुए।

मीमांसा, दर्शन, वेदान्त, प्राचीन एवं नव्यन्याय, कपिल दर्शन, शैवतंत्र इत्यादि मूल प्रकरण एवं टीका भाष्य को एक-एक करके विशुद्धानन्द सरस्वती ने समाप्त कर डाला। इन कई वर्षों में गुरु ने अपने निजी सन्यासी संप्रदाय के अध्यापन कार्य का दायित्व भी इन्हें सौंप दिया।

काशी एवं उत्तर भारत के शास्त्रार्थ विचार सभाओं में प्रकांड शास्त्रविद् वशुद्धानन्द महाराज का प्रज्वलित अग्निशिखा के रूप में आविर्भाव हुआ।

शास्त्रों के गूढ़ार्थ के उद्घाटन तथा सनातन धर्म की विजय पताका के संस्थापक के रूप में वे विशिष्ट नेता के पद पर आसीन हो गये। काशी के मठ मंडली, अखाड़ा एवं गृहस्थों के घर, जहाँ भी विशुद्धानन्द जाते, सभी के अनायास श्रद्धा के भाजन होते। शिष्य की इस सफलता पर गौड़स्वामी के आनन्द की सीमा नहीं थी।

इन्हीं दिनों मंडली के सारे सन्यासियों को एक दिन उन्होंने इकट्ठा किया तथा घोषणा की, कि उनके देहान्त के बाद विशुद्धानन्द सरस्वती ही मठ-मंडली के महन्थ एवं परिचालक होंगे। इसी कारण जितने दिनों तक यह महात्मा जीवित रहे, मठ के भावी उत्तराधिकारी, विशुद्धानन्द के आचार-आचरण एवं आदर्श की विशुद्धता बनाये रखने के लिए निरंतर उनकी कड़ी दृष्टि रहती थी। प्रिय शिष्य के अंतर में आत्माभिमान कभी भी न आने पावे, तथा त्याग-वैराग्य की साधना से उनका जीवन सर्वथा समुज्वल रहे, इसके लिए उनकी सतर्कता का अंत नहीं था। मठ के एक दिन की एक साधारण घटना में इसका प्रमाण मिलता है।

विशुद्धानन्द के आगमन से कई वर्ष पूर्व आचार्य गौड़स्वामी ने तीन ब्रह्मचारियों को सन्यास दीक्षा प्रदान की थी। इनमें से स्वामी विश्वरूप सबसे पुराने थे तथा गुरुदेव के सबसे अधिक स्नेह भाजन थे। एक दिन एक शास्त्रीय चर्चा को लेकर विशुद्धानन्द के साथ स्वामी विश्वरूप का तर्क आरंभ हुआ। दोनों ही दक्षता पूर्वक शास्त्र प्रमाण उपस्थित करने लगे और अंततः विशुद्धानन्द विजयी हुए। परन्तु तर्क के समय एक समय, अकस्मात् विशुद्धानन्द उत्तेजित हो गये, तथा अपने प्रधान गुरुभ्राता के प्रति कुछ कड़े शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने कर डाला।

इस तरह विशुद्धानन्द का चित्त अशान्त हो जायगा, इसकी गुरु को कल्पना भी नहीं थी। इसीलिए व्यथित हृदय से उनकी ओर एकवार दृष्टिपात करके उन्होंने मौन का अवलम्बन कर लिया तथा काफी लम्बी अवधि तक किसी से भी कोई वार्त्तालाप नहीं किया।

विशुद्धानन्द समझ गये कि आकस्मिक उत्तेजना के फलस्वरूप, आज उन्होंने गुरु महाराज के अंतर को चोट पहुँचायी है। वे दौड़ते हुए आचार्य गौड़स्वामी के चरणों पर गिर पड़े तथा कातर स्वर में क्षमा की भिक्षा मांगने लगे। दृढ़ स्वर में उन्होंने कहा, "प्रभु, आप प्रसन्न हों। आपको मैं वचन देता हूँ कि आज से मैं स्वामी विश्वरूप जी को परम पूज्य ज्येष्ठ भ्राता के रूप में ही

देखूँगा, तथा आजीवन गुरुरूप में उनकी सेवा करता रहूँगा। इस व्रत से किसी दिन भी विचलित नहीं हूँगा।"

इस स्वीकारोक्ति का विशुद्धानन्द को किसी दिन भी विस्मरण नहीं हुआ। उत्तर काल में वे इसका अक्षरशः पालन करते रहे।

१८५९ ई० में आचार्य गौड़स्वामी ने शरीर त्याग किया। सन्यासी मंडली के सभी लोगों ने सर्वसम्मति से विशुद्धानन्द को उनका उत्तराधिकारी वरण किया, परन्तु आपत्ति उठी विशुद्धानन्द जी की ही ओर से। पुराने गुरुभ्राता विश्वरूप जी के चरणों में प्रणाम निवेदित करते हुए उन्होंने कहा, "मंडली में सभी का स्नेह एवं समर्थन मेरे लिए है, यह जानकर मुझे हर्ष है तथा मैं गौरव का बोध करता हूँ। परन्तु आपके वर्तमान रहने पर मैं इस अधिकार को ग्रहण नहीं कर पा रहा हूँ। आप वयस में ज्येष्ठ हैं तथा इस पद के लिए उपयुक्त हैं। इसके अलावा, आप स्वयं जानते हैं कि इतने वर्षों से आपको गुरु रूप में ही सेवा करता आ रहा हूँ। मैं आपको मठ के महन्थ तथा गुरु रूप में ही रख कर उसी सेवा कर्म में लगे रहना चाहता हूँ।"

विश्वरूप स्वामी चौंक पड़े। कहा, "यह तुम कैसा अद्‌भुत प्रस्ताव कर रहे हो विशुद्धानन्द? गुरु महाराज स्वयं तुम्हारी अपने उत्तराधिकारी के रूप में घोषणा कर गये हैं। हम सभी ने आज आग्रह पूर्वक उस मनोनयन को स्वीकार भी कर लिया है। और तुम कह रहे हो कि मैं वयोवृद्ध हूँ। उससे क्या होता है, मैं तो जानता हूँ कि मुझसे वयस में छोटे होने पर भी तुम हो-ज्ञानवृद्ध। इसके अलावा, गुरुजी के तिरोधान के पश्चात् यदि तुम मुझे ही गुरु रूप में मानना चाहते हो, तो मैं तुम्हें आदेश देता हूँ कि अविलम्ब तुम महन्थ की गद्दी पर अधीष्ठित होओ, तथा सबकी अभिलाषा पूर्ण करो।"

विशुद्धानन्द जी ने गुरु गौड़स्वामी की गद्दी पर आरोहण किया। परन्तु जब तक उनके ज्येष्ठ गुरुभ्राता तथा गुरुप्रतिम विश्वरूप स्वामी जीवित थे, वे उनके परामर्श के बगैर किसी काम में हाथ नहीं डालते तथा कोई गुरुत्वपूर्ण निर्णय नहीं लेते।

लगातार उन्तालीस वर्षों तक काशी के आध्यात्मिक एवं सारस्वत समाज पर विशुद्धानन्द सरस्वती का एकाधिकार रहा। प्रतिदिन गंगा स्नान तथा ध्यान-जप के पश्चात् भस्मतिलकांकित ललाट, ये सन्यासी भास्कर शिष्य एवं दर्शनार्थियों के सम्मुख परम तत्वों का उपदेश देते। उनके श्रीमुख से निकले वेदान्त के अद्वैत विचार एवं राजयोग के निगूढ़ साधन तत्वों को सुन कर सैकड़ों श्रोता कृतार्थ होते।

सनातन धर्म के दुर्ग शिखर के शीर्ष पताका के रूप में स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती प्रतिष्ठित रहे। उत्तर भारत के सन्यासी संप्रदाय के विशिष्ठ अग्रणी साधक एवं शक्तिधर नेता रहे। धर्म एवं समाज की अनेक समस्याएँ एवं विचार वितर्क इन महापुरुष के सम्मुख उपस्थापित किए जाते। अपनी वेदोज्वला बुद्धि की सहायता से वे सारी समस्या, संशय एवं वितर्कों का समाधान अनायास ही कर डालते।

शास्त्रार्थ विचार सभाओं में अपने अनुगामी सन्यासियों के साथ विशुद्धानंद, शास्त्रमूर्त्ति रूप, ब्रह्मसाधना के निष्कल दीपशिखा के रूप में बिराजित रहते। परम विस्मयकर बात यह थी कि साधु, सन्यासी, शास्त्रग्य ब्राह्मण एवं निरक्षर जनसाधारण सभी को उनसे सहज श्रद्धा, प्रेम तथा आनुगत्य अनायास ही मिल जाता।

पुरी धाम के सर्वजन श्रद्धेय आत्मज्ञानी सन्यासी नंगा बाबा के साथ विशुद्धानन्दजी लम्बी अवधि तक सख्यतासूत्र में आबद्ध रहे। काशी आने पर नंगाबाबा महाराज प्रायः उनके मठ में आकर दर्शन देते। दो ब्रह्मविद् महात्माओं के मिलन से आनन्द की तरंग फूट पड़ती। असीघाट के हरिहर बाबा एवं बनपुरवा के वीतरागानन्दजी उन दिनों नवीन साधक थे। उन दिनों प्रायः ही वे लोग विशुद्धानन्दजी के चरणों में आकर बैठते तथा शास्त्र एवं साधना के निगूढ़ उपदेशों का लाभ करते।[1] मंडली तथा संप्रदाय का ज्ञान भूलकर, जिज्ञासु तथा मुमुक्षु सन्यासीगण, सर्वदा विशुद्धानन्दजी के दर्शन हेतु आते, तथा परम तत्व का रहस्य उनसे प्राप्त करते।

सन्यासी शिरोमणि विशुद्धानन्दजी की सारस्वत प्रतिभा ने देश-विदेश के बहुत से विद्यार्थियों को आकर्षित किया। उत्तरकाल में इनमें से प्रत्येक एक-एक दिकपाल पंडित के रूप में प्रसिद्ध हुए हैं।[2]

---

१. नंगा बाबा, हरिहर बाबा एवं वीतराग बाबा के साथ विशुद्धानन्दजी के योगायोग की कहानी लेखक को वीतराग बाबा से ही ज्ञात हुई थी। काशी विश्वविद्यालय के दक्षिण-पश्चिम क्षेत्र में बनपुरवा में यह महात्मा निवास करते थे। १९६० ई० में डेढ़ सौ वर्ष की अवस्था में उनका देहांत हुआ था।

२. इनमें से हैं—दरभंगा के बच्चा झा, भांटपाड़ा के ताराचरण तर्करत्न (काशीराज के सभा पंडित) एवं उनके स्वनामधन्य पुत्र प्रमथ नाथ तर्कभूषण, महाराष्ट्र के सखाराम एवं काकाराम भट्ट, बंबई के नानूराय राजस्थान के चेतरामजी, अंबिकादत्त व्यासजी, लाहौर के गुरुप्रसाद, मेरठ के सेवक राम, स्वामी राम मिश्र, सत्यचरण इत्यादि। द्रः शिवम्, आश्विन १३७२, विशुद्धानन्द (अध्यापक बटुकनाथ भट्टाचार्य)।

उत्तर भारत के राज राजवाड़ों में भी स्वामीजी की असामान्य प्रतिष्ठा थी। इनमें से कोई उनके गुणों से मुग्ध थे, तो कोई उनके भक्त शिष्य थे। इनमें से अनेक भृत्य जैसे उनके आदेश पालन को उत्सुक रहते।[३] स्वामीजी के आदेश से ये लोग बहुत से क्षेत्र, सन्यासी-मठ एवं अखाड़ों में अन्न-वस्त्र की व्यवस्था करते।

आर्य समाज के प्रवर्तक, संस्कारपंथी नेता, दयानन्द स्वामी उन दिनों सनातन धर्म के ऊपर प्रबल आघात कर रहे थे। उत्तर भारत में सर्वत्र सफर करके, पंडित तथा साधु मण्डली को अपने मत में दीक्षित करने की चेष्टा की उनकी सीमा नहीं थी। काशी आकर भी उन्होंने बहुत से भाषण दे डाले। काशी के महाराज ईश्वरी प्रसाद ने शास्त्रार्थ में निर्णय के लिए एक विचार सभा का आयोजन किया। इस सभा में दयानन्द के प्रतिपक्ष के रूप में स्वामी विशुद्धानन्द एवं उनके छात्र तथा काशिराज के सभापंडित तारा चरण तर्करत्न उपस्थित थे। शास्त्रार्थ में दयानन्द की पराजय हुई, तथा इसके बाद उत्तर-पूर्व भारत में उनके नवीन मतवाद के और अधिक विस्तारित होने का सुयोग नहीं मिल सका।

१८६० ई० के कुंभ मेले में योगदान, स्वामीजी के जीवन की एक उल्लेख-योग्य घटना है। केवल धर्म मेले में योगदान ही नहीं, यह मानो एक विजय अभियात्रा थी। सन्यासी, भक्त एवं शास्त्रविद् पंडितों की एक विराट् वाहिनी विशुद्धानन्दजी के साथ, मन्थरगति से अग्रसर हुई। मार्ग में जहाँ भी वे ठहरते, काशीधाम के इन विख्यात महात्मा के शिविर के चारों ओर भक्तों का अपार जनसमूह उमड़ पड़ता। राजे-महाराजे तथा सेठों का दल स्वामीजी महाराज की सेवा में सदा तत्पर रहता।

मेला क्षेत्र में ये शास्त्रमूर्त्ति, ब्रह्मविद् महापुरुष, एक दर्शनीय पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित रहे। हजारों मुमुक्षु नर-नारियों की भीड़ सदा उनको घेरे रहती। आर्त-भक्तों के दल के दल भी लगातार आते रहते। स्वामीजी के कृपा प्रसाद का लाभ कर वे सभी आनन्द सागर में निमज्जित होते।

मेले से वापसी के समय, कश्मीर के महाराजा रणवीर सिंह जी के अनुरोध से स्वामीजी ने श्रीनगर में भी पदार्पण किया। इस कश्मीर यात्रा के माध्यम

---

३. कश्मीर, सिंधिया, जयपुर, इन्दौर, बूंदी, दरभंगा, सिरोती इत्यादि के शासक स्वामीजी के परम अनुगत थे। द्र: उपरोक्त।

से स्वामीजी ने उत्तर-पश्चिम भारत के सहस्रों नर-नारियों को दर्शन दान दिया, तथा नवीनतर आध्यात्मिक उद्दीपना संचारित की।

इसके उपरान्त स्वामीजी इस नश्वर शरीर में आठ वर्षों तक रहे, और इस अवधि में उन्होंने काशी धाम से बाहर कहीं यात्रा नहीं की। भारत के श्रेष्ठ अध्यात्म पीठ एवं विद्या केन्द्र में सन्यासी समाज के श्रेष्ठ पुरुष एक अत्युज्वल आलोक स्तंभ के रूप में वे विराजित रहे।

ईश्वर निर्दिष्ट कर्म प्रायः उद्यापित हो चुके हैं। अब स्वामीजी को शेष लग्न की प्रतीक्षा है। काया पुरातन हो चुकी है, तथा आजकल उनका मठ से बाहर कहीं जाना सम्भव नहीं हो पा रहा है। चित्तवृत्ति भी सदा ब्रह्म-ध्यान में निमग्न रहती है। केवल बीच-बीच में स्वेच्छा से कभी-कभी सन्यासी शिष्यों के स्वाध्याय में सहायता कर देते हैं।

गंगा तट पर अहल्याबाई घाट पर ही स्वामीजी का मठ स्थित है। मठ के दोतल्ले पर बैठ कर उदास नेत्रों से वे गंगा की स्रोतधारा की ओर देख रहे हैं। एक नवीन सन्यासी शिष्य कठोपनिषद् के एक खण्ड के साथ चरण प्रांतर में बैठे हुए हैं। प्रसन्नतापूर्वक मुस्कराते हुए ग्रन्थ को हाथ में लेकर स्वामीजी ने धीरे-धीरे उसका पाठ एवं व्याख्या आरम्भ की। क्रमशः पाठ उसी प्रसिद्ध कारिका पर आ पहुँचा जहाँ सुषुम्ना नाड़ी की बात कही गयी है। शरीर के सैकड़ों नाड़ियों के मध्य यही नाड़ी मूर्ध्वस्थल से संलग्न होती है, और इसी मार्ग से आप्तकाम योगी प्राणों का उत्क्रमण करते हैं।

कारिक की व्याख्या के समय नवीन सन्यासी छात्र सहसा कुछ-कुछ अन्य-मनस्क सा हो उठा। स्वामीजी को बड़ी विरक्ति हुई। वे दृढ़ स्वर में कह उठे, "अभी तो इस नाड़ी की बात तुम सुन नहीं रहे हो, देखो शीघ्र ही इसी नाड़ी के मार्ग से मेरा देहान्त होगा। उसके बाद, इस नाड़ी की बात तुम्हारी स्मृति से विस्मृत नहीं होगी।"

नवीन सन्यासी बहुत लज्जित हुए, तथा बार-बार, हाथ जोड़ कर गुरु महाराज से क्षमा प्रार्थना करने लगे।

कुछ ही दिनों के बाद विशुद्धानन्दजी महाराज का प्रतीक्षित परम लग्न उपस्थित हुआ।

१८९८ ई० के चंदन एकादशी की पुण्य तिथि। समय आसन्न जानकर स्वामीजी ने शिष्यों को आदेश दिया, "अब देरी न करके मेरे शरीर को गंगा द्वारा प्रक्षालित इस बुर्ज के ऊपर स्थापित करो। तुम लोग सभी जल्दी से तैयार हो जाओ।"

शिष्यगण, शोकविह्वल हो उठे। स्निग्ध वाणी से स्वामीजी ने उन्हें आश्वासन दिया "शोक क्यों ? आत्मज्ञानी का जन्म ही कहाँ होता है, तथा मृत्यु कैसी ? तुम लोग अपने चित्त की स्थिरता को अक्षुण्ण बनाये रखो।"

बुर्ज के ऊपर ले जाये जाने पर, अपनी जराजीर्ण के साथ बैठ गये। उसके बाद स्वतः ही उन्होंने प्राणवायु को सुषुम्ना नाड़ी के माध्यम से ब्रह्मरंध्र की ओर चालित किया।

क्षण भर में यह संवाद चारों ओर फैल गया। दशाश्वमेध घाट पर सहस्रों भक्त एवं दर्शनार्थी नर-नारी एकत्रित हुए। ब्रह्मलीन महात्मा के नश्वर शरीर को पुष्प-चंदन से सुसज्जित कर पुण्य सलिला, भागीरथी के गर्भ में विसर्जित कर दिया गया।

गोस्वामी श्रीविजयकृष्ण

बंगाल के धर्म-प्रवाह और सामाजिक आवर्त्त के एक विशिष्ट संगम-क्षण में आविर्भूत हुए थे, प्रभुपाद श्रीविजयकृष्ण गोस्वामीजी। अपनी साधना, सिद्धि, आदर्श और व्यक्तित्व के द्वारा उन्होंने समकालिक समाज-जीवन को प्रभावित किया; शिथिल भक्ति-आन्दोलन को पुनरुज्जीवित किया और उसके प्राणों को नूतन शक्ति के स्पंदनों से संपन्न कर दिया। हजारों उद्धार-कामी मानवों को इस शक्तिधर-महापुरुष के जीवन और वचन के कृपा-प्रसाद से नया प्रकाश प्राप्त हुआ।

'विजयकृष्ण' का जन्म एक ऐसे वैष्णव-परिवार में हुआ था, जिसमें अद्वैत-निष्ठा की पुश्तैनी परंपरा दीर्घकाल से चली आ रही थी। तरुण होने के साथ-साथ उनके जीवन में अदम्य आकांक्षा जग पड़ी—भगवान् को पाना ही होगा; परमसत्य के साक्षात्कार के बिना जीवन का कोई अर्थ नहीं; इसके लिए जिसका भी त्याग करना पड़े और जितने भी दुःख उठाने पड़ें, मगर वे पीछे नहीं हटेंगे। हाँ, वे सत्य का साक्षात्कार अवश्य करेंगे और ब्रह्मज्ञान प्राप्त किये बिना चैन नहीं लेंगे।

सत्य-साक्षात्कार के इस महान् व्रत ने विजयकृष्ण को चरम त्याग-तितिक्षा के जीवन-पथ पर ढकेल दिया।

आरंभ में वे ब्रह्म-समाज के चक्कर में पड़े। उस समय सत्य-व्रती जीवन को प्रत्येक डेग पर निर्भय संग्राम करना पड़ता। इसके बाद आकाश-गंगा पहाड़

पर सद्गुरु से उनका साक्षात्कार हुआ। कठोर तपस्या के सहारे उन्होंने अपरिमेय योगैश्वर्य अर्जित कर लिया और गुरु के आदेश से वे आचार्य्य की भूमिका में उतर पड़े। आध्यात्मिक वैभव को वे अब मुक्तहस्त होकर बाँटने लगे।

जीवन के इस अद्भुत पथ पर, उन्हें माध्यम बनाकर, विधाता ने बड़े-बड़े खेल किये। जीवन-धारा में कितनी तरंगें हैं और कैसे-कैसे भँवर हैं, यह किसे पता? उसमें अंधकार और प्रकाश की जो माया जग पड़ती है, उसकी भी कोई सीमा नहीं। इन सब को झेल लेने के बाद ही, दिव्य चेतना से उद्भासित होकर, जीवन-धारा को, मुक्ति के पारावार में मिल जाने का अवसर प्राप्त होता है।

संस्कार-पंथी ब्राह्म आंदोलन में डूब-उतरा चुकने के बाद, गोसाईंजी ने परमहंस श्रीरामकृष्णदेव द्वारा बतायी गई साधना शुरू की और सिद्धि-लाभ के उपरान्त, जीवन के उत्तर-काल में, वे उसी साधना के मार्ग को अपनाये रह कर, प्रेम-भक्ति के अप्रतिम वैष्णव आचार्य के रूप में प्रसिद्ध हुए।

इस महापुरुष के महान् जीवन के गंभीर रहस्य पर प्रकाश डालने के क्रम में, एकबार, योगिराज श्री अरविंद ने लिखा था : 'इस देश की समाज-चेतना पर विजयकृष्ण गोस्वामी के आध्यात्मिक जीवन का प्रभाव अत्यन्त व्यापक रूप से पड़ा है। पर उस प्रभाव के संपूर्ण गुरुत्व की उपलब्धि का काल अभी नहीं आया है।'

२ अगस्त, १८४१ ई० को, दोल-पुर्णिमा के संध्या-समय प्रभुपाद श्रीविजय-कृष्ण गोस्वामी का जन्म हुआ।

इनके पिता––श्री आनंदचंद्र गोस्वामी वैष्णव-सुलभ निरीहता, नम्रता और दैन्य की प्रतिमूर्त्ति और परम भगवद्-भक्त थे। अपने गृहदेवता श्यामसुन्दर की पूजा किये बिना, कभी वे अन्न-जल ग्रहण नहीं करते। एकबार शान्तिपुर से पुरीधाम तक साष्टांग दण्डवत्-प्रणाम करते-करते जब वे जगन्नाथ-मंदिर पहुँचे, तो उनका वक्षस्थल लहूलुहान हो गया था। उसी अवस्था में परम-परम दैन्य-भाव से जगन्नाथ देव को प्रणाम कर लेने के बाद ही उनके जी-में-जी आया। आनंदचंद्र के जीवन के शेष काल में एक-से-एक अद्भुत चमत्कार घटित होने लगे थे। पर भक्ति-भाव से श्रीमद्भागवत का पाठ करते रहने के कारण ही, भावाविष्ट दशा में रहने के बावजूद, उनकी देह-रक्षा होती रही।

इनकी माता, 'स्वर्णमयी' भी असाधारण नारी थीं। विपन्नों और आर्त्तों के लिए तो वे साक्षात् करुणा की ही मूर्त्ति थीं। दीन-दुखियों ने उनसे जब जो चाहा, किसी-न-किसी उपाय से स्वर्णमयी ने उसका प्रबंध अवश्य कर दिया।

गाँव की हाट पर दरिद्र नारियाँ साग-पात बेचने आतीं। बिक्री-बट्टा करते-करते बेला ढल चलती थी। ऐसी थकी-मारी, भूखी-रूखी नारियों को, बड़े स्नेह के साथ, स्वर्णमयी अपने घर बुला लेतीं; उनके बालों में तेल चुपड़ देतीं और जब वे नहा-धोकर तैयार हो जातीं तब उन्हें जी-भर खिलाये बगैर चैन नहीं लेतीं।

एक बार, जाड़े की शाम में, वे कलकत्ते की किसी राह से गुजर रही थीं। उन्होंने देखा कि सड़क के किनारे कोई तरुणी वेश्या चुपचाप खड़ी है। जब वे बड़ी देर बाद फिर उसी राह से लौटीं, तो देखा कि माघ मास के कड़ाके की उस सर्दी में, वह ज्यों-की-त्यों, वहीं, गुमसुम खड़ी है। स्वर्णमयी का दिल दया से भर आया। उनके पास उस समय जो रुपये-पैसे थे, समझा-बुझाकर, उन्होंने सब उसे ही दे दिये। स्नेह के साथ उन्होंने उसे कहा, 'बेटी, इस तरह जाड़े में जान देने पर तुम क्यों तुली हुई हो? अब जाओ, अपने घर को लौट जाओ।'

विजयकृष्ण को कच्ची उम्र में ही पितृ-वियोग सहना पड़ा। यही कारण है कि उनके जीवन में उनकी माँ का प्रभाव ही सर्वाधिक मात्रा में प्रकट होता रहा। कुल की परम्परा के साथ-साथ उनकी अपनी सहजात प्रवृत्ति भी भक्ति और वैराग्य की दिशा में ही उन्हें खींच रही थी। पुण्यमयी जननी के सान्निध्य से प्राप्त आध्यात्मिक सम्पद ने उसमें योगदान ही किया।

शान्तिपुर का ग्राम्य परिवेश आप ही शान्त और सुन्दर था। वहाँ विजयकृष्ण के दिन बड़े मजे में कटते। बाल्यकाल से ही उनके चरित्र में सरलता और सत्यनिष्ठा कूट-कूट कर भरी थी। टोले के लड़कों के साथ लगकर, बालक विजयकृष्ण भी घाट-बाट में घूमने निकल जाता। पास-पड़ोस के लोगों को कम उपद्रवों का सामना करना पड़ता था—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। पर किसी ने अगर कभी कोई अभियोग लगाया, तो सच्ची बातों को कबूल कर लेने में इस बालक को कभी किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ। आँखों के आगे अगर कोई अन्याय या अविचार घटित हो जाता, तो विजयकृष्ण किसी को छोड़ना नहीं जानता था। जोश-खरोश के साथ ऐसी बातों का प्रतिवाद कर बैठना, उसका स्वभाव बन गया था।

उस दफा, शान्तिपुर के एक जमींदार ने एक रैयत को अपनी कचहरी पर पकड़वा कर मँगवाया। अपराध भले मामूली रहा हो, मगर शान्ति-व्यवस्था के नाम पर बड़ी कड़ी सजा तय की गयी, फैसला जानकर लोगों की साँस रुकने लगी।

उस नृशंस दृश्य को देखकर विजयकृष्ण के लिए अपने को काबू में रखना असम्भव हो गया। विक्षिप्त की तरह आगबबूला हो उठे और उस जमींदार को 'राक्षस', 'डकैत' आदि कहते हुए, आक्रोश के मारे, बेहोश होकर गिर पड़े। गोसाईंजी के बेटे की इस हिम्मत को देखकर जमींदार और उसके चट्टे-बट्टों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। लेकिन विजयकृष्ण के सत्साहस का नतीजा, उस दण्डित व्यक्ति के लिए, अच्छा निकला। उसे जमींदार ने मुक्त कर दिया और घर लौट जाने की इजाजत दे दी।

एक बार जातिवालों ने गोसाईं के एक शिष्य को समाज से निष्कासित कर दिया। उसे तीन सौ रुपये अर्थ-दण्ड के रूप में जमा कर देने का आदेश भी दिया गया था। कुछ दिन बाद, उसी शिष्य के घर पर, किशोर विजय कृष्ण घूमने-फिरने के क्रम में जा पहुँचे। डबडबाई आँखों से शिष्य ने अपनी पीड़ा की वह पूरी कहानी बता दी। विजय का हृदय पसीज गया। जुर्माने की पूरी रकम जमा कर देने का भार उन्होंने अपने ऊपर ले लिया। इस प्रसंग को लेकर अपनी जाति-बिरादरी वालों के बीच उन्हें लांछित होना पड़ा था।

शान्तिपुर की पाठशाला और टोल की पढ़ाई पूरी कर लेने के बाद, विजयकृष्ण कलकत्ता जाकर संस्कृत कॉलेज में भर्ती हुए। विद्यार्थी के रूप में उनका उत्साह देखने योग्य था। बहुत दिनों तक वे विद्या-अर्जन के कार्य में डूबे रहे।

उन दिनों श्री विजयकृष्ण, रंगपुर जिला-निवासी किसी शिष्य के घर पर रहा करते थे। राह में चलते-चलते एक दिन देववाणी की गंभीर ध्वनि उनके कानों में आ पड़ी। पता नहीं, उन्हें कौन रह-रहकर बारम्बार कह रहा है—'परलोक की भी चिन्ता करो।'

कितना आश्चर्यकारक है यह दिव्य कण्ठ-स्वर ! नेपथ्य से, इस तरह, उन्हें कौन पुकार रहा है ? उनके कल्याण की इस तरह चिन्ता करनेवाला पुरुष कौन है ? नयी जिन्दगी की ओर उन्हें इस प्रकार उद्बुद्ध करनेवाला, आखिर, कौन हो सकता है ? वह अलौकिक वाणी उनके अन्तर को आलोड़ित करने लग गई। समझ में नहीं आ रहा था कि क्या किया जाय। हृदय की आतुरता दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही चली जा रही है।

चेतना के द्वार को किसी ने एकबार फिर खटखटा दिया। शिष्य-परिवार की एक वृद्धा के हृदय में वैराग्य का प्रबल भाव सहसा जग पड़ा था। वह विजयकृष्ण के चरणों पर लोट गई और रोकर बोली : 'प्रभो, मैं त्रिताप की

अथाह राशि में ऊभचुभ होकर मरी जा रही हूँ। आप कृपा करके मुझे उबार लें।'

ओह, ये आँसू और ऐसी विकलता! सत्य के साधक तरुण विजयकृष्ण के मर्मस्थल में उस वृद्धा की बातें गड़ गईं।

वे चौंक उठे। मन-ही-मन उन्होंने अपने-आपसे पूछा : 'क्या मैं ही इसका उबारने वाला हूँ? यह इसने क्या कह दिया? मैं तो आप ही अपने को माया-पाश में आबद्ध करता जा रहा हूँ। मेरा अपना ही आधार, अपना ही सहारा नहीं है। मेरे किये किसी का क्या भला हो सकता है? और जब मैं कुछ कर नहीं सकता, तो इस तरह गुरुडम पसारना क्या कपटाचार नहीं कहा जायगा?

नतीजे पर पहुचने में देर नहीं लगी। उसी दिन से गुरुआई के पुश्तैनी पेशे से उन्होंने छुट्टी ले ली।

बंगाल के सामाजिक जीवन में उन दिनों बवंडर चल रहा था। अंग्रेजी शिक्षा और सभ्यता के आक्रमण ने सामाजिक मर्य्यादाओं को शिथिल कर दिया था। धर्म और संस्कृति की हालत दयनीय होती जा रही थी। डिरोजियो, डफ् तथा मैकाले के प्रभाव में पड़कर, शिक्षित बंगालियों की एक मंडली निरीश्वरवाद का प्रचार करने लगी थी। दूसरे बहुतेरे लोगों ने ईसाई हो जाना कबूल कर लिया था। इस टूट-फूट को रोकने के लिए और धर्म तथा समाज को आत्म-संस्कार का प्रकाश प्रदान करने के लिए, उन दिनों, एक शक्तिधर पुरुष, राजा राम मोहन राय, समाज के सामने उपस्थित हुए थे।

भारतीय सभ्यता को बचाये रखने के लिए राजा राम मोहन राय ने उस समय एक आत्मरक्षण-व्यूह की रचना कर ली थी। अपने नये धर्म-आन्दोलन का नाम उनके द्वारा घोषित हुआ—'वेदान्त प्रतिपाद्य सत्य धर्म'। कालान्तर में इस आन्दोलन को महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर का सहयोग प्राप्त हो गया। श्री ठाकुर में संगठन की अपूर्व प्रतिभा थी। थोड़े ही समय में आन्दोलन का व्यापक रूप प्रकट हो गया और उसका नया नाम पड़ा—'ब्राह्मधर्म'। महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन की प्रेरणा से शिक्षित बंगालियों के घर-घर में उस आन्दोलन की गूँज सुनाई पड़ने लग गई।

हिन्दू-समाज एक भयंकर विपत्ति का ग्रास बनते-बनते, उस समय, किसी प्रकार बच गया। अब उसकी आत्मशुद्धि और आत्म-प्रतिष्ठा की नई समस्या पर लोगों का ध्यान गया। विजयकृष्ण इस आन्दोलन में जी-जान से लग गये।

शिष्य बनाने का कुलागत व्यवसाय वे इसके पहले ही छोड़ चुके थे। इसवार उन्होंने संस्कृत कालेज का भी त्याग कर दिया। किन्तु भरण-पोषण का क्या उपाय हो ? यह प्रश्न भी सामने आ खड़ा हुआ। कोई-न-कोई अर्थकरी चेष्टा तो जारी रखनी ही होगी। उन्होंने निश्चय किया कि मेडिकल कालेज के बँगला-विभाग में पढ़ाई शुरू कर दें। परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने पर जीविका और जन-कल्याण---दोनों ही काम--साथ-साथ वे कर सकेंगे।

एक मित्र के विश्वासघात ने, उस समय, श्री विजयकृष्ण को एक बड़े पराभव में डाल दिया। आर्थिक स्थिति इतनी खराब हो गई कि कई दिनों तक उन्हें कल का पानी पीकर ही रह जाना पड़ा। पर हृदय में भाव-विप्लव, इस दुःस्थिति की घड़ी में भी लगातार चलता रहा। किन्तु दरिद्रता के कशाघात से आहत होकर उद्भ्रान्त अवस्था में पड़ जाना भी कम स्वाभाविक न था।

ऐसे ही समय में कहीं से घूमते-घामते एक दिन श्री विजयकृष्ण ब्राह्म-समाज में जा पहुँचे। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर उस समय वेदी पर बैठे कोई ओजस्वी धर्मोपदेश दे रहे थे। उस उपदेश ने विजय कृष्ण के भीतर और बाहर जैसे शान्ति का शीतल प्रलेक लगा दिया। उन्होंने ब्राह्म-धर्म की दीक्षा ले ली। थोड़े ही समय में वे ब्राह्म-धर्म के श्रेष्ठ कार्यकर्त्ता के रूप में विख्यात हो गये। त्याग, आदर्श-निष्ठा और कार्य-तत्परता की दृष्टि से उनके समकक्ष पुरुषों की तायदाद, ब्राह्म-समाज में, उस समय, बहुत ही कम थी।

देवेन्द्रनाथ और केशवचन्द्र के घनिष्ठ सहकर्मी के रूप में श्री विजयकृष्ण ने ब्राह्म-समाज का काम अपने हाथों में ले लिया। पर बाद में ऐसा समय भी आया, जब अपने आदर्श और सत्य-निष्ठा की रक्षा के लिए, उन्हें, उन दोनों नेताओं को निःसंकोच होकर रोकना-टोकना पड़ जाता था।

ब्राह्म-समाज में वे प्रविष्ट अवश्य हुए थे; पर थोड़े समय में उनकी सत्यनिष्ठा और क्रान्तिकारिता का उदग्र रूप भी प्रकट हो गया। एक दिन वे स्वयं महर्षि देवेन्द्रनाथ से ही पूछ बैठे : "अच्छा, बताइये तो, अगर हमलोग जाति-भेद को ही नहीं मानते हैं; तो फिर, जनेऊ क्यों पहनते हैं ? ऐसा करना मुझे अब कपटाचार-जैसा लग रहा है।" देवेन्द्रनाथ ठाकुर अत्यन्त उदार होने के बावजूद इतनी दूर तक आगे बढ़ने के लिए प्रस्तुत न थे। किन्तु विजय-कृष्ण ने उसी दिन यज्ञोपवीत का त्याग कर दिया।

यज्ञोपवीत के त्याग किये जाने की उस घटना ने शान्तिपुर और कलकत्ते के लोगों में उनके प्रति और उनके परिवार के सदस्यों के प्रति आक्रोश और

गोस्वामी विजयकृष्ण

लांछना के भाव जगा दिये। किन्तु इस अकुतोभय तरुण को कोई भी उपद्रव अपने संकल्प से विचलित नहीं कर सका।

एकवार की एक और कहानी है। विजयकृष्ण के ब्राह्म-समाज के प्रचारक-पदपर नियुक्त हुए थोड़े ही दिन बीत पाये थे। बातचीत के सिल-सिले में देवेन्द्रनाथ ने उनसे कहा : "एक बात याद रक्खो; प्रचार के काम से मैं तुम्हें जब जहाँ जाने कहूँ, वहाँ तुम्हें जाना ही होगा।"

तेजस्वी विजयकृष्ण ने गंभीर होकर उत्तर दिया : "इसमें थोड़ा-सा सुधार करना होगा। बात यह है कि मैं भगवान् की प्रेरणा और अपनी धर्म-बुद्धि के अनुरोध से ही कोई काम करता हूँ। किसी आदमी के हुक्म पर चलना तो मेरे लिए संभव ही नहीं होता।"

देवेन्द्रनाथ गुण-ग्राही धर्म-नेता थे। इसलिए विजयकृष्ण की उस बात से वे तनिक भी रुष्ठ नहीं हुए। उनकी निर्भीकता और भगवद्-भक्ति का परि-चय पाकर, वे उनके प्रति और भी अधिक मुग्ध और प्रसन्न हो गये। इसके बाद से उन्होंने विजयकृष्ण को अपनी स्वतंत्र इच्छा के अनुसार धर्म-प्रचार करने की कायमी इजाजत दे-दी।

उस वार जैसोर जिले के एक गाँव में ब्राह्म-धर्म के प्रचार के लिए एक दक्ष व्यक्ति की आवश्यकता अचानक आ पड़ी थी। लेकिन इतनी हड़बड़ी में उप-युक्त व्यक्ति का उपलभ्य हो जाना सहज नहीं था। धर्मनेतागण बड़े असमंजस में पड़ गये।

मेडिकल कॉलेज की परीक्षा पूरी नहीं हुई थी। उसके कई पत्र अभी भी बाकी थे। विजयकृष्ण की तैयारी अच्छी थी। वे उस समय अपनी उसी परीक्षा में व्यस्त थे। लेकिन ब्राह्म-समाज का जो काम आ पड़ा था, वह उस परीक्षा से क्या कम महत्त्वपूर्ण था? विजयकृष्ण के मन में यह प्रश्न एक-बारगी कौंध उठा और दुविधा-हीन मन से वे वहाँ जाने के लिए उद्यत हो गये। चिकित्सक-जीवन की सारी संभावनाओं पर लात मारकर और अपने उज्ज्वल भविष्यत् को तुच्छ मानकर उन्होंने प्रचारक के उस पद पर जाना कबूल कर लिया।

उनके हितचिन्तकों को उनका यह निर्णय पसन्द नहीं आया। मित्रों ने सवाल उठाया : "पढ़ाई छोड़कर प्रचारक तो बन रहे हो, लेकिन परिवार का भरण-पोषण कैसे चलेगा? इस पर भी कभी विचार करते हो?"

त्याग-व्रती विजयकृष्ण कड़ाके का उत्तर देते : "नहीं, इस पर तो मैं एकदम ही विचार नहीं करता। जो रेगिस्तान में भी कहीं-न-कहीं हरियाली के द्वीपों

(Oasis) को उगाते-जुगाते रहते हैं वे ही मेरा और मेरे परिवार का भार भीसँभल लेंगे।"

प्रचारक का काम उठा लेने के बाद, विजयकृष्ण ने जिस त्याग, तितिक्षा और निष्ठा का परिचय दिया, वह प्रत्येक दृष्टि से असाधारण था।

इसके कुछ ही बाद ब्राह्म-समाज में प्राचीन और नवीन मतावलंबियों के दो स्पष्ट भाग अलग-अलग हो गये। एक ओर प्राचीन पंथ के अर्थात् 'आदि-ब्राह्म-समाज' के नेता बनकर महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर अपने मत पर अड़े रह गये, तो दूसरी ओर केशवचन्द्र सेन, श्री विजयकृष्ण और कुछ दूसरे लोगों ने मिलकर अपने नेतृत्व में 'भारतवर्षीय ब्राह्म-समाज' की स्थापना की।

क्लान्तिकर मतान्तर का यह काण्ड कलकत्ते में ही घटित हुआ था। इसके बाद श्री विजयकृष्ण कलकत्ता छोड़कर, कुछ दिनों के लिए अपने घर शान्तिपुर चले गये और वहीं रह गये।

शान्तिपुर के गृह-देवता श्यामसुन्दर के विग्रह के माध्यम से एक-से-एक अद्भुत काण्ड, उन्हीं दिनों, घटित होने लग गये थे। कभी स्वप्न में और कभी जाग्रतावस्था में ही श्यामसुन्दर श्री विजयकृष्ण के साथ कौतुक-विनोद करने लग गये।

एक-से-एक अनूठे निर्देश, बीच-बीच में, आने लग गये। मुक्तिवादी ब्राह्म-नेता श्री विजयकृष्ण इन अद्भुत प्रसंगों के मारे बड़े संकट में पड़ गये थे। उन अलौकिक घटनाओं की बुद्धि-संगत व्याख्या करने में उनकी अक्ल भुतला जाती थी।

श्यामसुन्दर के विग्रह से उनकी पुरानी अन्तरंगता तो थी। पर इधर एक-से बढ़कर-एक खेल होने लगा था। ठाकुर का आचरण बड़ा ही विचित्र हो गया था। उनके लाड़-प्यार और मान-अभिमान की कोई सीमा नहीं। ज्यों ही सुयोग पाते, वे विजयकृष्ण के पास चिन्मय रूप में प्रकट हो जाते; मानो विजयकृष्ण ही उनके सबसे बड़े चहेते हों। उनकी पूजा में जिससे जो भी त्रुटि हो जाती, उसकी खबर वे विजयकृष्ण को तत्क्षण पहुँचा जाते। अपने बालकोचित हठों और आशा-आकांक्षाओं की पूर्त्ति के लिए भी वे श्री विजय-कृष्ण के ही पास आकर, रह-रहकर, मचलने लगे थे। प्रकट होने और अन्तर्धान होने में उन्हें आँख मटकाने-जैसी देर भी पसंद नहीं थी। उनकी उस प्रणयलीला के वे वृत्तान्त श्री विजयकृष्ण, अपने जीवन के उत्तर-काल में, अपने शिष्यों को, कभी-कभी, बड़े ही मनोयोग से बता दिया करते थे:

'एक बार श्यामसुन्दर आकर फरमा गये—"अजी सुनो, मुझे सोने की चूड़ा चाहिए। एक चूड़ा गढ़ाकर जल्दी से ले आओ। देर नहीं करोगे ना?"

मैंने कहा : "मुझे तुम पर जरा-सा भी विश्वास नहीं है। जो तुम्हें जानता-मानता हो, उसके पास जाकर अपनी ऐसी माँगों की फेहरिस्त पेश करो। मैं तुम्हारी माँगों को पूरा करने के लिए रुपये कहाँ से लाऊँ?"

'श्यामसुन्दर ने कहा—"अच्छा, तो सुनो, तुम्हारी जो खुड़ी-माँ है, उसे पूछ कर देख लो। उसकी पेटी में रुपये हैं। वही ले-लो ना?"

'बाद में खुड़ी-माँ को पूछा तो वह भी कहने लगीं—हाँ जी, कल मुझे भी श्यामसुन्दर ने स्वप्न में कहा था : "मुझे एक चूड़ा गढ़वा दो।" मैंने कहा : "मैं उतने रुपये कहाँ से लाऊँ मेरे पास तो कुछ नहीं है। तब वे कहने लगे—"यह क्यों कह रही हो? क्या तुम चालीस-पचास रुपये भी मेरे लिए खर्च नहीं करोगी? देखो, अगर तुमसे नहीं देते बने, तो विजय को ही कहो, वह तो देगा ही।"

खुड़ी-माँ इतना कहकर रोने लग गईं। फिर बोलीं—"मैंने पिटारी में सड़सठ रुपये छिपाकर रख दिये थे। इसका पता तो किसी को कभी था भी नहीं।"

'खुड़ी-माँ ने वे रुपये दे दिये। मैंने उन रुपयों से चूड़ा गढ़ा कर श्याम-सुन्दर को दे-दी और श्यामसुन्दर ने पहन ली।'

'शाम से थोड़ी देर पहले, जब मैं छज्जे पर गया था, तो श्यामसुन्दर ने हुलकी मारकर मुझे देखा और बोले—"अजी, एक बार आकर जरा देख आओ ना! चूड़ा पहन कर मैं बेतरह फबने लग गया हूँ।"

'मैंने कहा : "ना, मैं थोड़े ही यह सब देखा करता हूँ। मैं तो तुम्हें एकदम ही नहीं मानता हूँ; जरा-सा भी विश्वास नहीं करता।"

'श्यामसुन्दर ने कहा : "तो इससे क्या होता-जाता है? नहीं मानते हो, तो मत मानो। मगर एक बार देख जाने में हर्ज ही क्या है?"

'अन्ततः श्यामसुन्दर के विग्रह के सामने मुझे जाना ही पड़ा। सचमुच नन्हें-से गोल माथे पर स्वर्ण निर्मित चूड़ा ने अनूठी छटा छिटका दी थी। मैं मुग्ध होकर स्निग्ध दृष्टि से उस उज्ज्वल मनोहर छवि को निहारता ही रह गया।

'श्याम सुन्दर ने विहँस कर कहा— मैं कहता था न! पर तुम्हें तो मेरी बातों पर विश्वास ही नहीं है। अब स्वयं देख लो कि मैं सच कह रहा था या गलत।

'मैंने कहा— ठाकुर, जब मुझपर तुम्हारी इतनी कृपा थी, तो मुझे अब तक तुमने इस तरह भटकाया क्यों ? सब कुछ को तोड़-फोड़ कर 'काला पहाड़' बन जाने की धुन मुझपर सवार क्यों करा दी थी ?

'श्याम सुन्दर बोले— तो इसमें तुम्हारा क्या चला गया ? तोड़ा भी मैंने ही और फिर गढ़ा भी मैंने ही। तुम्हें तो कुछ करना नहीं पड़ा। तोड़ कर दुबारा गढ़ देने पर कोई भी चीज कितनी सुन्दर हो जाती है— इसका पता तुम्हें है ?

'प्रचारक का काम निपटा कर मैं माँ ठाकुरानी को देखने घर पहुँच जाता। एकबार घर पर मध्याह्न वेला में बैठा था। तभी श्यामसुन्दर आकर बोले : "देखो ना, आज इनलोगों ने नैवेद्य तो चढ़ा दिया, मगर जल ही नदारद ! भोजन दिया, लेकिन पानी नहीं मिला !

'मैंने खुड़ी-माँ को यों ही पुकार कर पूछा— खुड़ी-माँ, तुमलोगों के श्याम सुन्दर कहते हैं कि आज उन्हें किसी ने जल दिया ही नहीं है।

'खुड़ी-माँ ने कहा—"घर में इतने मूर्त्तिपूजकों के रहते, हमारे श्यामसुन्दर तुम-जैसे मूर्त्तिपूजा-विरोधी ब्राह्म-समाजी के पास, पानी न मिलने की नालिश करने चले गये ? यह क्या विश्वास करने की बात है ?

'मैंने कहा—"पता लगाकर तुम्हीं देख लो कि श्यामसुन्दर को किसी ने जल दिया है या नहीं।

'खुड़ी-माँ ने पूछताछ की और पता लगाया कि श्यामसुन्दर को उस दिन सचमुच जल नहीं दिया गया था।

'इसी तरह, श्यामसुन्दर कई बार आकर मुझे कई बात कह जाया करते। पुजारी से यदि कोई त्रुटि या अत्याचार हो जाता, तो वे आकर उसकी सूचना मुझे जरूर दे जाते। बचपन से ही अपने ऊपर, श्यामसुन्दर की इस अपार कृपा को मैं देखता आया हूँ। जब मैं उन्हें नहीं मानता था, तब भी, उन्होंने मुझे मानना नहीं छोड़ा।'

परमेश्वर के द्वारा निर्दिष्ट प्रेम-मधुर लीला-अभिनय साधक विजयकृष्ण के जीवन के साथ-साथ चलता रहे, भीतर-ही-भीतर, ऐसे निश्चय का आरम्भ, उसी समय हो चुका था। तभी दूर-दूर रहनेवाले ब्राह्म-समाजी को अपनी ओर उन्मुख करने की खातिर, लीला-पुरुषोत्तम ओट में रहकर ताक-झांक करने लगे थे।

श्यामसुन्दर की मुरली-ध्वनि विजयकृष्ण को बीच-बीच में उचका तो जाती थी, पर, उस समय तक, वह उनके मन को अपने पास खींचकर ले नहीं जा सकी थी।

कहाँ है वह आलोक, वह अमृत ? कौन बतायेगा उसका संधान-पथ ? विजयकृष्ण के दिन अतृप्ति और अशान्ति के बीच बीतते चले गये। उनकी यह दशा देखकर एक वैष्णव बंधु ने कहा : "तुम चैतन्य-चरितामृत का पाठ किया करो।" और उस ग्रन्थ के पाठ ने उन्हें सचमुच ही अमृत-पथ का संधान बता दिया।

गोसाईं जी ने स्वयं ही लिखा है : "न धनं, न जनं, न सुन्दरीं, कवितां वा जगदीश कामये, ममापि जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि"—इस श्लोक का पाठ करने के साथ मेरे मन में, अहैतुकी भक्ति के प्रति प्रबल आकांक्षा पैदा हो गई।"

श्री चैतन्य की प्रेमभक्ति की रसधारा धीरे-धीरे उनके आध्यात्मिक जीवन को अपने प्रवाह में आप्लुत करने लग गई। अब उस अद्वैत-संतान को केवल अपने प्रभु की अनन्यता से परिचित होने भर की देर थी।

उसबार नवद्वीप के सिद्ध महापुरुष चैतन्य दास बाबाजी के दर्शन करने के लिए श्री विजयकृष्ण पहुँचे। कथा-प्रसंग के सिलसिले में उन्होंने बाबाजी से पूछा : "बाबाजी, भक्ति किसको प्राप्त होती है ?"

यह 'भक्ति' शब्द कान में पड़ते ही बाबाजी का सर्वांगशरीर कदम्ब-पुष्प की भाँति रोमांचित हो उठा। आवेग-कंपित स्वर में उन्होंने कहा : 'तुम्हें यह प्रश्न शोभा नहीं देता। भक्ति तो तुम्हारे अपने घर की ही धरोहर है। हमारे अद्वैत-भाण्डार का ही धन है—यह भक्ति। लेकिन गोसाईं, एक बात अवश्य है। जब तक अभिमान जड़-मूल से उखड़ कर धराशायी नहीं हो जाता और असीम नम्रता के साथ दीन-हीन होकर अपनी अकिंचनता का अहसास नहीं कर लिया जाता, तब तक भक्ति देवी की कृपा प्राप्त नहीं हो सकती।'

शक्तिधर महापुरुष चैतन्य दास कुछ क्षणों तक गोसाईं जी की ओर स्थिर दृष्टि से देखते रहे। तब उन्होंने धीर कंठ से कहा : "मैंने तुम्हारे ललाट पर तिलक और गले में कण्ठी देखी है। लगता है समय आने पर तुम्हें ये दोनों चीजें धारण करनी ही पड़ेगी।"

बाबाजी को साष्टांग प्रमाण करते देखकर वे चौंक पड़े। जल्दी-जल्दी पाँव बढ़ाकर वे उस स्थान से चले आये।

कुछ दिनों बाद भगवान्‌दास बाबाजी से मिलने के निमित्त एकबार श्रीविजय कृष्ण कालना गये। रास्ते में फेर पड़ जाने के कारण लम्बी दूरी तय करनी पड़ी थी। वहाँ पहुचने पर बेतरह थकावट और प्यास लग आई। पानी पीने की इच्छा प्रकट करते ही बाबा ने कुछ मिठाई और जल भरा कमण्डलु आगे बढ़ा दिया।

गोसाईं ने संकुचित होते हुए कहा—"बाबाजी, मैं जिस-तिस का छुआ खा लेता हूँ और जात-पाँत की निष्ठा नहीं रख पाता, ऐसी हालत में आप अपने व्यवहार का कमण्डलु मुझे क्यों दे रहे हैं? यह छू जायगा।"

बाबा ने हाथ जोड़कर कहा: "प्रभो, यदि जात-पाँत का मेरा विचार अब भी नहीं टूटे और खण्ड-बुद्धि नष्ट नहीं हो, तो मुझपर भक्तिदेवी क्योंकर कृपा करेंगी? अब और देर मत करें। आप कृपाकर जलपान कर लें।"

गोसाईंजी ने जब जल पी लिया, तो उस कमंडलु को उठाकर भगवान दास बाबाजी ने भक्तिपूर्वक अपने मस्तक से लगा लिया और अवशिष्ट जल को प्रसाद मानकर पी गये!

एक भक्त ने भगवान दास बाबा को स्मरण दिलाया कि गोसाईंजी ने तो जनेऊ पहनना भी छोड़ दिया है।

बाबा ने उत्तर में कहा: "जानते हो, हमारे अद्वैतदेव के गले में यज्ञोपवीत नहीं होता। फिर भी, देखो, अद्वैत-संतान का नेतृत्व उन्हीं के हाथों में है। हमारे गोसाईंजी गये तो ब्राह्म-समाज में, लेकिन वहाँ भी उन्हें आचार्य का ही पद सँभालना पड़ा।"

उपस्थित व्यक्तियों में से एक ने परिहास किया: "सो तो ठीक ही कहा गया, लेकिन ये हैं तो जूते-चपकनवाले आधुनिक आचार्य ही ना?"

यह सुनकर बाबाजी की आँखें डबडबा आईं। उन्होंने कहा: "अरे, प्रभु को मनोहर वेश में साज-सँवार कर रखना भी तो हमलोगों का ही दायित्व है। हमलोग अभागे हैं, तभी अपना दायित्व नहीं निभा पाते हैं। यही कारण है कि प्रभु को अपनी वेश-भूषा आप सँभालनी पड़ रही है।"

बाबा की इस दीन वाणी ने सब को कातर कर दिया। जिस सज्जन ने छींटाकसी की थी, उनकी गर्दन आप ही झुक गई।

चैतन्यदास और भगवान दास बाबा के उपर्युक्त व्यवहार ने गोसाईं जी के हृदय में एक नया आलोड़न उत्पन्न कर दिया था।

विजयकृष्ण ने ब्राह्मधर्म के प्रचार का व्रत स्वीकृत करने के बाद, उस व्रत के साधन में त्याग, वैराग्य और कृच्छ्र आदर्श का चरम परिचय दिया था।

श्रीदेवेन्द्र नाथ ठाकुर ने प्रचारकों के लिए मासिक वृत्ति की व्यवस्था जब निर्धारित करनी चाही, तो विजयकृष्ण उसका विरोध कर बैठे थे। चरम दरिद्रता के बीच, हर ओर से सहाय-संबल-हीन होकर भी, वे आध्यात्मिक जीवन के मूल्य को प्रतिष्ठित करने के निमित्त जिस प्रचार-कार्य में निरत थे, उसके बदले में वे किसी से कुछ लेना नहीं चाहते थे। उनके मन की बनावट ही कुछ इसी तरह की थी। इसका नतीजा हुआ कि महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर को उस समय अपना वह प्रस्ताव त्याग देना पड़ा।

भगवान पर ही निर्भर रहकर विजयकृष्ण ने भगवान् के धर्म का प्रचार करना ठाना था। यही था उनका पवित्र दायित्व ! इसके लिए वे पारिश्रमिक क्यों लें ? चिकित्सा जानने के कारण थोड़ी-बहुत आमदनी भी हो जाती थी। उसी से किसी तरह निर्वाह हो जाता था। किंतु एक दिन उस सत्य-निष्ठ साधक के मन में उस संबंध में भी सवाल उठा : 'क्या इस तरह से रुपये-पैसे उपार्जित करते रहना उचित है ? इस अर्थकरी पेशे में लिप्त रहने पर धर्म के प्रचार-कार्य में कुछ-न-कुछ क्षति तो अवश्यंभावी है। सोच विचार के बाद उन्होंने चिकित्सक के पेशे को छोड़ दिया। उसके बाद एकमात्र आकाश-वृत्ति का ही सहारा रह गया।

उन दिनों पूरे परिवार को अक्सर अधपेटा रहकर और कभी-कभी भूखा रहकर भी, दिन गुजारने पड़ते। कभी अन्न कहीं से आ भी जाता, तो नमक-लकड़ी का हिसाब नहीं लग पाता। फिर कभी नमक-लकड़ी का प्रबन्ध तो हो जाता, मगर अन्न ही दुर्लभ हो जाता। व्यञ्जन की जगह पर साग-पात और इमली का शोरवा काम दे-देता था, पर अन्न और नमक-तेल-लकड़ी का काम पानी से चलाना निश्चय ही कठिन था। पत्नी—योगमाया देवी को गरीबी की मार से दिन-प्रति-दिन जूझना पड़ रहा था। किन्तु पति के आदर्श-निष्ठ जीवन को अव्याहत रखने में उन्होंने प्रत्येक कष्ट का मुकाबला प्रसन्नता और उत्साह के साथ करना सीख लिया था। त्याग, वैराग्य और कृच्छ्र-साधना के बीच, वे अपने पति के पार्श्व में, मुस्काती खड़ी रहीं। योगमाया सचमुच ही सहधर्मिणी थीं। उनकी सहायता और सहयोग के ही कारण गोसाईं जी का व्रत-उद्यापन उतना सरल और सहज हो गया था।

प्रचार के कार्य में श्रीविजयकृष्ण को सामर्थ्य से ज्यादा खटना पड़ता था। उस क्रम में वे बंगाल भर में और उसके बाहर के क्षेत्रों में भी लगातार पर्यटन करते रहे। इसी का परिणाम था कि सेहत ने जवाब दे दिया। फिर हृत्पिण्ड में एक दुःसाध्य व्याधि भी पैदा हो गई। इसके साथ-साथ समकालिक हिन्दू

समाज के व्यंग्य-विद्रूपों, अत्याचारों, कलंक-कथाओं और प्रहारों की असंख्य यंत्रणाएँ भी, प्रचार-कार्य के क्रम में, उन्हें लगातार झेलनी पड़ रही थीं।

ब्रह्म-समाज की धर्मालोचना, ध्यान-धारणा प्रभृति पर गोसाईं जी एकान्त निष्ठा के साथ अमल करते चले गए थे। साधन-भजन और उपासना में रात-पर-रात व्यतीत हो रही थी। किन्तु इससे क्या होता-जाता है ? —गोसाईं जी के मनमें रह-रह कर प्रश्न उठता रहता था : क्या तृष्णाओं का अन्त, अबतक भी, हो पाया है ?

केशव सेन की तरह वे भी कभी-कभी दक्षिणेश्वर चले जाया करते और वहाँ परमहंस श्रीरामकृष्ण के पास बैठे रहते। इससे, अधीर मन थोड़ी देर के लिए अवश्य ही शांत हो जाता। पर चित्त की अस्थिरता फिर बढ़ जाती। प्रश्न था—जिस परम प्राप्ति के लिए सर्वस्व का अर्पण हुआ और तपस्या की गई, आध्यात्मिक जीवन का वह लक्ष्य तो अभी तक पूरा नहीं हो पाया है ?

विजयकृष्ण के बड़े भाई कीर्त्तन के लिए इलाके भर में मशहूर थे। उनके कीर्त्तन-गान को सुन-सुनकर विजयकृष्ण की आँखों से प्रेमाश्रुधारा प्रवाहित होने लगती और हृदय द्रवित हो जाता। बारम्बार अफसोस होता—काश, ऐसा ही हृदय-द्रावक सुमधुर कीर्त्तन ब्राह्म-समाज में भी प्रवर्त्तित किया जा सकता ! एकबार उन्होंने अपने उसी ज्येष्ठ भ्राता के मुख से कीर्त्तन सुनवाकर केशवचन्द्र सेन को भी मन्त्र-मुग्ध कर दिया था। इसके परिणामस्वरूप मृदंग-करताल के साथ ब्राह्म-समाजी कीर्त्तन के प्रवर्त्तन की अनुमति उन्हें सेन महोदय ने स्वयं दे दी।

उसी कीर्त्तन की मनोहारिणी सभाओं ने महाभक्त विजयकृष्ण के विह्वल भगवत्प्रेम और विगलित प्रेम-क्रंदन के समुद्र में ब्राह्म-समाज को ऊभचूभ करा दिया।

आध्यात्मिक प्रेम का भागवत उन्माद श्री विजयकृष्ण को उन दिनों रूपासक्ति की विस्मयकारिणी अवस्था में पहुँचा चुका था। शिवनाथ शास्त्री कहा करते : "हमलोग अपने गोसाईं को अगर सबकी दृष्टि तक पहुँचा दें, तो इनकी इस भक्ति-समृद्धि मूर्त्ति को देख लेने मात्र से ब्राह्म-धर्म का प्रचार व्यापक हो जायगा ; और किसी चीज की जरूरत ही नहीं रह जायगी।"

श्री केशवचन्द्र सेन भी उन दिनों अक्सर कहते रहते : "गोसाईं भक्ति-सिद्ध हो गया है !"

किन्तु सत्यनिष्ठ साधक विजयकृष्ण को ये बातें भी शान्त और आश्वस्त नहीं कर पाती थीं। आनन्द और दिव्यानुभूति के जिस हिंडोले पर उनका

हृदय रह-रहकर झूल उठता है, वह अभी तक स्थायी स्थिति का रूप तो धारण नहीं कर सका है ना ? वे रह-रहकर अपने प्रभु के दर्शन के निमित्त, भिखारी की तरह मन-प्राण से कातर हो उठते। मगर अबतक उस परम पुरुष का संधान क्या मिल पाया है ? हाय, कब आयगी मिलन की वह चिर-प्रतीक्षित घड़ी ? कौन बता सकेगा उस पथ का संधान, जहाँ विच्छेद के इस असीम दुःख की परिसमाप्ति हो जाती है।

मन को शान्त कर पाने का कोई उपाय नहीं। गोसाइंजी रोज निकलते हैं किसी ऐसे साधु-संन्यासी की खोज में, जो उन्हें उस मार्ग से लगा दे। व्याकुल होकर वे साधुओं के पीछे-पीछे दौड़ पड़ते हैं और सान्निध्य मात्र से कृतार्थ हो उठते हैं। एक दिन के अद्‌भुत वृत्तान्त का वर्णन उन्होंने स्वयं ही इस प्रकार किया है :

"मछुवा बाजार स्ट्रीट से गुजर रहा था कि जूते ने जवाब दे दिया। रास्ते के किनारे एक मोची था। उसे ही मरम्मत करने के लिए मैंने अपने वे जूते दे दिये। उसने मोल-तोल किये बिना ही जूते की सिलाई कर दी। मैंने उसे पैसे दिये, तो उनमें से उसने दो पैसे मुझे वापस दे दिये। उसके बाद तुरत वह अपने सारे साज-सामान समेट कर चलता बना !

"मैं कुछ-कुछ हैरत में पड़ गया। दबे पावों मैं उसके पीछे-पीछे चलने लगा। वह गंगा-किनारे बाबू-घाट के पास गया और कूद-फाँद कर रास्ते के नीचे उतरा। वहीं एक टूटे-फूटे दीवार-खाने के भीतर उसने अपनी दूकान की पूरी पूँजी खोंस दी और धारा में धँसकर स्नान किया। स्नान के बाद चंदन लगाकर उसने संध्या-तर्पण आदि किये, और तब वह खिदिरपुर की ओर चल पड़ा। मैं भी उसी के पीछे-पीछे चलने लगा।

"कुछ दूर चल चुकने के बाद वह एक घर के भीतर पैठ गया। मैं भी उसी घर के द्वार पर पहुँचकर खड़ा हो गया। मेरी आहट पाते ही भीतर से एक व्यक्ति बाहर निकले और मुझे अतिथि मानकर अपने साथ भीतर बुला ले गये।

"देखता हूँ कि वही मोची अब महन्त के स्थान पर बैठे हैं। उनके सेवकों और शिष्यों की बड़ी-सी मंडली उनके चारों तरफ जमी हुई है। अखाड़े में ठाकुर प्रतिष्ठित हैं। खूब धूम-धाम का समारोह है। मैं यह हाल देख-कर अवाक् हो गया।

"अन्ततः मैं महन्तजी से पूछ ही बैठा : "आपके इतने सेवक और शिष्य हैं ; स्वयं भी महन्त हैं और जन्म भी ब्राह्मण-कुल में हुआ है ; आपको किसी

चीज की कोई कमी नहीं है; ऐसी स्थिति में आप जूते की सिलाई क्यों करते हैं ?

"महन्तजी मेरा प्रश्न सुनते ही रो-पड़े। दोनों हाथ जोड़कर उन्होंने अपने गुरु का स्मरण किया और उन्हें बारंबार नमस्कार करते हुए वे कहने लगे : "मेरे गुरु बड़े कृपालु थे। एक दिन अतिथि को भोजन कराने से पहले मैंने स्वयं भोजन कर लिया था। इसे जानकर उन्होंने मुझे डाँटते हुए कहा : "अरे, तू साधु काहे हुआ, तू तो चमार है।" अपने रहते अपने गुरु के उस अमोघ वाक्य को क्या मैं अन्यथा हो जाने देता ? उनके उस वाक्य की सच्चाई प्रमाणित करने के लिए उसी दिन से मैं मोची का धन्धा अपनाकर अपनी जीविका चला रहा हूँ। दिन भर मोची का काम करने के बाद अपने खाने-पीने के लायक, चार आने मजदूरी, जभी प्राप्त कर लेता हूँ, तभी मैं दूकान समेटकर वापस आ जाता हूँ। महन्त की अपनी गादी पर मुझे बिठाकर, जीवन के शेषकाल में, मेरे गुरुदेव मेरे ऊपर अपनी कृपा की छाँह रख गये हैं। इसके बावजूद, अपनी कमाई से अपना आहार जुटा लेते समय मुझे अहसास होता है कि चमार का काम करके मैं उन्हीं की चरण-सेवा कर रहा हूँ। आप मुझे आशीर्वाद दें कि जीवन की आखिरी घड़ी तक मैं अपने गुरुदेव के उस वचन का सरल भाव से निर्वाह करता रहूँ।

'महन्तजी को देखकर मुझे अहसास हुआ कि गुप्तवेश में सर्वत्र कोई-न-कोई महापुरुष इसी प्रकार विद्यमान रहा करते हैं। बाहरी आकार-प्रकार, वेश-भूषा, आचार-व्यवहार देखकर उन्हें ठीक-ठीक पहचान पाना जब संभव ही नहीं है, तब, मैं कैसे समझ पाऊँगा कि कब किस रूप में, कौन महापुरुष हमारे सामने आ गये हैं। ऐसा जान लेने के बाद से मुझे रास्ते में जो भी मिल जाते उन्हें मन-ही-मन नमस्कार कर लिया करता हूँ, भले ही वे पुरुष हों या स्त्री, बालक हों या वृद्ध। मेहतर, हाड़ी, डोम, कुली, मजदूर या जिस किसी को भी किसी ओर देख लेता हूँ, उसे मन-ही-मन नमस्कार कर लेने के बाद ही मैं अपने पथ पर आगे की ओर डेग बढ़ा पाता हूँ।"

जब गोसाईंजी के जीवन में आध्यात्मिक प्रकाश का नया अध्याय खुलने जा रहा था, तब उनकी संधान-विह्वलता और भी बेतरह बढ़ गई थी। साधु-संन्यासियों के बीच पथ-प्रदर्शक गुरु की खोज में वे दिन-प्रति-दिन दौड़ लगाने में बेचैन रहते। इस संबंध में एक वृत्तान्त का वर्णन उन्होंने स्वयं ही किया है :

"एक दिन मैं मिर्जापुर स्ट्रीट से होकर जा रहा था। देखा, कि एक कंगालवेशी, दीर्घ आकृतिवाले साधु, हाथ में दण्ड-कमण्डलु लिए, सामने बढ़े आ

रहे हैं। दूर से ही उन्हें देख लेने के कारण, उन्हें मन-ही-मन नमस्कार करने के इरादे से मैं फुटपाथ की ओर हटकर सड़क के किनारे खड़ा हो गया। ज्यों ही वे निकट आये, मैंने लपक कर, उन्हें प्रणाम कर लिया।

"चलते-चलते ही उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रखकर मुझे आशीर्वाद दिया। उनके स्पर्श से मुझे ऐसा लगा, मानो मेरे माथे पर किसी ने आधा मन बरफ डाल दी है। मेरा अंग-प्रत्यंग शीतल हो गया।

"साधु के साथ चलने का विचार मेरे मन में ज्योंही जगा, साधु महाशय ने मेरी पीठ थपथपा कर कहा—'चलो, बच्चा, चलो।' ऐसा कहकर वे बड़ी तेजी से चल पड़े। मैं भी उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगा। पता नहीं, किधर होकर वे किधर जा रहे थे! मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। लगा जैसे किसी सम्मोहन में होश-हवास खो चुका हूँ।

"थोड़ी देर के बाद पता चला कि इडेन गार्डेन में पहुँच गया हूँ। वहाँ एक पेड़ के तले बैठकर साधु महाशय ने मुझे अनेक उपदेश दिये। गुरु की कृपा के बिना कुछ हो नहीं सकता–ऐसा, उन्होंने मुझे वारंवार बताया।

"मैंने जब उनसे दीक्षा की प्रार्थना की, तो उन्होंने कहा—'नहीं-नहीं, ऐसा नहीं हो सकता; तुम्हारे गुरु तो पहले ही मुकर्रर हो चुके हैं। समय आने पर वे तुम्हें खुद खोज लेंगे। तुम्हें उनको खोज में भटकना नहीं पड़ेगा।'

"वे फिर चल पड़े और मैं फिर उनके पीछे-पाछे चलने लगा। हावड़ा पुल पर चलते-चलते वे एकबारगी गुम हो गये। उन्हें फिर ढूँढ़ पाना संभव नहीं हुआ। इस घटना के बाद साधुओं के प्रति मेरी श्रद्धा और भी बढ़ गई।"

गोसाईंजी के साधक-जीवन में चैन की घड़ी नहीं थी। एक-एक डेग पर वे अपनी परीक्षा करते और अपने को कठोर नियंत्रण में रखते। उस बार वे लाहौर गये थे। अपनी भूलों और गलतियों को बिसूर-बिसूर कर एक दिन, वे, वहीं, बहुत अधीर हो उठे थे। उन्होंने सोचा, इस नदी की धारा में ही, इस व्यर्थ के जीवन को विसर्जित कर दूँ! सहसा एक शक्तिमान् मुसलमान फ़कीर प्रकट हुआ और उन्होंने पीठ-पीछे से गोसाईंजी को पुकारा। उन्होंने कहा: 'बेटे, ये सारे खेल वे ही खेल रहे हैं, जो कि इस दुनिया के मालिक हैं। तुम्हारे साथ भी वे ही खेल कर रहे हैं। तुम दुखी मत होओ, तुम्हें तुम्हारी दौलत मिलने ही वाली है। जो तुम्हारे निर्दिष्ट गुरु हैं, वे ही तुम्हें तुम्हारी धरोहर सौंप देंगे।'

प्राणों के प्रिय को पाने की पिपास ने विजयकृष्ण को चंचल कर दिया था। पता नहीं, उस बेचैनी की अवधि में वे कहाँ-कहाँ भटकते फिरे। अघोरपंथी, कर्त्ताभजा, रामायत, शाक्त, वैष्णव, बाउल, दरवेश, बौद्ध, त्यागी कहे जानेवाले विभिन्न पंथों के असंख्य साधुओं-फकीरों के पास वे आते-जाते रहे। किन्तु वे जिसे खोज रहे थे, उसका संधान, उन्हें कोई नहीं बता सका !

उन्हीं दिनों कलकत्ते के ठनठनिया मोड़ पर, एक शान्त, सौम्यदर्शन, उच्चकोटि के संन्यासी से, गोसाईंजी की भेंट हुई थी। संन्यासी को यह जानने में देर नहीं लगी कि श्रीविजयकृष्ण अपने प्रभु को पाने के लिए ही दर-दर बेजार होकर फिर रहे हैं। उनकी विह्वल अवस्था का अनुमान कर उन्होंने कहा : "देखो, आकाश में कोई इमारत नहीं बना सकता। तुम्हें तो गुरु की जरूरत है। मगर घबड़ाओ मत। वक्त आने पर तुम्हारा गुरु तुम्हें मिल जायगा।" इस आश्वासन को सुनलेने के बाद गोसाईंजी का चित्त कुछ दिनों के लिए शान्त हो गया; मगर उसके बाद, फिर, वे पहले से भी अधिक बेचैन हो उठे।

उन्हें पता चला कि दार्जिलिंग के निकट के जंगल में कोई शक्तिमान् बौद्धयोगी रहते हैं। एक दिन हठात् वे उन्हीं की खोज में चल पड़े। बौद्ध संन्यासी को देखते ही उन्हें पता चल गया कि ये अपरिमेय योग-विभूति के अधिकारी महापुरुष हैं। वे ध्यानासन में बैठे थे और उनके शिरोदेश से दिव्य आलोक उद्भासित हो रहा था। विजयकृष्ण अपलक दृष्टि से, विस्मित होकर, उसी ओर देखते रह गये। जब महापुरुष का ध्यान टूटा तो गोसाईंजी ने उनसे दीक्षा-दान के लिए प्रार्थना की। बौद्ध योगी ने उत्तर दिया : "जब तक मुझे आदेश नहीं मिलता, तब तक मैं किसी को दीक्षा तो नहीं दे सकता हूँ। फिर ऐसा भी तो है कि तुम्हारे गुरु के रूप में एक अन्य महापुरुष पहले से ही निर्दिष्ट हो चुके हैं। उनका संधान तुम्हें नर्मदा नदी के तीर पर मिलेगा। वहीं जाओ, तुम्हें ठीक-ठीक पता मिल जायगा।"

बौद्ध योगी ने नर्मदा-तीर-वासी एक महात्मा का ठिकाना उन्हें बता दिया। कुछ ही दिनों बाद श्रीविजयकृष्ण निर्दिष्ट स्थान पर जा पहुँचे। वहाँ जो महापुरुष बैठे थे, उन्हें, गोसाईंजी ने साष्टांग दण्डवत् निवेदित किया और अपने अभीष्ट से वे उन्हें अवगत कराने लगे। उनकी बातें सुन लेने के बाद महापुरुष ने कहा : "वत्स, तुम्हारे सद्गुरु उपयुक्त लग्न की प्रतीक्षा में तैयार बैठे हैं। वे स्वयं आकर तुमपर कृपा करेंगे। तुम अधीर मत होओ।"

इसके वर्षों पहले एकबार कुछ दिनों के लिए, श्रीविजयकृष्ण काशी जाकर श्री तैलंग स्वामी का सान्निध्य भी प्राप्त कर चुके थे। कभी-कभी पूरा-का-पूरा दिन वे उन्हीं के पास बैठे-बैठे व्यतीत कर देते। उनके स्नेह और सान्निध्य की गहरी छाप श्रीविजयकृष्ण के आध्यात्मिक जीवन पर पड़ी थी।

अद्भुत आकर्षण था, योगिराज श्री तैलंग स्वामी में। वहाँ, उनके पास बैठ जाने के बाद, समय कैसे बीत जाता था, इसका पता श्रीविजयकृष्ण को चलता ही नहीं था। उन्हें भूख-प्यास की प्रतीति तक नहीं होती थी। पर कभी-कभी गोसाइंजी को दिन भर अपने पास निराहार बैठा जानकर, योगिराज उनके लिए आहार की व्यवस्था करा देते थे।

तैलंग-स्वामी मनमौजी स्वभाव के महापुरुष थे। उनके जी में जब आता, तब वे गंगा में कूद पड़ते। कभी असी घाट पर गंगा की धारा में कूदते और धारा पर बहते-बहते मणिकर्णिका घाट तक चले जाते। विजयकृष्ण को उस महापुरुष के पास बैठे रहने का नशा लग गया था। इसलिए जब वे गंगा की धारा में जहाँ बहते मिलते, वहीं, गंगा-तट पर, गोस्वामी श्रीविजयकृष्ण भी खड़े हो जाते और किनारे-किनारे चलकर उनका अनुवर्त्तन करने लग जाते। कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता कि श्रीतैलंग स्वामी विशाल प्रस्तर-मूर्त्ति की भाँति कहीं निश्चल होकर बैठ गये हैं, और श्रद्धालु भक्तों की मण्डली एक-के-बाद-एक, झुण्ड बनाकर आती है तथा उनपर राशि-राशि विल्वपत्र और घड़ों गंगा-जल चढ़ाये चली जा रही है! उस समय उपस्थित जन-मंडली भी "नमः शिवाय, ॐ नमः शिवाय" का उच्चार करने लग जाती है।

बड़ा ही अनुपम, प्राण-स्पर्शी दृश्य उस समय उपस्थित हो जाया करता था। इस दृश्य को श्री विजयकृष्ण मंत्र-मुग्ध की भाँति टकटकी लगाये देखा करते थे।

गंगा-तीर पर श्री तैलंग-स्वामी की जलमग्न मूर्त्ति की खोज में, चलते-चलते, एक दिन, श्री विजयकृष्ण थककर चूर हो गये। पर उन्हें उनका कहीं पता नहीं चला। अन्ततः मन मारकर श्री विजयकृष्ण, मणिकर्णिका घाट पर जाकर बैठ रहे। थोड़ी देर के बाद, उन्होंने देखा कि तैलंग-स्वामी जी, वहीं, गंगा की धारा से अचानक निकल कर, आ रहे हैं। सामने आकर उन्होंने श्री विजयकृष्ण से कहा—"अजी, तुम भी स्नान कर लो, तुम्हें आज मैं एक मंत्र प्रदान करूँगा।"

श्री विजयकृष्ण असमंजस में पड़ गये। उन्होंने कहा—"स्वामीजी, मेरी आरंभिक दीक्षा तो मेरी माँ ने ही पूरी कर दी थी।"

पर स्वामीजी माननेवाले जीव नहीं थे। उन्होंने विजयकृष्ण की पीठ पर एक धौल जमाकर, मानो अपना पुराना आदेश दुहरा दिया।

दोनों हाथ जोड़कर श्री विजयकृष्ण ने निवेदन किया : "बाबा, बात यह है कि मंत्र-तंत्र पर मैं अबतक भी उतना विश्वास नहीं करता। फिर, ऐसा भी तो है कि मैं अबतक ब्राह्म-समाज का ही सदस्य हूँ।"

मगर इन बातों पर विचार करने की कोई आवश्यकता तैलंग स्वामी को कतई नहीं हुई। एकबार फिर उनका माथा आदेश-सूचक मुद्रा में हिला। विजयकृष्ण को उन्होंने बलपूर्वक खींचकर गंगा में स्नान करने की खातिर वाध्य कर दिया। उसके बाद वे किंचित् मुस्कुराकर बोले : "सुनो बच्चे, तुम्हें यह मंत्र दे-देना एक विशेष कारण से आवश्यक हो गया है। अभी तो केवल तुम्हारी शरीर-शुद्धि के लिए इसका प्रयोजन है। मैं तुम्हारा दीक्षा-गुरु नहीं हूँ। वे तो कहीं दूसरी जगह पर हैं। शुभ लग्न आने पर, उनके साथ तुम्हारा साक्षात्कार शीघ्र ही होने वाला है।"

और तैलंग महाराज द्वारा प्रदत्त उस मंत्र का गोसाईं जी ने दीर्घकाल तक जप किया था।

एकबार ब्राह्म-समाज के प्रचार-कार्य के सिलसिले में श्री विजयकृष्ण गया पहुँचे थे। पास में ही था 'आकाशगंगा' नामक पहाड़। सिद्ध रामायत साधु श्री रघुवरदासजी का आश्रम पास में ही था। गोसाईंजी एक दिन उनसे मिलने के लिए निकल पड़े।

बाबा के चरणों में सिर टेककर उन्होंने निवेदन किया : "प्रभो मैं बड़ा ही अज्ञानी हूँ; मुझ पर आप दया करें। जिससे परा भक्ति का उदय हो, वैसा आशीर्वाद कृपया आप मुझे दें।"

रघुवरदासजी स्नेहसिक्त भाव के साथ बोले : "वत्स, जो तुम्हारी तरह आर्त्त है, उस पर भक्ति देवी की कृपा क्यों नहीं होगी? धैर्य रखो। तुम्हारी मनष्कामना शीघ्र ही पूरी होगी।"

विजयकृष्ण के प्रति बाबा के स्नेह की कोई सीमा नहीं। अपने हाथों उन्होंने विजयकृष्ण के लिए भोजन तैयार किया और उन्हें यत्नपूर्वक खिलाया। भक्तसिद्ध महापुरुष की विभूति का दर्शन कर लेने के बाद गोसाईंजी अवाक् हो गये।

बाबा के बुलाने पर आकाशचारी पक्षियों के दल नीचे उतर आते थे। वे आज्ञाकारी पालतुओं की तरह उनके कन्धों पर आ बैठते; चोंच से खोद-

खोद कर उनकी जटा के बालों को सुलझाते । जंगली चौपायों पर भी बाबा का ऐसा ही प्रेम-प्रभाव था । आश्रम के आस-पास घना जंगल था । कभी-कभी, उसमें से निकलकर एक-दो बाघ भी आ-जाया करते । बाबा के द्वारा स्नेह पूर्वक फटकारे जाने पर, वे हिंस्र बाघ भी सिर झुकाकर खड़े हो जाते । फिर बाबा जब उन्हें लौट जाने का आदेश देते, तब चुप-चाप, अपने आवास को वे लौट जाते थे ।

उन्हीं महापुरुष के आश्रम में कुछ दिनों तक रहकर, आकाशगंगा पहाड़ के शान्त मनोरम परिवेश में गोसाईंजी साधन-भजन करते रहे ।

थोड़ी दूर हटकर, ब्रह्मयोनि पहाड़ पर, एक दूसरे महापुरुष रहा करते थे । गोसाईंजी एक दिन उनके दर्शन के निमित्त विदा हुए । पहाड़ से उतरते समय वे 'गोड़धोया' नामक अधित्यका पर पहुँचे । वहाँ किसी ने उन्हें बताया कि चैतन्य महापुरुष को उसी स्थान पर अपने श्यामसुन्दर ने दर्शन दिया था । यह सुनने के साथ ही गोसाईं जी के अन्तर में एक दिव्य उन्माद का जागरण हो गया ।

विजयकृष्ण के मानस-पटल पर महाप्रभु की वह प्रेम-विह्वल छवि उद्‌भासित हो उठी, जिसका पावन आलोक उस सानुभूति को अबतक गद्‌गद बनाये हुए है । 'कृष्ण रे ! बाप रे !' कहकर महाप्रभु चैतन्य यहीं लोट-लोटकर रोये थे । वह रुलाई जैसे 'गोड़धोया' के आकाश-वातास को अबतक भी स्नेह-मंथर किये हुई है । अलौकिक भावदशा से वह स्थान अबतक स्निग्ध है । गोसाईंजी अचानक वहीं सुधबुध खो बैठे ।

उनके हृदय में अलौकिक प्रेम की बाढ़ उफनाने लगी । इन्द्रिय, बुद्धि और मन के घेरे, जैसे, एकबारगी टूटकर गिर पड़े । मन में इष्ट दर्शन की आकांक्षा और भी तीव्रतर होने लगी । सद्‌गुरु के दर्शन की आशा में वे गिन-गिनकर घड़ी बिताने लगे ।

१२९० साल का आषाढ़ मास । उस दिन भोर से ही श्री विजयकृष्ण आकाशगंगा पहाड़ पर बाबा रघुवरदासजी के आश्रम में बैठे हैं । उन्होंने सुना है कि पहाड़ की चोटी पर एक महान् शक्तिधर महापुरुष का आविर्भाव हुआ है ।

उनकी सेवा में प्रस्तुत करने के विचार से कुछ फल-मूल हाथ में लिये, वे उसी क्षण, उस चोटी की ओर विदा हुए । चोटी पर यथास्थान उन्हें एक दिव्य कान्ति-सम्पन्न महापुरुष दिखाई पड़े ।

अपलक दृष्टि से श्रीविजयकृष्ण उस महापुरुष की ओर देखते-देखते निश्चेष्ट हो गये। धीरे-धीरे तन-मन की सुधि जाती रही। उस लोकोत्तर महापुरुष में वस्तुतः कोई आत्म-विस्मृतिकारिणी अमोघ आकर्षण था। विजयकृष्ण का अस्तित्व, द्रवीभूत होकर, जैसे, उस महापुरुष के चरणों में लोटना चाहता हो। उन्हें गुरु के रूप में वरण करने के लिए श्री विजयकृष्ण व्याकुल हो उठे।

महापुरुष ने विजयकृष्ण की प्रणामांजलि को स्वीकृत कर, उन्हें, जभी अपना आशीर्वाद प्रदान किया, तभी विजयकृष्ण को लगा कि उनके मन-प्राणों को किसी अनिर्वचनीय आनन्द ने लबालब भर दिया है और उस पूर्णता के प्रभाव से उनका सम्पूर्ण अस्तित्व किसी अपूर्व कान्ति में धुलकर एकबारगी जगमगा उठा है। महापुरुष के पाँव उन्होंने पकड़ लिये और कातर भाव से उन्होंने दीक्षा के लिए प्रार्थना की।

उनकी प्रार्थना स्वीकृत कर ली गई। दीक्षा लेने के साथ-साथ वे गुरु के चरणों में गिर पड़े और उनका वाह्यज्ञान एकबारगी लुप्त हो गया। जब वे होश में आये, तो उन्होंने देखा कि उनके गुरु अन्तर्धान हो चुके हैं।

कितने अर्से के बाद दिखाई पड़े थे जीवन-नैया के खेवनहार और कितनी जल्दी पड़ी थी, उन्हें, इस तरह लुप्त हो जाने की? गोसाईंजी का दिशाज्ञान लुप्त हो गया और एक विचित्र उन्माद ने उन्हें घर दबाया। जैसे भी हो, पर सद्‌गुरु को तो अब ढूँढना ही होगा। उन्हें पुनर्वार ढूंढ़े बिना शान्ति कैसे मिलेगी? श्री विजयकृष्ण, उस दिव्य उन्माद के आवेग में, गया अंचल के हर पहाड़ पर जाकर, अपने सद्‌गुरु को ढूंढ़ते रहे।

दिव्य उन्माद के संधान-भ्रमण के बीच, रामशिला पहाड़ के एक निर्जन अरण्य में, श्री विजयकृष्ण की आँखों के सामने, एक दिन, कृपालु गुरु महाराज की उज्जवल मूर्त्ति, पुनर्वार अचानक आविर्भूत हुई। सान्त्वना देते हुए सद्‌गुरु ने कहा : "बच्चा, घबड़ाओ मत। साधन, भजन करते रहो। वक्त आने पर तुम्हें पूरी सिद्धि प्राप्त हो जायगी।"

इतना कहकर गुरुदेव पुनः अन्तर्धान हो गये।

गोस्वामी विजयकृष्ण के गुरु महाराज का नाम था—श्री ब्रह्मानंद स्वामी। साधु-मन्डली में उन्हें 'परमहंसजी' के नाम से पुकारा जाता था।

उनके पूर्वाश्रम की भूमि पंजाब प्रान्त में थी। पहले नानक पंथियों के एक उदासी सम्प्रदाय के अखाड़े में उनका निवास था। नानक पंथी रीति के

अनुसार भक्ति-साधक के रूप में उन्होंने आरम्भिक दिनों में साधना की थी। बाद में उन्हें एक महायोगी का आश्रय प्राप्त हुआ था। उन्हीं के बताये मार्ग पर चलकर अन्ततः ब्रह्मज्ञ महापुरुष के रूप में उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई थी।

अब परमहंसजी का आसन था हिमालय के शिखर पर मानस-सरोवर के किनारे। अपनी साधना-भूमि की बात वे अत्यन्त घनिष्ठ शिष्यों को ही कभी-कभी, थोड़ा-थोड़ा करके बता दिया करते। वे कहा करते कि जन-साधारण जिस 'मान-तालाव' के भौगोलिक क्षेत्र से परिचित है, योगियों की साधन-भूमि का मानस-सरोवर उससे पृथक् है। उस वास्तविक मानस-सरोवर के तट पर पहुँचना सामान्य जन के लिए सम्भव नहीं है। वहाँ वही जा सकता है जिस पर सद्‌गुरु की कृपा होती है, तथा जिसमें अनुरूप योग-शक्ति का आविर्भाव हो चुका हो।

उपर्युक्त परमहंसजी की ही कृपा प्राप्त कर, श्री विजयकृष्णको सिद्धिलाभ हुआ और वे आप्तकाम हुए। उनके जीवन में अलौकिक विभूतियों के एक-से-बढ़कर एक चमत्कार देखे गये। किन्तु यह भी सच है कि उनके समस्त कर्मों को नियन्त्रण, अन्तराल में रहकर, स्वयं उनके सद्‌गुरु महाराज ही, निरन्तर कर रहे थे। जब जैसी साधना की अपेक्षा होती, तब वैसा निर्देश भी, निगूढ़ भाव से, वही उन्हें दे जाया करते थे। विजयकृष्ण के जीवन के प्रत्येक स्तर में इसी गुरु-कृपा का रस-भास्वर तेज ओतप्रोत हो गया था।

दीक्षा के उपरान्त एक दिन यकायक गोसाईंजी के पूर्वजीवन की स्मृति जग पड़ी। उस दिन वे फल्गु नदी के उस पार के तीर पर अवस्थित रामगया क्षेत्र में विचरण कर रहे थे। वहीं नृसिंह मंदिर में प्रवेश करने के साथ-साथ, उनकी स्मृति को आवृत करनेवाला जन्मान्तर-पटल यकायक उघर गया। पूर्व-जन्म के संन्यास-जीवन के दृश्य उन्हें एक-एक कर याद आने लगे।

याद आया कि इसी मंदिर में तीन अन्य जनों—साधुओं के साथ वे उस जन्म में साधन-भजन किया करते थे। वहीं पर वरगद का एक वृक्ष था, जिस पर उन्होंने अपने उस पिछले जन्म में 'ओम् राम'—ऐसा मन्त्र लिख छोड़ा था। खोज करने पर वह वृक्ष भी मिला और उस पर खुदा हुआ वह मंत्र भी। समय बीतने के कारण खुदाई अस्पष्ट जरूर हो गई थी, पर इसके बावजूद उस मंत्र को समय की परतों ने पूरे तौर पर मिटाया नहीं था।

उसी अंचल में 'बराबर' नामक एक पहाड़ था, जिस पर अनेक साधु-संन्यासियों के तपः क्षेत्र थे। वहीं विजयकृष्ण की भेंट प्रसिद्ध योगी बाबा

गंभीरनाथ से हुई। योगिराज की कृपा और साधन-निर्देश प्राप्त कर गोसाईंजी के जीवन में अध्यात्म का नया प्रकाश उदित हुआ।

अब आकाश गंगा पहाड़ की एक निर्जन कन्दरा में गोसाईंजी साधना का आसन लगाकर बैठ गये। उनके चरित्र की यह विशिष्टता थी कि वे जिस व्रत का संकल्प ठान लेते उसे पूरा किये विना नहीं छोड़ते थे। आहार-निद्रा की अपेक्षा को भूलकर वे साधना की गंभीर भूमिका में निमग्न हो जाते और गुरु के द्वारा दिये गये निर्देशों के पथ पर निरंतर अग्रसर होते रहते।

बाद में बाबा रघुबर दास ने गोसाईंजी की उस कृच्छ्र साधना का वृत्तान्त लोगों को बताया। उन्होंने कहा कि श्रीविजयकृष्ण ने एक ही आसन में पूरे ग्यारह दिन गुजार दिये थे। इस गंभीर ध्यानावस्था में उनकी शरीर-रक्षा के निमित्त बाबा ने सारे सम्भव प्रयत्न किये थे। ऐसा नहीं होता तो उस कठोर तपस्या की अवधि में साधक को धरती पर जीवित रखना असम्भव हो जाता।

इस तपस्या के बाद परमहंसजी ने श्री विजयकृष्ण को काशी जाने का निर्देश दिया। वहाँ जाकर श्री हरिहरानन्द सरस्वती के निकट उन्होंने संन्यास ग्रहण किया। अब श्री विजयकृष्ण को नवीन नाम मिला—श्री 'अच्युतानन्द सरस्वती'।

संन्यास के अनुष्ठान के साथ-साथ विजयकृष्ण ने संसार के अविलम्ब त्याग का निश्चय कर लिया। किन्तु उनके इस संकल्प में बाधा दी स्वयं उनके गुरुदेव परमहंसजी ने।

एक दिन काशीधाम में परमहंसजी सहसा आविर्भूत हुए और उन्होंने श्रीविजयकृष्ण से कहा: "वत्स, तुम संसार का त्याग मत करो। पहले की तरह गृहस्थाश्रम में ही रहा करो। तुम्हें जो साधन प्राप्त हो चुके हैं, उन्हें लेकर आगे बढ़ चलो। जीवों के कल्याण के ही निमित्त तुम्हें संसार में रहना होगा। ब्राह्म समाज को छोड़ने की चिन्ता में व्यस्त होने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। जैसे-जैसे समय बीतता जायगा, वैसे-वैसे ये सारे सांसारिक संबंध उसी तरह छूटते चले जायँगे, जैसे कि सांप के शरीर से कैंचुली आपही, खिसक कर छूट जाया करती है।"

गुरु का निर्देश पाकर श्रीविजयकृष्ण काशीधाम से लौटकर पुनः आकाश-गंगा पहाड़ पर वापस आ गये इसबार उन्होंने और भी कठोर तपस्या शुरू कर दी। सद्‌गुरु परमहंसजी इस अवधि में उपयुक्त अवसर पर बारंबार आविर्भूत होते रहे। उत्तम अधिकारी शिष्य को वे योग की दुरुह साधनाओं का निर्देश देकर, फिर अन्तर्धान हो जाया करते थे।

गोसाईंजी ने एक दिन कथा-प्रसंग में योगी की अलौकिक शक्ति और योगविभूति के संबंध में संदेह प्रकट किया । परमहंसजी को यह समझने में देर नहीं लगी कि इस युक्तिवादी शिष्य को लोकोत्तर विभूतियों के प्रति सहज विश्वास तब तक नहीं होगा, जब तक कि इसे योगैश्वर्य का प्रत्यक्ष परिचय नहीं करा दिया जाय ।

उसी दिन सद्‌गुरु परमहंसजी ने अणिमा-लघिमा आदि अष्टसिद्धियों की अनेक आश्चर्यजनक विभूतियों का गोसाईंजी को प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया । योग शक्ति के एक-एक चमत्कार के प्रत्यक्ष साक्षात्कार से वे विस्मित और अभिभूत होते रहे । विद्या-बुद्धि और अभिमान की जो भित्तियाँ गोसाईंजी को अब तक हेतुवादी बनाये हुई थीं, वे यकायक टूटकर गिर पड़ीं । गुरु महाराज की एक दिन की योगलीलाओं को देखकर ही शिष्य को विस्मित और अवाक् हो जाना पड़ा ।

आकाशगंगा पहाड़ के गहन-वन-प्रान्तर में एक दिन एक व्यक्ति मरा पड़ा था । परमहंसजी योग बल के सहारे उस मृत देह में सूक्ष्म शरीर के साथ प्रवेश कर गये । मृतक शरीर शनैः शनैः सप्राण होकर उठ बैठा और गोसाईंजी के सामने आकर जम गया । यह दृश्य देखकर गोसाईंजी के तो होश उड़ गये । वे विमूढ़ भाव से उस जीवित शव को देखते ही रह गये ।

इसके बाद परमहंसजी उस शरीर से निकलकर पुनः अपने शरीर में प्रविष्ट हो गये । उन्होंने अपने शिष्य को बिहँसते हुए पूछा: "क्योंजी, अब तो तुम्हें विश्वास हो गया ना ?

गुरु की कृपा से इन्हीं दिनों गोस्वामीजी को भी अष्ट सिद्धि का ऐश्वर्य प्राप्त हो गया ।

एक तन्त्र-सिद्ध महापुरुष भी इन्हीं दिनों गया में आ पहुँचे थे । गुरु का निर्देश पाकर उस शक्तिमान तान्त्रिक के भैरवी चक्र में गोसाईंजी को भी योगदान करना पड़ा । तन्त्रसाधना के स्वरूप से जुड़ी कुछ धारणाएँ उसी दिन गोसाईंजी को प्राप्त हो गईं । शिष्य का निजस्व तो उसका अपना साधन-पथ ही होता है । पर इसके बावजूद उनके गुरु ने आध्यात्मिक मार्ग की अन्य बहुविधि अभिज्ञताओं से भी उन्हें सम्पन्न करा देना आवश्यक समझ लिया था ।

आकाश गंगा पहाड़ पर गोसाईंजी कठिन तपस्या करते रहे । तीव्र वैराग्य और गेरुआ वस्त्र—इन दो बातों को लेकर वे सहज ही पहचान लिये जाते । उनका रंग-ढंग देख कर बन्धु बान्धवों और आत्मीय जनों का शंकित हो जाना

ही स्वाभाविक था। उन लोगों के अनुरोधों और प्रयत्नों का ही परिणाम था कि गोसाईं जी को गया छोड़कर कलकत्ता ले जाया जा सका।

उन दिन श्रीविजयकृष्ण महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर से मिलने गये थे। उन्होंने श्रीदेवेन्द्रनाथ ठाकुर को जब भक्तिभाव के साथ प्रणाम किया, तो श्रीठाकुर उनके चेहरे को विस्मय-विमूढ़ होकर एकटक देखते ही रह गये। गोसाईंजी के मुखमण्डल से अपूर्व दिव्य कान्ति उद्भासित हो रही थी। श्रीदेवेन्द्रनाथ ठाकुर ने व्यग्र होकर कहा : "गोसाईं, तुम तो बिल्कुल ही बदल गये हो। तुमने निश्चित रूप से कोई अमूल्य चीज प्राप्त करली है। कहाँ मिला तुम्हें वह अनमोल धन ?"

गोस्वामीजी ने उत्तर दिया : "गया के पहाड़ पर। एक ब्रह्मज्ञ महापुरुष ने कृपा कर कुछ दे दिया है।"

श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर बोले : "समझ गया। तुमने जो पाया है उससे तुम धन्य हो गये। तुम्हारा उद्धार हो गया। अब इस देव-दुर्लभ धन को कहीं गवाँ मत बैठना। यह और बात है कि तुम ब्राह्म-समाज में अब रहो या मत रहो। मगर जो पा चुके हो उसे जुगाकर जरूर रखो।"

श्री केशवचंद्र सेन की कन्या का कूचविहार में विवाह हो जाने के बाद, ब्राह्म-समाज में दलगत विरोध उपस्थित हो गया था। इसी समय में श्रीविजयकृष्ण और अन्यान्य नेताओं ने मिलकर साधारण ब्राह्म-समाज की स्थापना की।

इसके बाद गोसाईंजी पूर्वबंग जाकर प्रचारक के रूप में ब्राह्म-समाज का काम करने लगे। इसके साथ-साथ उनकी निजी साधना भी जारी थी। दिन भर का निर्धारित कार्य पूरा कर लेने के बाद वे अपनी गंभीर साधना में निमग्न हो जाया करते।

साधना के क्रम में एक के बाद दूसरी बाधा अक्सर उपस्थित होती रहती थी। किन्तु गोसाईंजी के समर्थ गुरु उनकी सहायता के लिए, वैसे संकट की घड़ियों में, प्रायः नित्य ही आविर्भूत हो जाया करते। अपने शिष्य को वे शनैः शनैः साधना के उच्चतर सोपान पर ले चलने के लिए सदैव तत्पर रहा करते थे।

एकबार यकायक गोसाईंजी के सर्वांग शरीर में असह्य ताप का अनुभव होने लगा। इस प्रदाह ने उनके अन्तर के रस को भी सोखना शुरू कर दिया था। एक दिन, उसी दाह-ज्वाला की अवधि में गोसाईंजी के गुरु परमहंसजी महाराज सहसा आविर्भूत हो गये। उन्होंने कहा : 'वत्स, तुम अब ज्वालामुखी पर चले जाओ। वहीं जाकर तपस्या करो। तभी यह देह-ताप दूर होगा।'

गुरु के निर्देश के अनुसार अनुष्ठान करने के बाद गोसाईंजी के शरीर का वह प्रदाह कुछ ही दिनों में मिट गया और उन्हें शान्ति मिली।

सद्गुरु की कृपा और अपनी कठोर तपस्या का फल इसके कुछ ही दिनों के बाद प्रकट होने लगा। साधक विजयकृष्ण के जीवन में दिव्य जीवन की ज्योति उद्भासित हो उठी। ढाका के गेण्डारिया आश्रम में वे जिन दिनों साधना-रत थे, उन्हीं दिनों उनकी कामना पूरी हुई और उन्हें भगवद्-दर्शन प्राप्त हुआ। उनके अंग-प्रत्यंग से दिव्य आभा फूट पड़ी। जो कोई उनके दर्शन के निमित्त आता, वह उनकी अपूर्व कान्ति को देखकर चकित हो जाता।

साधना के जीवन की पूर्णता के अनन्तर गोसाइंजी के आचार्य-रूप का आविर्भाव हुआ। परमहंसजी ने उन्हें अधिकारी सत्पात्रों को दीक्षा प्रदान करने की अनुमति दे दी थी।

गोस्वामीजी के दीक्षा-दान का एक वैशिष्ट्य निरपवाद रूप से लोक गोचर होता रहा। जब कभी कोई उनके पास दीक्षा प्राप्त करने की प्रार्थना के साथ उपस्थित होता, तो गोसाइंजी उस प्रसंग में नैपथ्य में विद्यमान अपने सद्गुरु से निवेदन करते। सद्गुरु की अनुमति प्राप्त हो जाने के बाद ही वे किसी दीक्षार्थी को नामजप या दीक्षा-बीज के द्वारा दीक्षित करते थे।

ब्राह्म-प्रचारक श्रीनगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ने गोसाइंजी के दीक्षा-दान-संबंधी अलौकिक अनुभव का वर्णन करते हुए एक मनोरम घटना का उल्लेख किया है। गोस्वामीजी उस दिन एकान्त में बैठकर नगेन्द्रनाथ को दीक्षा दे रहे थे। सहसा नगेन्द्र नाथ की दृष्टि में एक अद्भुत दृश्य उद्भासित हो उठा। उन्होंने देखा कि गोसाइंजी के पीछे एक दीर्घकाय श्वेत मूँछ दाढीवाले ज्योतिर्मय पुरुष खड़े हैं।

जब गोसाइंजी से नगेन्द्रनाथ ने अपना अनुभव बताया, तो बिहँसकर बोले : "आपने गुरुदेव परमहंसजी को ही देखा है। आप पर उनकी अपार कृपा न होती, तो आप उन्हें इस तरह देख नहीं पाते। प्रत्येक दीक्षा-दान के अवसर पर मेरे शरीर का अवलम्बन करके वे ही सारे कार्य संपन्न करते हैं। मैं तो निरा यंत्र हूँ : यंत्री वे स्वयं ही हैं।"

गोस्वामीजी के साधन-दान की रीति थी सरल और सहज-साध्य। उसमें प्रत्येक श्वास के साथ गुरु-प्रदत्त नाम का जप करना होता था। इसके साथ-साथ प्राणायाम की क्रिया भी रहा करती थी। इसके अतिरिक्त आहार-विहार, सदाचार और धर्म-निष्ठा के संबंध में कुछ निर्देशों का कठोरता-पूर्वक पालन करना भी आवश्यक था।

गोस्वामीजी के द्वारा दिये जानेवाले साधन के द्वारा किसी की स्वकीय धार्मिक निष्ठा में व्याघात नहीं पहुँचता था। तभी यह संभव हुआ कि विभिन्न धर्मों और संप्रदायों के अनेक मोक्षकामी साधक उनसे साधन और आश्रय पाकर कृतार्थ होते रहे।

दीक्षा के समय गोस्वामीजी के द्वारा शक्ति-संचारण की क्रिया से भक्तों का चकित-विस्मित होना प्रायः अवश्यंभावी हो जाता था। स्पर्श और मंत्रोच्चारण के साथ-साथ दीक्षार्थी भक्तों को अतीन्द्रिय साक्षात्कारों का अनुभव होने लगता और वे भावावेश में विभोर हो जाया करते।

दीक्षा-दान के प्रसंग में अनुरोध-उपरोध की बातों को गोसाईंजी कोई महत्त्व नहीं देते थे। एकबार उन्होंने अपने परिवार की एक नौकरानी को दीक्षा दे दी थी। ठीक उसी समय एक अभिजात परिवार के किसी सच्चरित्र युवक ने भी गोसाईंजी से आश्रय की प्रार्थना की। किंतु उसकी प्रार्थना गोसाईंजी के द्वारा स्वीकृत नहीं की गई। इस घटना को लेकर भक्तों की मण्डली में ऊहापोह होने लग गया।

जब उस प्रसंग के संबंध में गोसाईंजी से प्रश्न किया गया तो उन्होंने कहा: "देखोजी, यह दीक्षा, साधन, आदि पूर्णतः अहैतुकी वस्तु है। यह भगवान् की अकारण कृपा का दान है। वे जिसपर कृपा करते हैं, वही इसे पाता है। ऐसे लोगों की सूची भी उनके पास शायद पहले से ही तैयार है। इसका पता सद्‌गुरु के ही माध्यम से लगता रहता है। अनुरोध और प्रार्थना करने से इस संबंध में कुछ होता जाता नहीं है।"

महायोगी भोलानंद गिरि महाराज श्रीविजयकृष्ण का, साधक और आचार्य के रूप में, अत्यधिक सम्मान करते थे। एकबार कोई विशिष्ट बंगाली सज्जन गिरि महाराज के समक्ष साधन-प्रार्थी बनकर उपस्थित हुए। महाराजजी ने कहा: "अरे तुम मेरे पास क्यों चले आये? वहाँ तो आप ही आशुतोष मौजूद है। उनसे ले-लो।"

श्रीविजयकृष्ण को वे 'आशुतोष' के नाम से स्नेहपूर्वक पुकारते थे। सचमुच विजयकृष्ण आशुतोष ही थे क्योंकि वे अतिशीघ्र किसी पर कभी भी प्रसन्न हो जा सकते थे। इसलिए भी श्री भोलागिरि महाराज ने श्री विजयकृष्ण के देहावसान के पहले किसी बंगाली भक्त को दीक्षा देना स्वीकृत नहीं किया।

लोकनाथ ब्रह्मचारी और गोसाईंजी के बीच घनिष्ठ स्नेह-संबंध लगातार विद्यमान रहा। उस समय ब्रह्मचारीजी 'बारदी' नामक ग्राम में रहा करते थे। उनकी आयु उस समय पौने दो सौ साल से कम नहीं थी। शक्तिधर महापुरुष

का स्वभाव कठोर और उग्र था। मगर गोसाईंजी के प्रति उनके स्नेह की कोई सीमा न थी। श्रीविजयकृष्ण भी जब तक उनसे मिल नहीं लेते, तब तक उन्हें चैन नहीं। इन दो महापुरुषों का मिलन था गंगा-यमुना के प्रयाग-संगम की तरह। दोनों के रंग-ढ़ंग अलग-अलग होते हुए भी, उनके मिलने से दिव्य आनंद की अजस्र धारा प्रवाहित होती रहती थी।

स्वभावतः दुर्मुख और रुक्ष होने के बावजूद, ब्रह्मचारीजी जब गोस्वामीजी को देख लेते, तो उनके उल्लास का बाँध टूट जाता। एकबार गोसाईंजी उनसे मिलने गये, तो ब्रह्मचारीजी ने एक वैष्णव बंधु से परिहास करते हुए कहा : "सुनोजी, तुम्हारे गौरांग की मूर्त्ति है मिट्टी की अथवा पत्थर की। और, अब देख लो मेरे गौरांग को, जो सदेह जीवन्त होकर हमारे सामने विद्यमान हैं।"

सच तो यह है कि गोसाईंजी से परिचय के पहले श्री लोकनाथ ब्रह्मचारी को बहुत कम लोग जानते थे। विशेषतः शिक्षित समाज में और सो भी पूरे देश में, उनका परिचय लोगों को तभी मिला, जबकि वे गोसाईंजी के संपर्क में आ गये।

अब गोसाईंजी आध्यात्मिक जीवन के उस धरातल पर पहुँच चुके थे जहाँ कौम, मजहब और संप्रदायों के भेद समाप्त हो जाया करते हैं परमहंस जी का कथन अब सचमुच ही फलित हो गया था। साँप की कैंचुली की तरह, एक दिन, ब्राह्म-समाज का आवरण-भेद आप ही खिसक कर गिर पड़ा। १९०८ ई० में गोसाईंजी ने ब्राह्म-समाज का त्याग कर दिया। गेण्डारिया का आश्रम शिष्य-मण्डली के उत्साह और प्रयत्न से धीरे-धीरे जम गया था। गोसाईंजी के चारों तरफ दिव्य आनंद का वातावरण फैलने लग गया। प्रायः प्रत्येक दिन योग, तप और भजन के साथ-साथ शास्त्रपाठ, धर्मालोचन और नामकीर्त्तन का समारोह भी जुड़ने लग गया।

इसी बीच गोस्वामी श्रीविजयकृष्ण उत्तर बिहार के दरभंगा नामक शहर में अपने एक अन्तरंग से मिलने गये और वहीं उन्हें पेचिश ने घर दबाया। रोग ने इतना भयंकर रूप धारण कर लिया था कि बिछावन से उठना संभव नहीं रह गया। डाक्टरों की चिकित्सा से कोई फायदा नहीं हो रहा था। ऐसा स्पष्ट हो गया था कि गोसाईंजी अब कुछ ही दिनों के मेहमान हैं।

बन्धु-बान्धवों और भक्तों ने उम्मीद खो दी। ऐसे ही समय में, एक दिन, एक गौरवर्ण दीर्घकाय संन्यासी बाहर के बरामदे पर चुपचाप आकर बैठ गये। लोगों का मन इतना दुखी और चंचल था कि किसी का भी ध्यान उस वृद्ध

संन्यासी की ओर आकृष्ट नहीं हुआ। उसी दिन अपराह्न बेला गोसाईं जी की हालत यकायक सुधरने लग गई।

संकट टल गया और गोसाईं जी शीघ्र ही पूरे तौर पर स्वस्थ हो गये। इतना ही नहीं, उसी शाम को जब कीर्त्तन हो रहा था, तो गोसाईंजी ने तुमुल स्वर में योगदान देकर कीर्त्तन-मंडली में बैठे लोगों को एकबारगी चकित कर दिया। डाक्टरों और भक्तों के अवाक् आश्चर्य की कोई सीमा न थी।

बाद में गोसाईं जी ने भक्त-मंडली को स्वयं ही बता दिया : "तुम लोगों ने उस ओर ध्यान नहीं दिया। बरांदे पर अकेले-अकेले जो साधु गुमसुम होकर बैठे थे, वे ही तो थे मेरे गुरुदेव महाराज -परमहंसजी। आप उपस्थित होकर वे मृत्युयोग का निवारण कर गये हैं। मेरे पास आकर उन्होंने मुझे यह भी कह दिया कि अभी तुम्हें जीवित रखना, जन-कल्याण के लिए, आवश्यक है।"

संकट के समय शिष्यों की रक्षा करने और उन्हें आश्रय प्रदान करने के लिए गोसाईं जी सतत तत्पर रहा करते थे। एक बार उन्होंने महेन्द्रनाथ नामक अपने किसी शिष्य को किसी आवश्यक कार्य से ढाका से बाहर–कलकत्ता भेजा। महेन्द्रबाबू उसी कार्य के प्रसंग से कलकत्ते के बड़ा बाजार से होकर चले आ रहे थे। उन्हें जोरों की भूख लगी थी, किन्तु जेब में सिर्फ चार पैसे बच रहे थे। उन्होंने निश्चय किया कि आगे की दूकान पर वे उन पैसों से दूध खरीद कर पीलेंगे।

वे ऐसा सोच ही रहे थे कि उनके सामने भिक्षा के लिए हाथ फैलाकर एक साधु खड़े हो गये। अब क्या किया जाय? निदान साधु की फैली हथेली पर महेन्द्रबाबू ने उनमें से कुछ पैसे डाल दिये और दूध पीने का कार्यक्रम रद्द हो गया।

जब महेन्द्रनाथ ढाका वापस आये तो गोसाईं जी ने स्मितहास्य के साथ उनसे कहा : "उस दिन बड़ा बाजार में आपने उस साधु को जो पैसे दे दिये, सो अच्छा ही हुआ।"

महेन्द्रबाबू यह सुनकर चकित अवाक् हो गये। गोसाईं जी ढाका में बैठे-बैठे कलकत्ता बड़ा बाजार की इस मामूली-सी घटना का लेखाजोखा किस तरह लेते रहे? क्या गोसाईं जी सर्वज्ञ हैं?

बाद में गोसाईं जी ने उन्हें पूरी बात खोलकर बता दी। यदि दूकान का दूध खरीद कर महेन्द्रबाबू पी जाते तो उन्हें हैजा हो जाता। इस आसन्न संकट से उनकी रक्षा करने के लिए गोसाईं जी का निर्देश पाकर ही वह साधु उनसे

भीख माँगने ठीक समय पर पहुँच गये थे । इसी का परिणाम हुआ कि दूध की कीमत के पैसे पास में न रह जाने के कारण श्रीमहेन्द्रनाथ की प्राण-रक्षा संभव हो गई ।

सिद्धावस्था में आरूढ़ हो जाने के उपरान्त प्रभुपाद श्री विजयकृष्ण गोस्वामी के जीवन में और उनके आस-पास एक-से-बढ़कर-एक अद्‌भुत घटनाएँ घटित होने लग गईं । उनके शिष्य श्रीकुलदानन्द ब्रह्मचारी ने, प्रत्यक्षदर्शी होने के नाते उनमें से कुछ का वर्णन अपनी डायरी में दैनंदिन क्रम से कर दिया है । उन्होंने लिखा है—

"भोजन के उपरान्त दोपहर बेला में ठाकुर आमतला चले गये । महाभारत का कथा-श्रवण चल रहा था । कथा के दैनिक विश्राम के बाद लगभग दो बज गये । ठाकुर बोले : "देख रहे हो ना ? आज आम के पेड़ से मधु चू रहा है ।" मैं शिर झुकाये उनकी बातें सुन रहा था । अतः मेरी नजर आम के पेड़ पर पड़ी नहीं थी । मगर ज्यों ही ठाकुर ने ऐसा कहा, मैंने माथा उठाकर उस ओर आम के पेड़ों पर निगाह डाली । देखा कि सचमुच पेड़ से ओस की बूंदों की तरह लगातार कोई तरल चीज टपकती चली जा रही है । पेड़ के नीचे गिरे सूखे पत्ते ही नहीं, तुलसी के बिरबे भी पोर-पोर भींग गये हैं । मंदिर की पूर्वोत्तर दिशा में छोटी-छोटी बून्दों की चकमक छवि छा गई हैं और वहाँ सब कुछ नम हो गया है । चीटियों की चहल-पहल की कोई सीमा नहीं । पूरे पेड़ के पत्ते-पत्ते पर मधुमक्खियाँ भनभनाती फिर रही हैं । एक अद्‌भुत सुगंधि के मीठे आमोद से पूरा वातावरण भीना हो उठा है ।

"ठाकुर ने फिर कहा : "यह मधु क्या है, जानते हो ? अभी श्रीधर और अश्विनी का आगमन हुआ है; उन्हीं लोगों ने दो-तीन पत्तों को जीभ से चाट कर कहा है :—वाह, ये तो बड़े मीठे हैं, बिल्कुल शहद की तरह मीठे !

"इस वृत्तान्त पर हमलोगों को पूरा-पूरा यकीन नहीं हो पाया था । मैंने नीचे की झुकी डाली के दो-तीन पत्ते नोच कर गिरा दिये । ठाकुर चौंक कर सीत्कार कर उठे : उफ्, यह क्या कर रहे हो ? इस तरह कहीं पत्ते नोचे जाते हैं ?

"हाथ में दो पत्ते उठा कर मैंने देखा—बिल्कुल पगे हुए, भीनी तरलता से सराबोर थे वे पत्ते । चाटकर देखा तो खूब मधुर स्वाद था उनमें । आश्रम के दस-बारह व्यक्तियों को उनके टुकड़े तोड़-तोड़ कर मैंने दे दिये । सबने चखकर देखा । आम के पत्तों के वे टुकड़े सबको बिल्कुल शहद की तरह मीठे लगे ।

"मैंने ठाकुर से पूछा : "ग्राम के पेड़ में वस्तुतः मधु रहता है या नहीं ?" ठाकुर ने कहा : 'मधु ग्राम के पेड़ में क्यों रहेगा ? जिन वृक्षों के नीचे बहुत दिनों तक निष्ठापूर्वक यज्ञ-जाप, साधन-भजन, तपस्या, हवन ग्रादि का ग्रनुष्ठान किया जाता है ग्रथवा जिन वृक्षों के तले महात्माओं और महापुरुषों का ग्रासन लगता है, वे वृक्ष इसी तरह मधुमय हो जाया करते हैं। समय-समय पर ऐसे वृक्षों से मधु भी टपका करता है। खूब भक्ति से पूजा की जाय तो जल भी मधुमय हो जाता है। शान्तिपुर में एक बार गंगाजल में मधुमक्खी का कीट-कोश देख खुद मुझे भी बड़ा ग्रचरज हुग्रा था। जब चुल्लू में लेकर गंगाजल का पान किया तो उसका स्वाद मधु-जैसा ही मीठा लगा। उसमें शहद-जैसी खुशबू भी थी। मैंने कुछ पुराने पेड़, यहाँ तक कि नीम के ग्रौर इमली के पेड़ भी देखे हैं, जिनसे झरने की तरह शहद टपका करता था। एक बार तो कमण्डलु भरकर मैंने वैसा मधु-श्राव पिया भी था। बाद में ग्रनुसंधान करने पर पता चला कि उन सभी वृक्षों के तले कोई-न कोई महापुरुष—सिद्ध-पुरुष कभी-न-कभी, ग्रासन लगाकर, कुछ दिनों तक, ग्रवस्थित रह चुके थे।"

कुलदानंद ब्रह्मचारी की डायरी में गोसाईंजी के संबंध में एक दूसरा ग्रद्भुत वृत्तान्त ग्रौर भी ग्रनूठा है—

"कई दिनों से ठाकुर के शरीर में निरन्तर स्वेद की तरह बून्द-बून्द कुछ टपका करता है। जोर-जोर से पंखा झलने पर भी उसमें कमी नहीं होती। इसलिए संदेह हुग्रा कि शायद यह निरे पसीने की करामात नहीं है। फिर भी उस संबंध में ठाकुर से जिज्ञासा करने की हिम्मत नहीं होती है। भींगे तौलिए से ठाकुर खुद ही ग्रपने शरीर को रह-रहकर पोंछने लगते हैं। चूंकि ग्रपने हाथों पीठ पोंछना संभव नहीं होता, इसलिए वह काम मैं कर दिया करता हूँ। देह में खूब तेल मलकर नहा लेने के बाद शरीर की जैसी स्निग्ध कान्ति दिखाई पड़ती है, कई दिनों से, ठाकुर के शरीर की कान्ति ठीक वैसी ही दिख पड़ती है। मनुष्य के शरीर से पसीने की जगह पर शहद निकला करता है, ऐसा न तो किसी के मुँह से मैंने सुना था ग्रौर न ही किसी पुस्तक में ऐसी बात पढ़ी थी। ठाकुर में एक-से-एक ग्रद्भुत चीज देख रहा हूँ।

"कमल की छिड़की खुशबू के भीनेपन से पूरा घर-ग्राँगन महमहाता रहता है। भुनगे, तितलियाँ ग्रौर मधुमक्खियाँ घर में प्रवेश करती हैं ग्रौर ठाकुर के मस्तक पर परिक्रमाकार दो-चार बार घूम-मँड़रा कर बाहर चली जाती हैं। लगातार झलते रहनेवाले पंखे की हवा के झोंकों से डरकर उनमें हिम्मत नहीं होती कि वे ठाकुर के शरीर पर बैठ जायँ। ग्रसंख्य चींटियाँ, कभी-कभी,

कतार बाँधकर ठाकुर के आसन के चारों ओर चक्कर काटती हैं और कभी-कभी आसन पर भी चढ़ जाती हैं। उन्हें हटाने-झाड़ने के लिए हमें दिन-रात सतर्क रहना पड़ता है।

"ठाकुर सिर झुकाये, आँखें बंद किये, अचलवत् बैठे हैं। आँखों से लगातार आनंदाश्रु बहते चले जा रहे हैं, जिनसे वक्षस्थल ही नहीं, कौपीन तक भींग गया है। आसन, चादर और दूसरे कपड़े भी भींगते चले जा रहे हैं। ध्यानमग्नावस्था में ठाकुर का मस्तक प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के साथ धीरे-धीरे झुककर बाईं ओर के कंधे पर टिक गया है। इस अवस्था में वे ८-१० मिनट तक रहते हैं और तब फिर ठीक से सँभलकर बैठ जाते हैं। दोपहर के चार बजे तक बार-बार एकासन का यही क्रम चलता रहता है। इस बीच उनके शरीर की जो अद्भुत आभा उद्भासित होती रहती है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। ठाकुर की इसी असीम कृपा से मैं अपने को धन्य मानता हूँ कि मुझे पास रहकर यह देखने-सुनने का अवसर उन्होंने दे दिया है।"

उन दिनों कुलदानंद ब्रह्मचारी गोसाईं जी के ही कमरे में रहते-सोते थे। एक दिन रात के आखिरी पहर में एक भयंकर दृश्य देखकर वे चौंक पड़े। उस दिन की डायरी में उन्होंने लिखा है :

"मैंने देखा कि एक काला सर्प ठाकुर के बायें अंग से सरककर उनके मस्तक पर चढ़ गया है और थोड़ी देर तक फन काढ़कर वहीं कुण्डली मारे बैठा है। फिर धीरे-धीरे वह उनके दायें अंग से सरकता हुआ नीचे उतर गया। ठाकुर ने मुझे कहा—ये आसन से पैदा होनेवाले सर्प महाशय हैं। जब इन्हें सुविधा जान पड़ती है, तब आ विराजते हैं। जटा बनकर पहले माथे पर छा जाते हैं, फिर थोड़ी देर तक कपाल पर फन फैलाकर विराजते हैं और तब गायब हो जाया करते हैं।

"स्वाभाविक रूप से स्वर-नली में जो प्राणायाम आप-ही-आप चलता रहता है, उससे एक सुरीली ध्वनि निकलती रहती है। वह ध्वनि सुनना इस सर्प महोदय को बहुत अच्छा लगता है। घर में जहाँ-कहीं कोई साँप क्यों न हो, पर उसकी आवाज उसे दूर से ही सुनाई पड़ जाती है। उसी से वह आकृष्ट हो जाया करता है। उसी सुर को पकड़ने की खातिर, देह पर, अंगों पर और शिर पर चढ़ जाना उसके लिए जरूरी हो जाता है। नाक के पास ललाट पर फण काढ़कर बैठने से सर्पजी को वह प्राणायाम-स्वर सुनने में ज्यादा सुविधा होती है। बीच-बीच में उस स्वर के साथ अपनी सिसकारी मिलाकर इनको और अधिक प्रसन्नता होने लगती है। महादेव के शरीर और मस्तक पर जो

साँप रहा करते हैं, उसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं है। जब ठीक-ठीक साधना चलने लग जायगी, तो तुमलोगों के शरीर पर भी, इसी तरह साँप चढ़ जा सकता है। यह साँप किसी भी हालत में कोई अनिष्ट नहीं करता। इसका काम तो सहायता करना ही है। यह काटना तो जानता ही नहीं, केवल सीत्कार करके प्राणायाम पूरा हो जाने पर, चला जाता है।"

एकवार ढाका में शिष्यों के साथ गोसाईंजी ने वैष्णवों के प्रिय धूलट उत्सव का समारोह बड़े धूमधाम के साथ उद्यापित किया।

ब्राह्म-समाज के जंजाल से पिण्ड छुड़ा लेने के बाद गोसाईंजी के जीवन में भक्ति का प्रवाह मुक्त होकर अब उफान भरने लगा था। उसने समूची नगरी के लोक-जीवन को आनन्द से उद्वेलित कर दिया था। सैकड़ों मृदंगों और झांझों के तुमुल वाद्य-रव में हिंदोलित जन-समाज प्रभुपाद को चारों ओर से घेर कर गाता-बजाता घूम रहा है—

हरि गाओ मुखे सुखे चलो ब्रजधाम
कलि में तारक ब्रह्म यही हरि-नाम।
शिव पाँचों मुख से सदा जपते यही,
नारद की वीणा में भी यही पुण्य-गान।
एक वार करो गुरु-नाम-जय-घोष
राधा रानी आगे, पीछे-पीछे घनश्याम।

इस नाम-सुधा का पान कर सहस्र-सहस्र नर-नारियों का समुदाय उन्मत्त-प्राय हो गया। महाभाव की उन्माद यात्रा के रस में सब-के-सब झूमचूम हो रहे थे। विजयकृष्ण के उद्दाम नृत्य ने तो प्रेम-भक्ति का प्लावन जैसे एकबारगी उछाल दिया था। उनके भक्ति-विगलित अंग-प्रत्यंग में आठो सात्त्विक भाव मूर्त्तिमान् हो उठे थे। उस स्वर्गिक दृश्य को देखकर जनता अभिभूत हो गई। कीर्त्तन-उत्सव में निमग्न अनेक व्यक्तियों पर गोसाईंजी के अलौकिक शक्ति-संचार की कथा को ढाका की निवासी जनता दीर्घकाल पर्य्यन्त याद करती रही।

उसवार गोस्वामीजी काशी में ठहरे हुए थे। काशी की धर्म-सभा का वार्षिक अधिवेशन उन्हीं दिनों चल रहा था। सभा के प्रधान थे श्रीकृष्णानंद स्वामीजी। स्वामीजी ने श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी को निमन्त्रण-पत्र भजा तो कुछ लोगों ने व्यंग्य किया—"वे तो गृही संन्यासी हैं! गार्हस्थ्य की घर-गिरस्ती, सचमुच ही, बड़े कायदे से सँभाल लिया है, उन्होंने।"

अन्तर्यामी गोसाईंजी की दिव्य-दृष्टि से यह व्यंग्य-विनोद छिपा नहीं रह सका। वे दल-बल-सहित उस धर्म-सभा में जा पहुँचे। सभा के बाद कीर्त्तन शुरू हुआ, तो विजयकृष्ण का नृत्य-गीत और उद्दाम नृत्य के क्रम में प्रचण्ड भावान्दोलन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। परम भागवत पुरुष में अश्रु, कम्प, रोमाञ्च प्रभृति का सीमा रहित आवेग! भावदशा का अलौकिक विकास! देखकर सभी अवाक् हो गये। जो लोग व्यंग्य-विद्रूप करनेवाले थे, वे सभी लज्जा, ग्लानि और पश्चात्ताप में डूब गये और वारंवार महापुरुष से क्षमा माँगने लगे।

उन दिनों काशी के मठों और मन्दिरों में गोस्वामीजी विग्रह के दर्शन करने के निमित्त अक्सर निकल पड़ते थे। प्रवेश करने के साथ 'बम् भोला— बम् भोला' कहकर चारों ओर के वातावरण को कम्पायमान कर देना उनका स्वभाव बन गया था। आँखों के कोनों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लग जाती। बड़ा ही मर्मस्पर्शी दृश्य उपस्थित हो जाता। आरती समाप्त होने के साथ उनकी चरण-धूलि लेने के लिए भीड़ में हो-हल्ला मच जाता। ऐसी स्थिति में मंदिर की व्यवस्था की रक्षा करना सचमुच कठिन हो जाया करता था।

इसी समय, एकवार, गोसाईंजी की भेंट श्रीविशुद्धानंद सरस्वती से हो गई। गोसाईंजी ने बड़े आदर के साथ उनका सत्कार किया और देर तक दोनों के बीच शास्त्रालाप चलता रहा। इसके बाद विशुद्धानंदजी अनेक लोगों के साथ वार्त्तालाप के क्रम में कहा करते— "मैंने बहुतेरे साधुओं के दर्शन किये हैं, मगर इस बंगाली साधु-जैसा कोई दूसरा साधु मैंने कहीं नही देखा।"

उस समय काशी में भास्करानंदजी की योग-विभूति की बड़ी ख्याति थी। गोसाईंजी एक दिन शिष्यों के साथ उनसे मिलने गये। आश्रम में पहुँचने पर पता चला कि अभी स्वामीजी ध्यानमग्न रहा करते हैं, इसलिए इस समय मिलना नहीं हो सकेगा।

लेकिन बिना मिले गोस्वामी विजयकृष्ण भी टलने-वाले नहीं हैं। अपने शिष्यों के साथ वे आश्रम के बाहर एक वृक्ष के नीचे जम गये। थोड़ी ही देर बाद श्रीभास्करानंद का ध्यान टूट गया।

वाह्यज्ञान प्राप्त होने के साथ-साथ उन्होंने शिष्यों से कहा— "बगीचे में वृक्ष के नीचे एक शक्तिमान् महापुरुष बैठे हुए हैं। चलो, अभी तुरत हमलोग वहीं चलकर उनसे मिलें।"

दोनों जब एक-दूसरे से मिले, तो आनंद की धारा बह चली।

प्रसिद्ध साधक द्वारकादास से मिलने की साध प्रभुपाद श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी में बहुत दिनों से थी। वे दिन के समय काशी के ही एक जंगल में प्रवेश कर जाते और वहीं साधन-भजन में मग्न रहा करते। जब रात भींगती तब जंगल से बाहर निकलकर अपने स्थान पर वापस चले आते। उस दिन उनके आश्रम में गोसाईंजी पहुँचे, तो वे नहीं थे। नहीं मिल सकने के कारण गोसाईंजी अपना पता-ठिकाना लिखकर उनके आश्रम में छोड़ आये। दूसरे दिन लोगों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, जब सबने देखा कि द्वारका दास बाबाजी स्वयं ही श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी के आवास पर पहुँच गये हैं। बड़ी देर तक गोसाईंजी के साथ आदरपूर्वक बातचीत करने के बाद, बाबा वहाँ से वापस चले गये।

अपने गुरु परमहंसजी का निर्देश पाकर गोस्वामी श्री विजयकृष्ण कुछ दिनों तक वृन्दावन में जा रहे। गुरु ने उन्हें आशीर्वाद देकर कहा था : जाओ बच्चे, कुछ दिनों तक ब्रजभूमि में रहकर साधन-भजन कर आओ। वह स्थान बड़ा ही जाग्रत है। इस समय वहाँ रहोगे तो राधाकृष्ण की अलौकिक लीला का प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त कर सकोगे।"

प्रभुपाद विजयकृष्ण, मानो, परमहंसजी की ही एक अन्यतम असाधारण सृष्टि थे। शक्तिधर गुरु की ही कृपा से उनके जीवन में उद्‌गत हुई थी अलौकिक विभूतियाँ, और प्रवाहित हुआ था प्रेम-भक्ति का मधुर रस। उनके योग-सिद्ध शरीर को आधार बनाकर भक्ति का समुद्र उमड़ पड़ा था। असाधारण योग-विभूति और विरल प्रेम-भक्ति का वह मिलन केन्द्र वस्तुतः अद्‌भुत था।

शान्तिपुर के पास बावला में अद्वैत प्रभु गोराङ्ग का एक भजन-स्थान है। बचपन से ही श्री विजयकृष्ण वहाँ आते-जाते थे। धर्म-जीवन के उन्मेष के पश्चात् उस स्थान के प्रति उनका आकर्षण और ज्यादा बढ़ता चला गया। वे जब कभी शान्तिपुर में रहते, तो ध्यान, भजन, जप में कुछ समय, वहीं जाकर, व्यतीत कर लिया करते।

उस बार भी वे शिष्यों को साथ लेकर बावला पहुँचे। उन्होंने सबको बताया : "देखो, यहाँ का वातावरण अपूर्व है : जरा स्थिर होकर बैठ जाने पर और अन्तर्मुख हो जाने मात्र से पता लग जाया करता है।" कुलदानंद ब्रह्मचारी ने उस दिन का एक अद्‌भुत वृत्तान्त लिख छोड़ा है :—

"हमलोग स्थिर भाव से बैठकर नाम-स्मरण करने लगे। कोई आधा घंटा बाद शंखध्वनि के साथ महासंकीर्त्तन की गूँज धीरे-धीरे सुनाई पड़ने लगी

ग्रौर जान पड़ा कि वह आवाज दूर से क्रमशः निकटतर होती चली ग्रा रही है। मैंने समझा कि ग्रासपास के लोगों को पता चल गया है कि इस समय यहाँ ठाकुर ग्राये हुए हैं, उसलिए वे लोग संकीर्त्तन करते इसी तरफ को चले ग्रा रहे होंगे। हमलोग उत्साहपूर्वक नाम-स्मरण करने लगे। संकीर्त्तन का निनाद सुनकर हमारा चित्त नाच उठा था।

"दो-एक मिनट के बाद लगा कि संकीर्त्तन-मण्डली बिल्कुल करीब ग्रा गई है। हमारे बीच के कुछ लोग उठकर बाहर चले गये, ताकि संकीर्त्तन कारियों का साथ दे सकें। यह स्पष्ट हो गया था कि संकीर्त्तन करनेवाले लोग पास में पहुँच चुके हैं ग्रतः उनके साथ मिलकर नामकीर्त्तन करने के लिए हमें ग्रागे बढ़कर शामिल हो जाना चाहिए। भगवान का खेल ग्रद्भुत होता है। ठाकुर को वहीं छोड़ हमलोग ज्यों ही उस उद्देश्य से बाहर निकले, पास से ग्रानेवाली कीर्त्तन-ध्वनि दूर होती चली गई ग्रौर कुछ ही मिनटों में एकदम विलुप्त हो गई।

"लौटकर हमलोगों ने ग्रनुरोध-पूर्वक ठाकुर से पूछा—संकीर्त्तन का प्रचण्ड कोलाहल सुनकर हमलोग उसमें योगदान करने के लिए, मंदिर के प्रांगण से ज्यों ही बाहर निकले, त्यों ही, पता नहीं क्यों, क्षण भर में ही, ग्रचानक वह संकीर्त्तन-दल कहाँ जाकर लुप्त हो गया!

"ठाकुर बोले : 'बचपन में मैं बराबर ही बावला ग्राया करता था ग्रौर यही संकीर्त्तन उस समय भी, इसी तरह सुनाई पड़ता था। संकीर्त्तन करनेवालों की टोह में मैं दौड़कर कभी एक ग्रोर जाता ग्रौर कभी दूसरी ग्रोर। धीर भाव से बैठकर यदि नाम-स्मरण करते रहते तभी, उस कीर्त्तन में तुमलोग थोड़ी देर तक ग्रौर भी योगदान कर सकते थे। यह कीर्त्तन कोई साधारण कीर्त्तन नहीं था। तुमलोग बड़े भाग्यशाली हो, तभी तो महाप्रभु के मुख से संकीर्त्तन-ध्वनि सुन पाये।'

गोसाईंजी से सम्बन्धित एक दिन ग्रौर उसी स्थान पर एक ग्राश्चर्यजनक घटना घटित हुई। कुलानन्द ब्रह्मचारी की दैनिक विवरणी में उसका भी उल्लेख हुग्रा है।

"एक दिन चौदह मृदंगों के साथ, ग्रनेक लोगों को साथ लेकर संकीर्त्तन करते-करते 'ठाकुर' ग्रपने निवास से बावला को चल पड़े। घर का पालतू कुत्ता भी साथ लग गया।

"वह कुत्ता कोई साधारण कुत्ता नहीं था। मैंने सुन रखा था कि वह कुत्ता पूरे जीवन में न तो कभी जूठा खा सका ग्रौर न ही मांस चखना उसके लिए

कभी संभव हुआ। कुत्ते का नाम था—'केले'। वह प्रतिदिन श्यामसुन्दर के मन्दिर में परिक्रमा करता। जहाँ भी मृदंग-मँजीरे और झांझ की आवाज सुनता, वहीं जा पहुँचता। निविष्ट चित्त से, चुपचाप बैठकर वह संकीर्त्तन का श्रवण किया करता। कभी-कभी उसकी दोनों आँखों से लगातार आँसू बहने लग जाते। ठाकुर 'केले' को 'भक्तराज' कहकर पुकारते। 'केले' था कोई महापुरुष, जो किसी विशेष प्रयोजन ले इस लोक में आ गया था।

"उस दिन संकीर्त्तन से प्रसन्न होकर ठाकुर के पीछे-पीछे केले चल पड़ा। मगर गंगा की उपधारा को पार करते समय कुछ लोगों ने केले को खदेड़ कर वापस लौटा देने की चेष्टा की। केले जब निरुपाय हो गया, तब वह दौड़कर ठाकुर के पास चला गया और उनके पाँवों पर लोट-लोटकर बचाव की याचना करने लगा। ठाकुर ने लोगों से कहा कि केले की यात्रा में रुकावट नहीं डाली जाय।

थोड़ी ही देर बाद हरि-संकीर्त्तन-दल मंदिर के प्रांगण में दाखिल हो गया। सभी मत्त होकर भावाविष्ट अवस्था में झूम-झूम कर नाचने लगे। चारों तरफ दिव्य महासंकीर्त्तन में मृदंग और करताल की आवाज सुन सुनकर लोग बेसुध होने लगे। कोई-कोई संकीर्त्तन मण्डली को आस-पास में आगत मानकर उसमें सम्मिलित होने के निमित्त जिधर-तिधर को दौड़ पड़े। लेकिन वे उस प्रयास में मन्दिर से जितनी ही दूर जाते, संकीर्त्तन की ध्वनि, उन्हें, उतना ही कम होकर सुनाई पड़ती।

"किसी व्यवधान की गंध पाकर, उस समय 'केले' दौड़कर पंचवटी के पास पहुँचा और वहाँ की मिट्टी को पंजों से खोदने लगा। फिर दूसरे ही क्षण, वह दौड़कर ठाकुर के पास आया और जोर-जोर से भौंककर उनके वस्त्र खींचने लगा। मानो बलपूर्वक वह उनका ध्यान किसी खास चीज की ओर आकृष्ट करना चाहता हो।

"उसे इस तरह करते देख, ठाकुर उस स्थान पर 'केले' के साथ-साथ जा पहुँचे, जहाँ वह उन्हें लिवा जाने के लिए उतनी देर से मचल रहा था। जहाँ उसने चंगुल से मिट्टी खोदी थी, वहाँ की मिट्टी हटाने का आदेश भी ठाकुर ने दिया। पास के किसान के घर से दो कुदाल लाकर उस स्थान की मिट्टी खोदी जाने लगी। थोड़ी खुदाई कर लेने के बाद जब वहाँ कोई चीज नहीं मिली तो मिट्टी खोदने का काम बन्द कर दिया गया।

"अब भक्तराज" की आँखें छलछला उठीं। सतृष्ण नेत्रों से ठाकुर को ताककर, वह और भी जोर-जोर से चीत्कार करने लगा और अपने अगले पंजों के नखों से, उसी स्थान पर पुनर्वार जाकर, मिट्टी खोदता रहा।

"उसका यह हठ देखकर ठाकुर ने और भी ज्यादा गहराई तक मिट्टी खुदवाने का आदेश दिया। इसवार थोड़ी-सी खुदाई के ही बाद पीतल की एक बटलोई निकली। उसके भीतर अद्वैतप्रभु श्रीचैतन्यदेव की एक जोड़ी खड़ाऊँ थी, जिस पर गौरांग महाप्रभु का नाम अंकित था। काष्ठ-पादुका के साथ, मिट्टी की एक छुछिया तथा छोटे बक्से में बंद एक हस्तलिखित फटी-पुरानी पोथी भी रखी थी। इन वस्तुओं को देखकर सभी विस्मित अवाक् हो रहे। ठाकुर ने खड़ाऊँ को उठाकर मस्तक पर रख लिया और उल्लास के आवेग में नाचने लगे।

"अब फिर संकीर्त्तन का आरंभ हुआ।। ठाकुर भावावेश के मारे मूर्च्छित हो गये। जब वे होश में आये, तो देखा गया कि 'भक्तराज' 'केले' भी बेहोश पड़े हैं। ठाकुर उसके कान के पास झुककर नामोच्चार करने लगे। इसके बाद धीरे-धीरे वह होश में आया और तब उठकर खड़ा हो गया। ठाकुर ने उस भक्तराज कुत्ते को बाहों में भरकर छाती से लगा लिया और बोले: "जिस काम से तुम आये थे, आज वह काम पूरा हो गया। अब तुम गंगा-लाभ करो!" ऐसा कहकर उन्होंने उसे वारंवार आशीर्वाद दिया।

"पहर भर रात बीत जाने के बाद संकीर्त्तन करते-करते सबलोग घर लौटे। दूसरे दिन प्रातःकाल जब सबलोग गंगा-स्नान करने गये, तो देखा कि पोरसे भर पानी में, गंगा की धारा पर, 'केले' का मृत शरीर बहता चला जा रहा है। ठाकुर ने तभी, अपने हाथों गंगा के तट पर बालू खोदी और 'भक्तराज' केले की मृत देह को वहीं समाधिस्थ कर दिया।"

वृन्दावन पहुँचने के बाद गोस्वामी विजयकृष्ण का घनिष्ठ बन्धुभाव एक गौर किशोर दास के प्रति स्थापित हो गया था। दोनों ही एक साथ रहकर भगवान् कृष्ण के परम प्रेम-रस के महाभाव में आनंद-मग्न हो जाया करते।

वृन्दावन में गौड़ीय संप्रदाय के कई प्रभावशाली गोस्वामी उन दिनों गोसाईंजी के प्रति विरूप व्यवहार प्रदर्शित करते थे। कभी-कभी उनका अत्याचार सीमा का उल्लंघन कर जाता। एकवार तो गोस्वामियों के एक दुष्ट दल ने गोसाईंजी के माथे पर, पानी में घोलकर, दुर्गंधमय गोबर उलीच दिया था। गोसाईंजी ऐसे अत्याचारों को चुपचाप सह लेने के आदी हो चले

थे। पर उसी रात उन अत्याचारी दुष्ट गोसाइयों को स्वप्न में निर्देश मिला कि महापुरुष को अपमानित करने के पाप-फल से उनका विनष्ट हो जाना तभी रुकेगा यदि वे गंध-माल्य लेकर उनकी आराधना करें और अपने अपराधों के लिए उनसे माफी माँग लें। स्वप्न की बातों से दुष्ट गोस्वामी-दल भयभीत हो गया। दूसरे ही दिन पुष्प-माल्य लेकर वह दल गोसाईंजी की अभ्यर्थना में उपस्थित हुआ और उनसे क्षमा-प्रार्थना की।

एक दिन प्रभुपाद गोस्वामी श्रीविजयकृष्ण राधाबाग में बैठे-बैठे गंभीर ध्यान में निमग्न हो गये। ध्यानावस्था की उसी घड़ी में श्रीचैतन्य महाप्रभु की ज्योतिर्मय मूर्त्ति उनके सामने उपस्थित हुई। इस अलौकिक साक्षात्कार ने गोसाईंजी को दिव्य महाभाव के अजस्र प्रवाह में अभिभूत कर दिया। गोसाईंजी की सुधबुध जाती रही।

बाद में गोसाईंजी अक्सर कहा करते—वृन्दावन के वनांचल में बहुतेरे वैष्णव महापुरुषगण कृष्ण का रूप धारण करके निवास कर रहे हैं। वे अलौकिक लीला का साक्षात्कार करने के ही उद्देश्य से उस पुण्यक्षेत्र में चले आते हैं। अपने भक्तों और शिष्यों को गोसाईंजी ने यह भी बताया था कि वृन्दावन में अवस्थान करते समय ऐसे सभी वैष्णव महापुरुषों से उनकी अनेक बार भेंट हुई थी।

एक दिन गोसाईंजी अपने पार्श्वबंधुओं के साथ यमुना के किनारे निकल पड़े। सहसा तट की बालुकाराशि में एक मृत शरीर की हड्डी पर उनकी दृष्टि पड़ी। उस अस्थि-खण्ड को हाथ में उठाकर गोसाईंजी ने अपने सहचरों को कहा : "जरा ध्यान से देखो, इस पवित्र हाड़ में 'हरे कृष्ण' अंकित हो गया है। वृन्दावन के वैष्णवों की नाम-साधना का कैसा दिव्य प्रभाव है? निरंतर नाम-स्मरण करते रहने के कारण उनकी अस्थि और मज्जा तक में प्रभु का नाम, इस प्रकार, अंकित हो जाया करता है!"

एक बंगाली सज्जन इन्हीं दिनों वृन्दावन में घूमते-घामते पहुँच गये थे। गोसाईंजी के प्रति वे अत्यधिक श्रद्धालु थे। प्रभुपाद इन दिनों यहीं ठहरे हैं—ऐसा जानकर वे गोसाईंजी से मिलने उनके पास चले आये।

वार्त्तालाप के क्रम में उन्होंने कहा : "प्रभो, वृन्दावन के माहात्म्य की कथा केवल कान से ही सुनता रहा हूँ; कभी अनुभव नहीं हुआ। इस स्थान की कोई खास विशेषता जान नहीं सका।"

गोसाईंजी बोले : "आप इस तरह क्या बोलते चले जा रहे हैं? अरे, यह तो अलौकिक धाम है। ब्रजभूमि की तो धूलि के कण-कण में महिमा है।

एकबार नाम स्मरण करके आप इसकी धूलि में लोट जाइये ना । तब आप ही स्पष्ट हो जायगी इसकी महिमा ।"

आगन्तुक यह सुनते ही धूलि में लोटने लगे । इसके साथ ही आरंभ हो गया उनमें दिव्य भावोन्माद ! वे अधीर होकर रोने लग गये । दोनों ही नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बहती चली जा रही है और सर्वांग शरीर में वे व्रज की पवित्र धूलि मल रहे हैं । उस दिन बड़े यत्न से उन्हें चुपाया जा सका और उसके बाद, बड़ी कठिनाई से उनका होश-हवास ठिकाने पर लाया जा सका ।

इसी समय कुछ दिनों के लिए योगमाया देवी भी व्रजभूमि में निवास करने के हेतु पधारी थीं । गोसाईंजी इन दिनों व्रजभूमि में पत्नी के साथ तीर्थ-वास कर रहे हैं—यह जानकर वृन्दावन के बहुतेरे साधुओं को व्यंग्य-विद्रूप करने का नया अवसर प्राप्त हो गया ।

व्रजविदेही मोहान्त रामदास काठिया बाबाजी के कानों तक यह वृत्तान्त पहुँचा । बाबाजी महाराज श्रीविजयकृष्ण के मर्म को जानते थे । उन्होंने छींटाकसी करनेवालों को कड़ी डाँट पिलाई और बोले—'तुमलोग मुँह बन्द करो । वे महान् सामर्थ्यशाली महापुरुष हैं । तेजस्वी साधक बिल्कुल अग्नि-सरीखे हुआ करते हैं । उनके तेज में सब कुछ को जलाकर भस्म बना देने की शक्ति होती है । गृहस्थ होकर रहने पर भी, ऐसे साधुओं को कोई हानि नहीं होती ।

वृन्दावन में निवास करते समय गोसाईंजी की पत्नी योगमाया ने कहा था –"राधाकृष्ण की दिव्य लीलाओं का धाम है यह व्रजभूमि । मैं यहीं शरीर-त्याग करूँगी ।" और अन्ततः वैसा ही हुआ भी । कुछ ही दिनों बाद उस शुद्धात्मा साधिका ने वृन्दावन में रहकर ही नित्यलीला में प्रवेश किया । वहीं उनकी अन्त्येष्टि भी हुई ।

जिस किसी स्थान पर और जिस किसी समय में गोसाईंजी नाम-कीर्त्तन सुन लेते, उनका वाह्यज्ञान, वहीं और उसी समय, लुप्त हो जाया करता । उनका संपूर्ण अस्तित्व महाभाव की तरंगों में तत्क्षण ऊभचूभ होने लगता था । उस दिन वृंदावन में एक ऐसी ही अद्भुत घटना घटित हो गई ।

गोसाईंजी के निवास-स्थान के निकट होकर एक कीर्त्तन-दल गुजर रहा था । गोसाईंजी उस समय शौचालय में थे । शौचक्रिया समाप्त किये बिना ही आविष्ट दशा में वे उस संकीर्त्तन-दल में सम्मिलित होकर गान करने लगे । उनकी सुध-बुध जाती रही । जब नाम-कीर्त्तन समाप्ति के बाद वे निवास-स्थान पर वापस हुए, तब उन्हें अधूरी शौचक्रिया की बात याद आई । शौच

का काम तो हुआ ही नहीं; यह उन्हें क्या हो गया है ? वे देर तक इसी प्रश्न पर सोचते रहे। उनकी भक्ति और प्रेम के आवेश की और भगवन्नाम-रति की ऐसी प्रगाढ़ दशा, उन्हें स्वयं ही, वारंवार विस्मित कर दिया करती थी।

इस महान साधक की जिस आध्यात्मिक धरातल पर अवस्थिति थी, खण्ड-बुद्धि वहाँ पहुँच नहीं सकती। यही कारण था कि पाप-पुण्य, शौचाशौच के विभेद-बोध का प्रयोजन उनके लिए अर्थहीन हो गया था।

महर्षि देवेन्द्र नाथ और प्रभुपाद विजयकृष्ण के मिलन के कई समसामयिक प्रसंग, उन्हीं दिनों, बड़े ही मर्मस्पर्शी प्रमाणित हुए। उनमें से एक का वर्णन श्रीकुलदानंद ब्रह्मचारी ने अपनी डायरी में इस प्रकार किया है :

"दो बेंचों के बीच जाकर ठाकुरने महर्षि को नमस्कार किया; उनके दोनों पाँव अपने मस्तक पर रख लिए और फूट-फूटकर वे रो पड़े। वृद्ध महर्षि का गौर मुख-मण्डल लाल हो गया। अपने दोनों हाथ अपने वक्षःस्थल पर रखकर, महर्षि ने अपने थर-थर काँपते मस्तक को यत्नपूर्वक सँभालते हुए, गद्‌गद् स्वर में नमस्कारस्तुति पढ़ी :

'नमो ब्रह्मणे देवाय गोब्राह्मणहिताय च
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमोनमः।'

यही स्तुति वह वारंवार पढ़ते और रोमांचित हो जाते। दोनों कपोलों पर अविरल अश्रुधारा बहती चली जा रही थी। ठाकुर भी भावावेश से शिथिल होकर महर्षि के वाम पार्श्व में रखी हुई कुर्सी पर बैठ रहे। दोनों ही थोड़ी देर तक एकदम निस्तब्ध होकर बैठे रहे। हमसभी लोगों ने भूमि पर मस्तक टेककर महर्षि को प्रणाम किया और बगल की बेंचों पर चुपचाप बैठ गये। महर्षि के दाहिने पार्श्व की कुर्सी पर श्रीप्रियनाथ शास्त्री बैठे हुए थे। हमलोगों को देखकर महर्षि न उनसे कहा : 'इनलोगों को देखकर मुझे बड़ा आह्लाद हो रहा है ! ये लोग कौन है ?' शास्त्री महाशय महर्षि के कान के पास अपना मुख ले जाकर खूब जोर से बोले—ये सभी लोग गोसाईं के ही शिष्यगण हैं।

"महर्षि ने कहा : "मनुष्य को जब कोई उत्कृष्ट भोज्य पदार्थ मिलता है, तब वह उसे स्वयं ही नहीं खा जाता ; उसकी इच्छा होती है कि वह दूसरे लोगों को भी वह वस्तु बाँट-बाँटकर खूब खिला दे। ये भी, उसी तरह, जो आनन्द-भोग स्वयं कर रहे हैं, वह अपने शिष्यों को भी दिये चले जा रहे हैं। इसमें अणुमात्र भी, स्वार्थ की कोई बात नहीं है। केवल अपने शिष्यों के प्रति अपरिमेय कल्याण की आकांक्षा से ही ये ऐसा कर रहे हैं। ये धन्य हैं। सच-

मुच ही ये अपने शिष्यों के संतापहारक गुरु हैं। इन्हें देखकर प्राचीन ऋषियों के दर्शन-का-सा भाव जग जाता है।

"वे फिर कहने लगे : "भगवान को जिस तरह प्राप्त करना चाहता हूँ, उस तरह कर नहीं पाता। कभी-कभी वे कृपा करके दर्शन देते भी हैं, तो फिर तुरत बिजली की तरह कौंध कर छिप जाते हैं। जब तक उनके चिर-वांछित प्रेममय उज्ज्वल रूप के दर्शन नहीं पाता, तब तक उन्मत्त की तरह, अबूझ बेचैनी के दिन काट रहा हूँ। प्राण तड़पते रहते हैं। दिन किस तरह गुजरते हैं, यह उन्हें छोड़, और कोई नहीं जानता। वे दया करके यदि दर्शन न दें, तो मैं कर ही क्या सकता हूँ? ज्ञान के द्वारा तो उन्हें कभी और किसी तरह पाया नहीं जा सकता। ज्ञान तो एक बात की जगह दूसरी बात का निरा सिलसिला है। उन्हें पाने का एकमात्र यथार्थ उपाय तो प्रेममय भक्ति ही है। मगर वह तो प्रयत्न के द्वारा साध्य है नहीं। वह उन्हीं की कृपा से होती है। पुरुष-कार की—पुरुषार्थ के प्रयत्न की—उस प्रसंग में कोई सार्थकता नहीं। उनके चरणों का आश्रय ले लेना ही एक मात्र सार है। वे हमें अपने अश्वमेध यज्ञ के सफेद घोड़े के रूप में स्वीकृत कर लेने की बात स्वयं कह चुके हैं। उनकी इसी बात पर निर्भर रहकर, उनकी दया की हम प्रतीक्षा करते पड़े हैं।'

"ऐसा कहकर महर्षि बच्चे की तरह रोते-रोते अधीर हो उठे। ठाकुर उस समय 'जय गुरु, जय गुरु' कहते बैठे रहे। थोड़ी देर बाद आँख-मुँह पोंछकर महर्षि ने ठाकुर से कहा : "जिस क्षेत्र पर भगवान् की कृपा अवतीर्ण होती है, उसके आसार पहले से ही जाहिर होने लगते हैं। जन्म, सत्संग, शिक्षा और साधन—ये चारों एक साथ नहीं रहें, तो प्रकृत सत्य—सोलह आना धर्मलाभ, सम्भव नहीं होता। तुम में ये चारों ही बातें उपयुक्त रूप में साथ-साथ विद्यमान हैं। अद्वैत-प्रभु के विशुद्ध पुण्यमय वंश में तुम्हारा जन्म हुआ है; सद्‌गुरु का आश्रय भी तुम्हें मिल गया है; उनकी कृपा से तुम्हें अनुरूप शिक्षा और सदुपदेश की प्राप्ति भी हुई। इनके अतिरिक्त मनुष्य के द्वारा जो साधन-भजन सम्भव हैं; तुमने पूर्णतया उनका भी आचरण किया। सबसे बढ़कर तो है भगवान् की कृपा और वह भी तुम्हें यथेष्ट मात्रा में प्राप्त है। तुम धन्य हो।" ऐसा कहकर महर्षि ने एक श्लोक पढ़ा—

"कुलं कृतार्थं जननी कृतार्था, वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
नृत्यन्ति स्वर्गे पितरश्च तेषां, येषां कुले वैष्णवनामधेयः॥"

'तुम जो भी करते हो, जब जिस भाव में रहते हो, भगवान् उसे ही अति सुन्दर मानकर, स्वीकार्य ठहरा देते हैं।'

"ठाकुर बोले, "मुझे तो आपने ही हाथ पकड़ कर चलाना सिखलाया है। मुझे जो-कुछ मिला है वह आप से ही। आप ही हैं हमारे गुरु।...."

"ठाकुर की बात पूरी होने के पहले ही, महर्षि ने थोड़ा हँसकर कहा, "हाँ-हाँ, ठीक ही कहा तुमने, गुरु तो हूँ ही, वैसा ही गुरु, जैसे गुरु पाठशाला में हुआ करते हैं। जब क, ख, सीखना होता है, तो जैसे बच्चों को उस गुरुजी के पास जाना होता है, वैसे उन्हें तो नहीं जाना होता, जो विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा प्राप्त कर चुके होते हैं ? तुम्हारे द्वारा मुझे 'गुरु' कहना वैसा ही है, जैसा पाठशाला के उस गुरुजी का 'गुरु' कहा जाना।' ठाकुर यह सुनकर चुपचाप रह गये। इसके बाद महर्षि ने कितनी ही बातें, कितने ही वृत्तान्त कहकर ठाकुर की प्रशंसा की। ठाकुर ने चलते समय फिर महर्षि के चरणों को मस्तक पर धारण कर लिया और कहा : "मैं आपकी सन्तान हूँ, मुझे कृपया आशीर्वाद दें।"

"महर्षि ने अभिवादन करते हुए कहा : "मैं तुम्हें क्या आशीर्वाद दूँ ? मैं तो तुम्हारे प्रति श्रद्धाभाव रखता हूँ। तुम्हारी जय हो।"

"एक-एक करके हम सभी ने महर्षि को प्रणाम किया और चलने की तैयारी की। महर्षि ने अत्यन्त उल्लसित अन्तःकरण से हमलोगों को आशीर्वाद दिया और बोले—तुमलोगों का मंगल होगा; गोसाईं को तुमलोग कभी छोड़ना मत। ये तुममें से प्रत्येक को समस्त उन्नति के मार्ग पर लिये चलेंगे।

उस बार तीर्थराज में प्रयाग-कुम्भ-मेले का महासमारोह चल रहा था। गोस्वामी श्रीविजयकृष्ण भी अपने शिष्यों के साथ वहीं जा पहुँचे थे। वैष्णव साधुओं की मंडली के बीच तम्बू गाड़कर उनके आसन का स्थान बनाया गया। तम्बू के बीच में थी पूजा की वेदी। महाप्रभु चैतन्य और नित्यानन्द प्रभु के युगल-विग्रह की स्थापना कर वहीं नित्य-पूजा का अनुष्ठान होता था।

शिष्यों में से प्रत्येक को अलग-अलग कार्य-भार देकर गोसाईंजी ने कहा : "तुमलोगों के कार्यों का बँटवारा कर देने के बाद, अब मेरे कार्य-भार की बारी बच रही है। मेरा कार्य क्या होगा, जानते हो ?—भिक्षा ! भिक्षा माँगकर तुम सभीलोगों के भरण-पोषण की जिम्मेदारी मुझे पूरी करनी होगी।"

तम्बू में रुपये-पैसों की कोई जमा-पूँजी नहीं थी, पर प्रतिदिन सैकड़ों रुपयों का खर्च, किसी अभाव के कारण, कभी रुका हो, ऐसा नहीं देखा गया। आटा, चीनी, घी, भार भर-भर कर, आ जाया करता था।

मेले में आये हुए सौ-सौ अतिथियों को प्रतिदिन भोजन करा देने के बाद, गोस्वामीजी का चिर-आचरित दान-कार्य भी, उसके अलावे, अव्याहत गति से

चलता रहता था। उनकी अतिथि-वत्सलता की कहानी, उस अंचल में किंवदन्तियों का रूप धारण करके, फैलती जा रही थी।

विजयकृष्ण सद्‌गृहस्थ की हैसियत में रहकर ही जीवन-यापन कर रहे थे। वैष्णव होकर भी वे रुद्राक्ष धारण करते और गेरुआ वस्त्र पहनते थे। इतना ही नहीं, चैतन्य महाप्रभु और प्रभु नित्यानन्द की—गौर-निताई की—प्रतिमा की पूजा भी उनके खेमे में नियमित रूप से होती थी। ये बेमेल-सी लगनेवाली बातें, वैष्णव-मण्डली में, स्वभावतः, समालोचना का आधार बन सकती थीं।

विवाद की समस्या उपस्थित हो जाने पर, भोलागिरि महाराज, काठिया बाबाजी और अन्य महात्मागण निःसंकोच-भाव से गोसाईंजी के समर्थन में तत्पर रहा करते थे। उनके आध्यात्मिक जीवन के उत्कर्ष तथा साधन-शक्ति के माहात्म्य से शेष लोगों को परिचित करा देना उन्होंने अंगीकृत कर लिया था। वैष्णव साधुओं के बीच, उनके इस प्रयत्न के परिणाम-स्वरूप, स्वस्ति और शान्ति का वातावरण कायम हो गया।

उच्च कोटि के साधु-संन्यासीगण गोसाईंजी की आध्यात्मिक महिमा के रहस्य से अब तक अवगत हो चुके थे। मौनी बाबा, अमरेश्वरानंद पुरी, नरसिंहदास बाबाजी, गम्भीरनाथजी, दयालदास बाबा, अर्जुनदासबाबाजी प्रभृति महापुरुषगण गोसाईंजी के प्रति समादर और आत्मीयता भाव ज्ञापित किया करते थे।

एक दिन महात्मा अर्जुनदास आकर गोसाईंजी के तम्बू में बैठ गये। रंगिया बाबा नामक एक सिद्ध योगी भी उसी समय संयोग से वहीं आ पहुँचे। वे उपस्थित साधकों को योगक्रिया के संबंध में कुछ निगूढ़ तथ्यों के प्रसंग से अपनी जानकारी की बातें बताने लगे। थोड़ी देर तक उनकी बातों को चुप-चाप सुन लेने के बाद बाबा अर्जुनदास की सहन-शक्ति ने जवाब दे दिया। गोसाईंजी की ओर संकेत कर उन्होंने रंगिया बाबा को कहा : "अरे, देखते नहीं, वे ही तो साक्षात् योगिराज हैं। हर वक्त ये समाधि में ही रहते हैं। इनके सामने तुम क्या बताने लग गये ? "इस फटकार के बाद रंगिया बाबा की बोलती ही बन्द हो गई।

योगशक्ति के साथ भक्ति का और ऐश्वर्य के साथ दैन्य का एक विस्मयकर सामंजस्य गोसाईंजी में विद्यमान था। यह सुसंगत परिणति निश्चय ही असाधारण थी।

गोसाईंजी अपने इस योग-ऐश्वर्य का नितान्त स्वाभाविक भाव से वहन कर सके, यह कम आश्चर्यजनक बात नहीं। मगर उनकी यह योग सिद्धि

प्रकाशित होती थी, केवल दान के क्षेत्र में और कृपा के क्षेत्र में। हजार-हजार भक्तों ने उन्हें लोकगुरु के रूप में—प्रेम-भक्ति-समुज्ज्वल-भावमय रूप में—देखा। यही रूप, यही भाव लेकर बंगाल के आध्यात्मिक जीवन में उन्होंने प्रेम की जैसी धारा बहाई, चैतन्य महाप्रभु के युग के बाद, बहुत कम लोगों के द्वारा वैसा संभव हो पाया था।

बोलपुर के वकील श्रीहरिदास बसु आरंभिक जीवन में ब्राह्मसमाजी थे। बाद में वे श्रीविजयकृष्ण की कृपा पाकर कृतार्थ हुए। वार्त्तालाप के क्रम में हरिदास बाबू ने एक दिन कहा था, "अहा, हनुमानजी की भक्ति सचमुच अपूर्व थी। छाती चीड़कर इष्टदेवता राम-सीता की छवि उन्होंने देखी थी।"

भक्त की भावमय कथा के अन्यान्य वाक्यों को सुनलेने के बाद प्रभुपाद गोस्वामी श्री विजयकृष्ण ने थोड़ा बिहँसकर कहा : "क्योंजी, क्या अब भी छाती चीड़नी पड़ती है ?"

हरिदास बाबू सोचने लगे कि गुरुदेव के कथन का क्या तात्पर्य है। तभी घड़ी भर में एक अद्भुत चमत्कार घटित हो गया। उन्होंने देखा कि जहाँ गोस्वामीजी बैठे थे, वहाँ आप-ही-आप 'हरेकृष्ण' अंकित हो गया है। पहले तो वह केवल मंत्र के रूप में अंकित हुआ था, परन्तु बाद में वहीं राधाकृष्ण की युगलछवि भी दिखाई पड़ने लगी। यह अलौकिक दृश्य देखकर हरिदास बाबू को कुछ कहते नहीं बना।

उस बार गोस्वामीजी किसी अभूतपूर्व ध्यानावेश में अवस्थित रहकर वृन्दावन में निवास कर रहे थे। एक दिन प्रगाढ़ ध्यानावस्था में उन्हें आगामी युग के आसन्न परिवर्त्तन का इंगित मिला। उस दिन ध्यान-कुटीर का द्वार बंन्द हुआ, सो बंद ही रह गया। सेवकगण जब यत्न करके हार गये, तो भय-भीत होकर उन्होंने चीख-पुकार मचाई।

थोड़ी देर बाद गोसाईंजी ध्यान-कुटीर से बाहर निकल आये। उपस्थित लोगों को उन्होंने धीर-गम्भीर कण्ठस्वर से कहा : "हिमाचल के कई ऋषि आज कृपा करके आविर्भूत हुए थे। उन लोगों ने बताया है : "भारत की हालत जल्द ही बदलनेवाली है। आज धर्म-जीवन का जो ग्लानिकर रूप है, वह और भी अधिक ग्लानिकर हो जायगा। उसके बाद भगवान् स्वयं अवतीर्ण होंगे। तब मानव-जाति को फिर नये जीवन का रस—पुनरुज्जीवन प्राप्त होगा और नया युगान्तर उपस्थित होगा।"

उस दीर्घ साधना के बाद परम भागवत श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी को पुरी-मंदिर के दारु-ब्रह्म नीलाचलपति श्री जगन्नाथ देव ने एक दिन अपनी ओर

आकृष्ट कर लिया। अब उन्हें पुरी-धाम के लिए प्रस्थान करना ही होगा। इस सम्बन्ध में उन्हें अपने गुरु परमहंसजी से भी आदेश और सम्पर्क प्राप्त हो गया है। दीर्घकाल-व्यापी कृच्छ्रव्रत के परिणाम-स्वरूप उनकी सेहत टूट-सी गई है। यही कारण है कि उनके साथ अनेक शिष्यों और सेवकों को ले जाया जा रहा है।

यात्रा-काल में गोसाईंजी ने कहा : "तुमलोग अब मुझे प्रसन्न मन से विदा कर दो। अब मैं अपने प्राणों के नीलाचल-पथ का दर्शन करना चाहता हूँ। मुझे वह महाधाम प्राप्त हो जाय, इसके लिए ऐसी ही विदाई जरूरी है।"

कलकत्ता वाले डेरे पर एक मेहतर काम-काज करता रहा है। गोसाईंजी प्रेमावेश में विभोर होकर रोते-रोते उसे साष्टांग दण्डवत् कर रहे हैं। इसक बाद उससे अनुरोध करते हैं—"तुम मुझे आशीर्वाद दो कि मैं दारुब्रह्म की कृपा प्राप्त कर लूँ।"

नीलाचल पहुँच जाने के बाद, उनके आनन्द की कोई सीमा नहीं। वे तुरत जगन्नाथ-देव के मन्दिर के प्रांगण की तरफ दौड़ पड़े। प्रेम का क्षेत्र तरंगित हो उठा। स्वास्थ्य की दुर्बलता की पर्वाह किये बेगैर झूम-झूम कर कीर्त्तन करने लगे। शताब्दियों के बाद, एक बार फिर, गौड़ीय वैष्णवों की प्रेम-भक्ति के प्लावन में, पुरी धाम उतराने लगा।

गोसाईंजी एक वर्ष से अधिक समय तक पुरी-धाम में रहे। इतने ही समय में वे भक्तों के समाज के मध्य-केन्द्र बन गये। जटाजूट-समन्वित दिव्य-कान्तिधर महापुरुष श्री विजयकृष्ण गोस्वामी को उत्कल-निवासियों ने 'जटिया बाबा' के नये नाम से प्रसिद्ध कर दिया।

कौपीनधारी अकिंचन-व्रती जटिया बाबा के यौगेश्वर्य और दैनंदिन दान-अनुष्ठान की प्रसिद्धि चारों ओर फैलती ही चली गई।

महाधाम के मिलन-क्षेत्र में प्रभुपाद श्री विजयकृष्ण गोस्वामी अपने जीवन-नाथ के आमने-सामने शुभ-दृष्टि की प्रतीक्षा में खड़े हैं। जी-जान से वे लगे हैं दारुब्रह्म के नाना लीला-उत्सवों के विविध उद्यापनों में। चन्द्रयात्रा, रथयात्रा, पद्मवेश, दोलयात्रा—एक-के-बाद-एक उत्सव जारी हैं। प्रभुपाद के अन्तर में दिव्य आनन्द की मुरली रह-रह कर टेर दे रही है। जगन्नाथ देव की जी-जान से सेवा और दान-ध्यान का अव्याहत सिलसिला—इन्हीं दो मुख्य कार्यों के बीच उनका एक-एक क्षण व्यतीत हो रहा है।

उस दिन झूलन-पर्व का हिण्डोल-उत्सव रचाया गया था। मंच के ऊपर अधिष्ठित नील माधव की शोभा सचमुच अनिर्वचनीय हो उठी थी। प्रभु के नाम-कीर्त्तन और उद्दाम नृत्य में गोसाईंजी ने उस दिन प्रेम की बाढ़ बहा दी थी। नृत्य और कीर्त्तन में पुरीवासी भक्तगण बावले हो उठे। महाभावलीन गोसाईंजी के अंगों में स्वेद, रोमांच और कंपन तथा आँखों से अविरल अश्रुधारा देखकर उत्सवरत भक्तों ने आठो सात्त्विक भावों का साक्षात्कार कर लिया था। प्रभुपाद के मुखमण्डल से दिव्य आलोक उद्भासित हो रहा था। इस देवोपम छवि को देखकर, जगन्नाथ का छत्रधर पुजारी सुध-बुध भूल गया। वह गोस्वामीजी के शिर पर छत्र तानकर प्रेमाश्रुवर्षण करने लगा। चारों ओर स्वर्गीय भाव-रस उफनाने लगा।

इधर गोसाईंजी का शरीर शनैः शनैः छीजता चला जा रहा था। वे इतने कमजोर हो गये हैं कि समुद्र की ओर बहुत कम जा पाते हैं। किन्तु विस्मय की बात तो यह है कि उनका समुद्र-स्नान, फिर भी, प्रतिदिन चल रहा है! एक दिन जब वे ध्यानासन से उठे तो सेवकों ने देखा कि गोसाईंजी के जटा-जाल से टप-टप पानी चू रहा है। पूछने पर गोसाईंजी ने संक्षिप्त उत्तर दिया: "अरे, मैं समुद्र में स्नान करके जो आ रहा हूँ।"

भक्तगण आश्चर्य से उनका मुंह ताकते रहे क्योंकि सबको ज्ञात था, कि वे अब इतने अस्वस्थ हो चुके हैं कि घर से बाहर निकल नहीं पाते।

एक विशेष पुण्य-योग की घड़ीमें, उस दिन, गोसाईंजी जगन्नाथदेव के मंदिर में पधारे। श्रीविग्रह का दर्शन कर चुकने पर उनके अन्तर में एक अलौकिक स्फुरणा हुई। वे भावाविष्ट होकर कहने लगे: "देखो, जन-साधारण इस विग्रह को 'जगन्नाथ-बलराम-सुभद्रा' कहता है। मगर वास्तव में ये एक ही दारुब्रह्म के अखण्ड रूप हैं। सच्चिदानन्द ब्रह्म ही दारुरूप में त्रिमूर्त्ति होकर प्रकट होते हैं। ऐसा जो देखता है, उसे ही ब्रह्मदर्शन प्राप्त होता है।"

इस समय पुरीधाम के भक्त-समाज में गोसाईंजी की प्रतिष्ठा की सीमा नहीं। यह प्रतिष्ठा कुछ वैष्णव मठों के महन्तों को और स्थानीय प्रभाव-शाली व्यक्तियों को खलने भी लगी है। वे गोस्वामी विजयकृष्ण के प्राण-हरण की चेष्टा में लग गए हैं।

उस दिन अहले सुबह प्रभुपाद सांगोपांग होकर नीलमणि वर्मन् नामक एक भक्त के घर पर बैठे हैं। एक साधुवेशधारी व्यक्ति उनके सामने आकर खड़ा हो गया। उस व्यक्ति को न तो गोसाईंजी पहचानते थे और न ही उनके सेवक गण। उसके हाथ में था जगन्नाथ जी के प्रसाद का एक दोना।

आगन्तुक ने लड्डू का दोना गोसाईंजी के सामने झट से बढ़ा दिया और बोला : "बाबा पाने के साथ प्रसाद खा जाना ही चाहिए। यह लीजिये।"

सर्वज्ञ महापुरुष को उस लड्डू का अज्ञात रहस्य तत्क्षण ज्ञात हो गया था। वे उसी समय समझ गये कि लड्डू में प्राणघातक विष मिला हुआ है! वे यह भी समझ गए कि वह विष-मोदक मुहूर्त्त मात्र में उनके मर्त्य शरीर का अन्त कर देगा। क्या लीला-संवरण का समय आ गया? विधि-लिपि यही है? मगर सबसे बड़ी बात यह है कि यह प्रभु का महाप्रसाद बनकर आया है! वे किसी भी दशा में उसे अस्वीकृत नहीं कर सकते!

उस लड्डू को कण्ठगत करने के साथ ही वे धीरे-धीरे अचेत होने लगे। चिकित्सकों की चेष्टा से यदि वे होश में आये भी, तो विध्वस्त शरीर ने साथ देने से साफ इन्कार कर दिया। वे हिल-डोल पाने की स्थिति में भी न थे! एक मास तक रोग-भोग करने के बाद, नित्य-लीला-प्रवेश का निर्धारित मुहूर्त्त आन पहुँचा। १३०६ साल के २२ ज्येष्ठ की रात्रि में भक्तों को अपने आश्रयदाता से बिछुड़ जाने की मर्मान्तक पीड़ा का सामना करना ही पड़ा।

भारतवर्ष के अध्यात्म-गगन का एक महाज्योति मंडल उसी के साथ, सदा के लिए, ओझल हो गया!